ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रंथमाला, हिन्दी ग्रथांक—२२

खण्डहरोंका वैभव

श्री मुनि कान्तिसागर

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

समर्पण

विविधवाङ्मयोपासक शासन-प्रभावक,
प्रात स्मरणीय परमपूज्य, पुण्यमूर्ति,
उपाध्यायपदविभूषित गुरुवर्य्य
१००८ मुनि श्री सुखसागरजी
महाराजके कर कमलोम
सादर समर्पित ।

गरु चरणोपासक
मुनि कान्तिसागर

विषय-सूची

१. जैन-पुरातत्त्व—पृ० १

२. मध्यप्रदेशके जैन पुरातत्त्व—पृ० ११३

३. महाकोसलका जैन पुरातत्त्व—पृ० १५७

४. प्रयाग संग्रहालयकी जैन-मूर्तियाँ—पृ० १८५

८. महाकोसलकी कतिपय हिन्दू-मूर्तियाँ—पृ० ३६३

९. महाकोसलकी कलाकृतियाँ (चार पगड़ियाँ)—पृ० ३८९

१०. श्रमण संस्कृति और सौन्दर्य—पृ० ३९७

वैभवकी झांकी

- टूटे-फूटे खडहर भी सम्पदा और वैभव है, इस बातको हमने जितनी बार सुना है, उतनी बार समझा नही। समझा इसलिए नही कि बिना समझे काम चल रहा है। देशके सामने और कितने ही बडे काम है। व्यक्तिके सामने और कितनी ही जिम्मेदारियाँ है। पंचवर्षीय योजनाओके द्वारा हम नये निर्माणका स्वप्न देख रहे है—वह निर्माण जो हमारे देशके ३५ करोड़ आदमियोको खाना देगा, कपडा देगा, नये मकान देगा। जीवनका स्तर ऊँचा होगा। लोगोंको सुख-सुविधा मिलेगी। राष्ट्रके पास सम्पत्ति होगी। हमारी राष्ट्रिय शक्तिका विस्तार होगा और निश्चय रूपसे हमारी धाक मानेगे—अमरीका, ब्रिटेन, रूस, चीन । वैभवकी इस परिभाषा और इस रूपके सामने खडहरोकी बात सोचना, या न सोचने पर आश्चर्य करना ही आश्चर्य है।

लेकिन, श्री मुनि कान्तिसागरजी जैसे धनी और स्वप्न द्रष्टा भी हमारे बीचमे है जो 'वैभव'के दूसरे गरिमावान रूपको दिखानेके लिए हमे खडहरो-के बीच ले जानेपर कटिबद्ध है। खडहरोका वैभव हमारा सास्कृतिक वैभव है। यह हमारा ऐसा उत्तराधिकार है, जिसका मूल्य सोने-चादीसे नही आका जा सकता। यह मूल्य जीवनके आर्थिक स्तरका मूल्य नही है, यह है जीवनके आदर्शोका मूल्य। नि सन्देह, हमारी पचवर्षीय योजनाये अपनी जगह आवश्यक है, किन्तु इन योजनाओको बनानेवाले व्यक्तियोने ही राज्यचिह्नके लिए धर्मचक्रकी और राज्य-प्रेरणाके लिए 'सत्यमेव जयते' की प्रतिष्ठा की है। जो धर्मचक्र राज्यकी पताकापर अकित है और जो शब्दावलि राज्यकी मोहरको आदृत करती है, वह यदि 'वैभव'का मूर्त रूप नही तो और क्या हो सकता है?

खेद इसी बातका है कि जहाँ अर्थ और आर्थिक योजनाये हमारे राष्ट्रके जीवनको रात-दिन उलझाये रहती है, वहाँ धर्मचक्र और 'सत्यमेव जयते' केवल देखनेकी चीज रह गये है। उनका अर्थ हमारे मनको वर्षोंमे एक बार भी नही छूता।

यह धर्मचक्र और यह राज्य-मत्र हमें जिन खडहरोसे प्राप्त हुए हैं, उन-जैसे खडहरोके वैभवकी कथा ही श्री मुनि कान्तिसागरजी सुनाने चले हैं। वे श्वेताम्बर साधु है। पैदल ही चलते है। सयमकी साधना जीवन-का लक्ष्य है। उपदेश देना जीवनका कर्तव्य है। हमारे बहुतसे साधुओंकी भाति वह भी उपदेश देते रहते और आत्मकल्याणके लिए ज्ञानकी साधना करते रहते, पर यह उनकी सूझ है कि उन्होंने अपनी साधनाका क्षेत्र आधु-निक सजे-सजाये मदिरोंकी अपेक्षा खडहरोंको अधिक बनाया। पुरातत्वके विद्यार्थीमे जो लगन, कला-मर्मज्ञता, ऐतिहासिक ज्ञानकी पृष्ठभूमि और वैज्ञानिक दृष्टि होनी चाहिए, वह भी सब श्री मुनि कान्तिसागरजीमे है। 'खडहरोका वैभव' इस बातका प्रमाण है। सबसे बडी बात यह कि वैज्ञा-निककी दृष्टिके साथ उनमें कवि और कलाकारका हृदय है जो उन्हे खड-हरोंकी सौदर्य-सृष्टिमे इतना तल्लीन कर देता है कि वह घटो खोये-खोये-से रहते है। वे लिखते है :

"मै स्वय किसी प्राचीन खडहरमे जाता हूँ तो मुझे वहाँके एक-एक कणमे आनंदरसकी धारा बहती दीखती है और उस समय मेरी विचार-धाराका वेग इतना बढ जाता है कि उसे लिपि द्वारा नही बाँधा जा सकता। खडित प्रतिमाका अश घटो तक दृष्टिको हटने नही देता"....

"सचमुच पत्थरोंकी दुनिया भी अजीब है, जहाँ कलाकार वाणी-विहीन जीवन-यापन करनेवालोंके साथ एकाकार हो जाता है"

"मेरा विश्वास रहा है कि कलाकार खडहरमे प्रवेश करता है, तब वहाँका एक-एक पत्थर उससे बाते करनेको मानो लालायित रहता है, ऐसा आभास होता है। कलाकार अवशेषोको सहानुभूतिपूर्वक अतरमनसे

देखता है, पर्यवेक्षण करता है, उनमे एकाकार होनेकी चेष्टा करता है, तभी तो वह टूटे-फूटे पत्थरके टुकड़ोंमे बिखरे हुए सस्कृति और सभ्यताके बीजोंको एकत्र कर उनका नवीन सामयिक स्फूर्तिदायक संस्करण तैयार करता है।"

'खडहरोके वैभव'मे लेखककी अनेक वर्षोकी कठिन पुरातत्व-साधना १० लेखोके रूपमें प्रतिफलित हुई है। इसमें ३ लेख मध्यप्रदेशके जैन, बोद्ध और हिंदू पुरातत्त्वसे सम्बधित हैं और ३ लेख महाकोसलके पुरातत्व-से। २ लेखोमे प्रयाग-सग्रहालय तथा विंध्यभूमिकी जैनमूर्तियोका दिग्दर्शन है। शेष २ निबध है—जैन-पुरातत्व तथा श्रमण सस्कृति और सौदर्य। ये इतने सुंदर और उपादेय है कि पुरातत्वका कलापक्ष एव दर्शन पक्ष ऐतिहासिक पृष्ठभूमिके साथ बुद्धिगम्य हो जाता है।

'खडहरोका वैभव' पढकर भारतीय पुरातत्वकी गरिमा तथा सौदर्य-की छापके उपरात जो दो भावनाये प्रबल रूपसे जागृत होती है वे है ·

१ भारतीय पुरातत्वकी विविधतामयी विकासशृखला और

२ इस पुरातत्वके प्रति देशकी हृदयहीन उपेक्षा।

इन दोनो बातोको सार रूपमे समझ लेना आवश्यक है क्योकि पुरा-तत्वके यही दो पहलू है जो हमारे जीवनको छूते है और जिनके विषयमे हमारा दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाना चाहिए।

जैन, बौद्ध, हिंदू-मदिरोमे आज स्थापत्य, मूर्तितक्षण और पूजा-विधान आदिकी एक परिपाटी बन गई है, जिसे बहुत-सी जगह आँख बदकर, 'शास्त्रों'के आधारपर व्यवहारमे लाया जा रहा है। हममे-से बहुतोको इस विधानमे परिवर्तन करनेकी न कलात्मक क्षमता है न बौद्धिक सूझ। फिर भी यदि आज कोई मंदिरकी बनावटके सम्बन्धमे, मूर्तिके परिकरकी कल्पनामे या पूजाके विधानमें परिवर्तनकी बात सोचे अथवा अपनी मान्यता-को नया रूप दे तो वह 'अधार्मिक' तक कहा जा सकता है। आग्रह बडे दृढ है। हमारी कट्टरतामे हेरफेरकी गुंजाइश नही। हम पूजा खडे होकर

करें या बैठकर, फूल चढ़ाये या अक्षत, पूजाके द्रव्योंका क्रम इस रूपमें हो या उस रूपमें आदि साधारण प्रश्नोंमें भी विधि और विधानकी मौजूदा परिपाटी अपरिवर्तनशील है। हम बहुत कम यह सोचते हैं कि पूजाकी विधिकी तो बात ही क्या, हमारे मंदिरोंकी बनावट और मूर्तियोंकी गढ़नमें परिवर्तन होता रहा है। फिर भी उनकी पूज्यता कम नहीं हुई। उदाहरणके लिए 'खंडहरोंका वैभव'में हमें निम्नलिखित तथ्य मिलते हैं जो स्थापत्य और मूर्तिकलाकी विविधता या विकासकी ओर संकेत करते हैं :—

१. **मूर्तिशिल्प**—दक्षिणका मूर्तिशिल्प उत्तरसे भिन्न है। एक युगकी कला दूसरे युगकी कलासे भिन्न है। कहीं-कहीं प्रान्तीयता भी मूर्तियोंके आकारमें परिलक्षित होती है।

२. **प्रभामंडल**—मूर्तियोंके पीछे जो प्रभामंडल या भामंडल बनाया जाता है, उसका क्रमिक विकास हुआ है। कुषाणकालीन प्रभामंडल सादा था, गुप्तकालीन अलंकृत और गुप्तोत्तरकालीन प्रभामंडल तो अलंकार उपकरणोंसे इतना अधिक भर दिया गया था कि मूल मूर्ति गौण हो गई और प्रभामंडलकी सज्जा मुख्य।

३. **परिकर**—मूर्तियोंके चारों ओर शिलापट्टपर जो अन्य मूर्तियाँ या अलंकरण खुदे गये वह २-३ शताब्दियोंके बाद बदलने गये। कालान्तरमें इन परिकरोंमें प्रातिहार्यके साथ-साथ श्रावकोंकी मूर्तियाँ भी शामिल होने लगीं।

४. **लक्षण**—भिन्न-भिन्न तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंकी पहचान भिन्न-भिन्न लक्षणोंसे है, पर लक्षणका भेद बादकी चीज है। अनेक प्राचीन मूर्तियोंमें यह भेद नहीं है।

५. कई प्राचीन जैन-मूर्तियोंमें सिरपरसे खुले बाल कंधोंपर लटकते दिखाये गये हैं। यह मूर्तियाँ जैनधर्मके आदि तीर्थंकर ऋषभनाथकी हैं और कहीं-कहीं यह चतुर्मुष्टिकेशलोंचका रूपक है।

६. अम्बिकाका प्रचलित रूप यह है कि वह आमके वृक्षके निचले भागमें सिंहासनपर बैठी है, साथमें दो बालक है। पर इस रूपमें कही-कही भिन्नता भी मिलती है। इससे भी बडी बात यह कि यद्यपि अम्बिका भगवान् नेमिनाथकी अधिष्ठातृ देवी है फिर भी कही-कही यह ऋषभ-नाथकी मूर्तिके साथ सम्मिलित है।

७ मुनियो और गृहस्थोकी भी मूर्तियाँ बनाई गई है, यद्यपि गृहस्थोंकी मूर्तियाँ उपास्यके रूपमे न होकर उपासकके रूपमे है।

८ मुगलकालीन मदिरोके अग्रभागमे कही-कही मीनार भी पाया जाता है, जो मानस्तम्भकी शैलीसे भिन्न है। इसी प्रकार आरबी (मध्य-प्रदेश)मे एक मदिर है, जिसमे जैनमूर्तिके साथ तकिया बना हुआ है। ऐसी मूर्ति और कही नहीं है। रायपुर (मध्यप्रदेश)मे एक ऐसा जैनमदिर है जिसके शिखरपर भोगासन अंकित है। भेड़ाघाट (मध्यप्रदेश)मे गणेशकी एक ऐसी मूर्ति है जो स्त्रीके रूपमे है, आदि आदि।

भारतीय स्थापत्य और मूर्तिकलाके क्रमिक विकास अथवा तत्सबधी तथ्योका ज्ञान न होनेसे जहा जनसाधारणके पूर्वाग्रह ढीले नही पडते, वहाँ बौद्धिक तटस्थता रखनेवाले विद्वान् भी निष्कर्षोमे भूल कर बैठते है। इस पुस्तकमे इस प्रकारकी कई भूलोका निराकरण किया गया है। उदाहरणके लिए, पुरातत्व अनुसन्धानके प्रारम्भिक दिनोंमे सर एलैक्जेंडर कनिंघम (जिनके श्रम और साधनाके लिए भारत चिरऋणी रहेगा)ने बहुत-से जैन-स्तूपोको बौद्ध-स्तूप घोषित किया, क्योंकि उनकी धारणा थी कि जैन-शिल्पकलामे स्तूपोका चलन नहीं है। लगभग १० वर्ष बाद सन् १८९७मे जब बुल्हरने मथुराके जैन-स्तूपोके सम्बन्धमे लेख लिखा और अपनी मान्यताये प्रगट की, तब विद्वानोका विचार बदला। फिर भी कनिंघम अपनी २४ जिल्दोमे जहा कही जैन-स्तूपोको बौद्ध स्तूप लिख गये, अनेक विद्वान् आज भी उसीके आधारपर उद्धरण करते रहते है। पुरातत्वके

एक दूसरे विद्वान् फ़र्गुसनने घोषित किया था कि जैनोंने गुफायें नहीं बनाई —इस बातका भी कठिनतासे निराकरण हुआ। आज अनेक जैन गुफायें, जैसे उदयगिरि—खडगिरि (उडीसा), उदयगिरि (भेलसा, मध्य भारत) जोगीमारा (मध्यप्रदेश—सरगुजा) ढंकगिरि (सौराष्ट्र—शत्रुंजयके पास) इलोरा (हैदराबाद) एहोल (बादामी ताल्लुका) चाँदवड़ (नासिक) सित्तन्नवासल (पडुक्कोटा) आदिकी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। अनेक वर्तमान लेखकोंको जैन-मूर्तियोंके लक्षण, चिह्न और परिकरोंका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण भ्रामक मान्यताओंके उल्लेखका दोषी होना पडता है। लाहौरसे प्रकाशित, श्री भट्टाचार्य लिखित जैन आइकोनोग्राफीमें ऋषभनाथका चित्र दो बार छापा है और बैलका चिह्न होते हुए भी मूर्तिको महावीरकी मूर्ति लिखा है। प्रयाग सग्रहालयके विवरणोंमें पार्श्वके यक्षको गणपति मानकर लिखा है कि जैनियोंमें गणेशकी पूजा होती है। त्रिपुरीमें (मध्यप्रदेश) एक मूर्तिके परिकरमें दो युगल मूर्तियोंको देखकर एक विद्वानने लिखा है कि यह अशोककी सन्तान संघमित्रा और महेन्द्रकी मूर्तियाँ है, जब कि मूल मूर्ति नेमिनाथकी है, जैसा कि शंख चिह्नसे लक्षित है। वास्तवमें परिकरकी मूर्तियाँ अम्बिका और गोमेध यक्षकी है।

दूसरी बात जिसकी ओर मैंने प्रस्तावनाके प्रारम्भमें संकेत किया है, वह है हमारे पुरातत्वों और कलाकृतियोंकी हृदयहीन उपेक्षा। 'खण्डहरोंके वैभव'में लेखकने विशेषकर मध्यप्रदेशके पुरातत्वोंका ही वर्णन किया है, जिन्हें उसने अपने पैदल भ्रमणमें स्वयं देखा है। किंतु इतने सीमित प्रदेशकी यात्रामें प्राय पग-पगपर उसने इस 'वैभव'की जो दुर्गति देखी, उसे पढकर हृदय विकल हो उठता है। देखिये कितने भयानक हैं यह चित्र :—

१ यह **पौनार** है, (पवनार=प्रवरपुर–वर्धाके पास) महाराज प्रवरसेनका बसाया हुआ जो किसी समय मध्यप्रदेशकी राजधानी

रहा होगा। पुराने इतिहासको छोडिये। यह पौनार है जहा आचार्य विनोबा भावेने महात्मा गाधीके आदेशानुसार पहली बार व्यक्तिगत सत्याग्रहको क्रियात्मक रूप दिया था। इस पौनारमे लेखकने १९४३में १४वी शताब्दीका एक शिलालेख पढा था जो विशेष ऐतिहासिक महत्वका था और जो इतिहासकी किसी गुत्थीको सुलझानेमे सहायक हो सकता था। उस समय जिस व्यक्तिके पास वह लेख था, उसने किसी तरह भी वह नही दिया। १९५१मे लेखक जब पुनः गये तो मालूम हुआ वह लेख किसी मकानकी दीवारमें पत्थरकी जगह लग गया है। इतिहासके अक्षर लोप हो गये!!

२ यह **केलझर** है, पौनारसे १० मील दूर। यहा कई स्तम्भ है। और यह एक खडित-सा स्तम्भ है जिसपर अखण्डित समवशरण चित्रित है—इतना सुन्दर और भव्य कि लेखकने आजतक ऐसा समवशरण खुदा हुआ नही देखा। इस स्तम्भपर जिस किसानका दावा है, वह रोज ढेरके ढेर कडे इसपर सुखाता है। यहाँ इतिहासकी लिपिपर गोबरकी कलाका लेप हो रहा है। क्षितिजपर लोप उग रहा है!

३. यह **नागरा** है, भंडारा जिलेमे। १९४२मे लेखक वहाँ गए तो एक मूर्तिपर १५ पंक्तियोका लेख मिला, जिसके ऐतिहासिक महत्वसे प्रभावित होकर उन्होने इसे नकल कर लिया। मूर्तिकी व्यवस्था ठीक न हो सकी, क्योंकि वह मूर्ति किसानोके लिए बड़े कामकी थी। वह उसपर औज़ार तेज़ करते थे। सन् १९५१की यात्रामें पाया कि वह मूर्ति किसी महंतकी समाधिमें खण्ड-खण्ड होकर

काम आ गई। इतिहासकी आत्मा शस्त्रोंकी धारपर समाधिमे विलीन हो गई। अब केवल इतिहासका भूत मुनिजीके कागजमे चिपटा बैठा है!

४. यह **पद्मपुर** है, गोंदिया तहसीलमे—महाकवि भवभूतिकी जन्म-भूमि! यहाँ खेत-खेतमे जैन-मूर्तिया मिलती है। इतिहास खेतोमे बो दिया गया है। ध्वसकी फसल लहलहा रही है!

५. यह **डोंगरगढ़** है—सचमुच दुर्गमगढ! यहाँकी मूर्तियाँ उपकरणोंके लालित्यके कारण बडी सुंदर और अद्वितीय है। सतोषकी बात हो सकती थी कि यहाँ इन मूर्तियोंकी पूजा होती है। पर लज्जाकी बात है कि अहिंसाके अवतार, जैन-तीर्थकरकी मूर्तिके आगे पूजाके दिनोमे आज भी बकरीका बच्चा जीवित गाडा जाता है। यहाँ इतिहास पुजता है!

६. यह **जसो** है, विन्ध्यप्रदेशकी प्रसिद्ध पुरातत्वभूमि। इसकी मुख्यता यह है कि इसे 'जैन-मूर्तिका नगर' कहा जाता है। बडे कामकी है ये मूर्तियाँ। इन मूर्तियोंकी बडी सुन्दर सीढ़ियाँ बनती है। और वह देखिए, तालाबपर हर धोबीका हर पाट चिकना-चिकना, मजबूत-मजबूत इन्ही मूर्तियोका बना है। और, सुनिए मुनिजीकी बात। कहते है—"किसानोके शौचालयमे एक दर्जन मूर्तियाँ मैने उठवाई।" जसोकी बात मै कह रहा हूँ। इसी जसोमे एक तालाब है। इसी जसोमे एक राजा साहब थे, उन राजा साहबका एक हाथी था। एक दिन वह बेचारा हाथी मर गया। दूर कहाँ ले जाते, तालाबके किनारे गाड दिया। जहाँ गाडा वहाँ एक गडा रह

गया। बेचारे राजा साहब क्या करते ? उन्होने हुक्म दिया—'कोई हर्ज नही यह बेकार मूर्तियाँ जो पडी हुई हैं, सब लाकर इस गढ़ेमें भर दो। मूर्तियाँ गढेमें भर दी गई। जसोमे इतिहासकी उपयोगिता है, यहाँ इतिहासको जस मिलता है !

७. यह **बहुरीबंद** है—जबलपुरसे ४२ मील उत्तरकी ओर। यहाँ 'खनुवादेव'का निवास है। खनुवादेवकी मूर्ति श्याम पाषाणकी है। खूब, १३ फुट ऊंची। भव्य ! नि:सदेह भव्य !! यहाँके हिंदू 'खनुवादेव'को इसलिए पूजते हैं कि वह काबूमें रहे और डरके मारे सुविधाये देते रहे। 'खनुवादेव' सुविधाये देते है, क्योकि वह डरते है। वह डरते है क्योकि वह हर आते-जातेके हाथ जूतोसे 'पुजते' है। भगवान् शान्तिनाथकी इस मूर्तिके पारखियोने पुरातत्व विभागसे लिखापढी की; 'आदोलन' भी किया; पर खनुवादेवकी यह पूजा बंद न हो सकी। पूजाके मामलेमे सरकार सस्तक्षेप नही करती ! हमारा राज्य स्वतत्र है, हमारा राज्य 'सैक्यूलर' है; हम इतिहासकी रक्षा करते है !

लीजिए, एक और सुन लीजिए। प्रत्यक्ष लेखकके ही शब्दोमे, **रोहणखेड़** (मध्यप्रदेश)की घटना :—

८. "मेरे सम्मुख ही एक सन्यासीने जो वहाँके बालाजीके मदिरमे रहते थे और मुझे पुरातन अवशेष बताने चले थे, लट्ठसे दक्षिणकी खडगासन जैन-प्रतिमाके मस्तकको धडसे अलग कर प्रसन्न हुए।" जी हाँ, आपने ठीक पढ़ा है—"धडसे अलगकर प्रसन्न हुए!"

यह **रोहणखेड़** है। यहाँ सन्यासी प्रसन्न होता है, और इतिहास फूट फूटकर विलखता है! इस प्रसगका और आगे बढाना ठीक नही।

इतना हमें यह समझनेके लिए पर्याप्त होना चाहिए कि जिस इतिहासकी सृष्टि करके हमारे देशने अपना ही नही मानव जातिका मस्तक ऊँचा किया था, उसे हम पैरो तले रौंदकर नष्ट कर रहे है। हम कहते है अनाथोने, म्लेच्छोने, मुसलमानोने भारतीय मूर्तिकलाकी उच्चतम अभिव्यक्तियोको नष्ट कर डाला। अब जब हम यह बात कहे तो हमे पौनारका, केलझरका, नागराका, पद्मपुरका, डोगरगढका भी ध्यान जाना चाहिए। हमें जसोके विगत महाराज और रोहणखेडके सन्यासीको भी इसी सूचीमे याद कर लेना चाहिए। अपनी-अपनी शक्ति भर हम इन कला-कृतियोको इन अज्ञानियो और असहिष्णुओंके हाथसे बचाये, इस तरह जैसे हम सम्पत्ति-की रक्षा करते है।

'खडहरोका वैभव' प्रकाशित करके भारतीय ज्ञानपीठ पाठकोका ध्यान भारतीय पुरातत्वकी गरिमा और सुरक्षाकी आवश्यकताकी ओर आकर्षित करना चाहता है। पुस्तकका विषय गम्भीर है, भाषा भी तदनुकूल गम्भीर मालूम देगी। पर, जो पढने और समझनेकी चीज है उसे मन लगाकर पढना ही चाहिए। राष्ट्रोका निर्माण ज्ञानके प्रति इतना श्रम तो चाहता ही है।

पुरातत्वके विषयमे प्रत्येक लेखक सावधानीसे लिखनेका प्रयत्न करता है, पर विस्मृत अतीतको अधकारसे निकालकर पढनेमे अनुमानके धुंधले प्रकाशसे काम चलाना पडता है। सतत अनुसन्धान ही निश्चयात्मक ज्ञान-ज्योति देता है। अनुसन्धान सम्बन्धी ऐसी पुस्तकोको पाठकोसे आदर मिले तो पुरातत्वके विद्वान् अपने श्रमके लिए अधिकाधिक प्रेरित हों। 'ज्ञानपीठ' अपनी सेवाकी अजलि चढा रहा है।

लक्ष्मीचन्द्र जैन,
(सम्पादक)
लोकोदय ग्रन्थमाला

खण्डहर-दर्शन

भारतवर्षका सास्कृतिक वैभव खण्डहरोमें बिखरा पड़ा है। खण्डहर मानवताके भव्य प्रतीक है। भारतीय जीवन, सभ्यता, और संस्कृतिके गौरवमय तत्व पाषाणोंकी एक-एक रेखामे विद्यमान है। वहाँकी प्रत्येक कृति सौन्दर्यका सफल प्रतिनिधित्व करती है। जनजीवनका उच्चतम रूप और प्रकृतिका भव्य अनुकरण कलाकारोंने सस्कृतिके पुनीत प्रकाशमें, कलाके द्वारा जिस उत्तम रीतिसे किया है, वही हमारी मौलिक सम्पत्ति है।

खण्डहरोके सौन्दर्य सम्पन्न अवशेष हृत्तंत्रीके तारोको झंकृत कर देते है। हृदयमे स्पंदन उत्पन्न कर देते है। प्रकृतिकी सुकुमार गोदमे पले कलात्मक प्रतीकोके दर्शनसे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। रसपूर्ण आकृतियाँ "रसोऽहमात्मा" की अमर उक्तिपर मुहर लगा देती है। आन्तरिक वृत्तियाँ जागृत हो जाती है और मानव कुछ क्षणोके लिए अन्तर्मुख हो, आत्म दर्शन करने लगता है। आत्मीय विभूतियोंके प्रति सम्मानसे मस्तक झुक जाता है। जीवनमें अदम्य उत्साह छा जाता है। कलात्म कृति रूपी लतासे परिवेष्टित खण्डहर, कलाकारोंको या दृष्टि सम्पन्न मनुष्योंको नन्दन वन-सा लगता है। वहाँके कण-कणमें संस्कृति और साधनाके मौन स्वर गुजरित होते है। एक-एक ईंट व पाषाण अतीतका मौन सदेश सुनाते है। वहाँकी मृतिकाका संसर्ग होते ही मानस पटलपर उच्चकोटिके भाव त्वरितगतिसे बहने लगते हैं। कलाकार अपने आपको खो बैठता है। उसकी दृष्टि शिल्प गौरवसे स्तंभित हो जाती है, जैसे अर्थ गौरवके साहित्यिक की। तन्मयता, वाणीविहीन भाषाका काम करती है। जीवनका सत्य प्राप्त करनेके लिए एकाग्रता वांछनीय है। कलाकारका दृष्टिकोण जितना निर्मल, व्यापक, शुद्ध और बलिष्ठ होगा और जितनी रस-ग्रहण शक्ति

तीव्रतर होगी, उतनी ही निकटताका वह पाषाणोंसे सम्बन्ध स्थापित कर सकता है व विगत गौरवका रस वही चूता है। देह-गौणत्व ही देहीके रहस्यको प्राप्त कर सकता है। वहाँ चक्षुदर्शन महत्व नही रखता पर अन्तरदर्शनकी प्रधानता रहती है। "ज्योति पश्यति रूपाणि"का सचार-साक्षात्कार खण्डहरोंमें होता है। वहाँ अन्तरमन तृप्ति होकर नवीन भावनाओंको जन्म देता है। तभी तो वैभवकी झाकी होती है। वहाँका वैभव प्रेरक होता है।

प्रसंगत. एक बातकी स्पष्टता आवश्यक है। वह यह कि खण्डहरोंका यथार्थ आनन्द और वास्तविक रहस्य प्राप्त करना है, व कलात्मताके मौलिक भावोंको समझना है तो आप जब कभी किसी कलात्मक खण्डहरमें जायें तो एकाकी ही जाये। क्योकि सामूहिक निरीक्षणसे खण्डहरोका ऐतिहासिक व कालिक महत्व तो समझा जा सकता है, पर उसकी आत्माका ज्ञान नहीं होता, न सौन्दर्यका समुचित बोध ही होता है। खण्डहरोकी अनुभूति वाणीकी अपेक्षा नहीं रखती, वह हृदयस्थ भावोकी ब्रह्माण्ड व्यापिनी कविता है जो चिरमौनमें ही अपना और सम्पूर्ण लोक-जीवनका सच्चा परिचय देती है। खण्डहर सस्कृति, प्रकृति और कलाका त्रिवेणी सगम है, जहाँ सत्य शिव सुन्दरम्का साक्षात्कार होता है। वह साक्षात्कार मस्तिष्कसे नही पर हृदयसे होता है। मस्तिष्क तथ्यतक सीमित रहता है जब हृदय सत्यको खोजता है। अनुभूतिका व्यक्तिकरण ही यदि कविता है तो मै कहूंगा कि साहित्यिक भाषामे खण्डहर महाकाव्य है।

अपने विहारमें—पाद भ्रमणमें जहाँ मुझे खण्डहर मिल जाते हैं—चाहे वे किसी भी सास्कृतिक परम्परासे सम्बन्धित क्यो न हो—वहाँ मेरी प्रसन्नताका वेग गतिशील हो जाता है। मेरा लेखनकार्य व चिन्तन वहीपर होता है। मुझे वहाँ प्रेरणा मिलती है। मानसिक शान्तिका अनुभव होता है। आध्यात्मिक भाव जागृत होते है। वहाँपर बिखरे हुए जीर्णशीर्ण त्रुटित-अखंडित्व कलात्मक प्रतीकोकी भावपूर्ण व सुकुमार रेखाओमे मुझे तो आत्मलक्ष्मी

संस्कृतिके महान् साधकोका चिन्तन परिलक्षित होता है। सर्वांगीण विकसित जीवन तत्व और साधनाका सत्य, अपेक्षाकृत पुरातन होते हुए भी चिरनवीन तत्वोका उत्तम संस्करण ज्ञात होता है। उनके निरपेक्ष सौन्दर्य व शैल्पिक ओजसे मे अनुप्राणित होता हूँ।

धर्म और कला

भारतीय कलाके उज्ज्वल अतीतसे अवगत होता है कि उसने धर्मके विकासमे महान् योग दिया है या यो कहना चाहिए कि सापेक्षतः धर्माश्रित कलाका विकास अधिक हुआ है। पुरातन मन्दिर, प्रतिमा आदि उपर्युक्त पंक्तियोके समर्थनके लिए पर्याप्त है। कलाने आध्यात्मिक वृत्ति जागरणमें मानवताकी जो सहायता की है, वह अनुकरणीय है। भाव जागरणके लिए रूप शिल्पकी मानव जीवनमे तब तक आवश्यकता है, जब तक वह अप्रमत्त दशाको प्राप्त नही हो जाता। वह रूप शिल्प आत्मोत्थानमे सहायक भावोका प्रतिबिम्ब होना चाहिए, जिससे अन्त.वाणीके उन्नत आदर्शकी पूर्ति हो सके। इसलिए कहा गया है—

दि स्टुडियो आव दि आर्टिस्ट आव टुडे।
उड्बी टेम्पल आव ह्यूमैनिटी टुमारो॥

उपर्युक्त पक्तियोसे कलाकी सोद्देश्यता स्पष्ट है। उद्देश्य है मानव-को सच्चे अर्थोमे मानव बनाना। धर्मका भी कर्त्तव्य यही है कि मानवीय गुणके विकास द्वारा आत्माको निरावृत बनाना। गुण विकास और साधनामे साधक तत्वोका पुष्टिकरण कलाके द्वारा होता है। सम्पूर्ण भारतमें धर्म-मूलक जितनी भी उत्कृष्ट कलाकृतियाँ खण्डहरोसे उपलब्ध की जा सकती है और कितनी ही आज भी उपेक्षाके कारण दैनन्दिन नष्ट हो रही है। उन सबका सीधा सम्बन्ध धर्म या लोकोत्तर जगत्से होते हुए भी, उनका लौकिक महत्व किसीभी दृष्टिसे अल्प नही। आत्मस्थ सौन्दर्यको उद्बुद्ध करनेमें निमित्त होनेके कारण तथाकथित कृतियाँ या पार्थिव आवश्यकताओमें

जन्म लेनेवाली कला भौतिक होते हुए भी आध्यात्मिक कोटिमें ही आती है, किन्तु उनसे हमारे पूर्व कालीन लोकजीवन एव नृतत्त्व शास्त्रपर जो प्रभाव पड़ा है वह अध्ययनकी मूल्यवान् सामग्री है। तात्पर्य कलामें जीवनके उभयपक्षोंका अनुपम विकास स्पष्ट है।

दृष्टिकोण

किसी भी वस्तु विशेषको देखने-परखनेका प्रत्येक व्यक्तिका अपना दृष्टिकोण होता है। वस्तुका महत्व भी दृष्टिपरक होता है। सौन्दर्य-दृष्टि-हीन हृदय अत्युच्च कलाकृतिपर आकृष्ट नहीं होता। पर सौन्दर्य-दृष्टि-सम्पन्न कलाकार टूटी-फूटी कलाकृति या खण्डहर पर न केवल मुग्ध ही हो जाता है, अपितु उसकी गहन गवेषणामें अपना समस्त जीवन समर्पित कर देता है। जिस प्रकार दार्शनिक परिभाषामें नित्यानित्य पदार्थ विज्ञानकी सुदृढ परम्परा विकसित हुई है, ठीक उसी प्रकार सौन्दर्य-दर्शनके उपकरणोंको लेकर विभिन्न परम्पराओंका उद्भव हुआ है—होता रहता है। अमुक वस्तुमें ही सौन्दर्य है या अमुक प्रकारका उपादान ही सौन्दर्य व्यक्तिकरणके लिए उपयुक्त है ऐसा एकान्त नियम नहीं है। न कलाके व्यापक क्षेत्रमें ऐसे एकान्तवादकी कल्पना ही सम्भव है। वह तो अनेकान्तवादकी सुदृढ शिलापर आधृत है। तात्विक दृष्ट्या सौन्दर्य वस्तुगत न होकर व्यक्तिगत है। हृदयहीन सौन्दर्य-सम्पन्न वस्तुसे आनन्द नहीं पा सकता और लौकिक दृष्टिसे उपेक्षित, खडित सौन्दर्य-विहीन वस्तुसे भी दृष्टि-सम्पन्न मानव आनन्दानुभव कर सकता है। आत्मस्थ सौन्दर्य, समुचित चितवृत्ति एव अन्तर दृष्टिके विकास पर ही पार्थिव सौन्दर्य दर्शन निर्भर है। शिल्पी या कलाकारके अनवरत श्रम और उदात्त विचार परम्पराका मूल्याकन हृदय ही कर सकता है न कि अर्थ या मस्तिष्क। जहाँ शिल्पीकी हृदयगत् भावना सुकुमार रेखाओंमें प्रवाहित होती है, वहाँ अर्थ गौण हो जाता है। कलाकृति देखते ही कला समीक्षक कलाकारकी सराहना करता है न कि उस लक्ष्मीपुत्र की, जिसने

भव्य कृति सृजित करवाई । आज अनगढ कृतिको देखकर भी हमारे हृदयमें इसलिए क्षोभ उत्पन्न नही होता कि हममें यह दृष्टि ही कहाँ जो दीर्घकालव्यापि साधनाके श्रमका उचित मूल्यांकन कर सके । पुरातन कलाकृतिको देखकर तात्कालिक नैतिक चरित्रका और पूर्व परम्पराका कलामें जो विकास हुआ है, उस पर विचार करनेवाले है कितने ? भावना-को भावना ही हृदयगम कर सकती है न कि शुष्क विचार ।

पुरातत्त्वान्वेषण

खण्डहर दर्शकका मानसिक स्तर अध्ययनकी दृष्टिसे बहुत ही उच्च कोटिका होना चाहिए । तभी वह वहां बिखरे हुए सास्कृतिक वैभवकी झांकी पा सकेगा । पुरातत्त्वान्वेषणमे अभिरुचि रखनेवाले व्यक्तिको इन निम्न-लिखित विषयोंका गम्भीर अध्ययन व मनन होना चाहिए:—

खण्डहरोसे केवल शिल्पावशेष ही प्राप्त होते हैं ऐसी बात नही । कभी ताम्र व शिलोत्कीर्ण लिपियां, मुद्राएँ, प्राचीन शस्त्रास्त्र, आभूषण, भाजन तो कभी ग्रन्थस्थ वाङ्मय भी निकल पडता है । भूगर्भसे किसी भी प्रकारकी वस्तु निकलती है उसकी रक्षाके प्रयत्न, प्राप्त साधन-सामग्रीके आधारपर ऐतिहासिक व सांस्कृतिक तत्वोकी गवेषणा एव कला व सभ्यताके क्रमिक विकासकी मौलिक परम्पराओका व्यवस्थित अध्ययन करना आदि समस्त कर्त्तव्योंका अन्तर्भाव पुरातत्त्वान्वेषणमे होता है ।

१. शिल्पस्थापत्य—प्राक्कालीन इमारतोकी निर्माण शैली और उनमे विकसित कलाका अभ्यास करना और प्राचीन शिल्प-स्थापत्यपर प्रकाश डालनेवाले वास्तु-विषयक साहित्यिक ग्रन्थोंका तलस्पर्शी अध्ययन व मनन करना । अध्ययन करते समय इस बातका भलीभाति ध्यान रखना चाहिए कि ग्रन्थस्थ शिल्प-परम्परा, कला द्वारा पत्थर, काष्ठ व अन्य धातु पर कहातक सफलतापूर्वक अवतरित हो सकी है । एवं उसमें कलाकारोने कौन-कौनसे सामयिक परिवर्तन किए हैं । ऐसे शिल्प प्रतीकोंसे संस्कृति और सभ्यताके

क्रमिक विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र एवं फरगुसन, विन्सेन्ट स्मिथ, डा० कुमारस्वामी, बर्जेस व कनिंघम आदि विद्वानोंके साहित्य परिशीलन पर उपर्युक्त दृष्टिका विकास हो सकता है।

२. **मूर्ति-शास्त्र**—भूमिसे प्राप्त या अन्य किसी स्थानसे उपलब्ध जैन, बौद्ध और हिन्दू-धर्म सम्बद्ध प्रतिमाओंका सशास्त्र अध्ययन। कलाकार-को उक्त विषयका जितना सूक्ष्म ज्ञान होगा उतना ही वह अन्वेषणके क्षेत्रमें यशस्वी होगा। अपेक्षित ज्ञानकी अपूर्णताके कारण कभी-कभी ख्याति-प्राप्त पुरातत्त्ववेत्ता भयकर भूल कर बैठता है। खडहरोंके वैभवमे ऐसी भद्दी भूलोंका परिमार्जनकिया गया है। मूर्तिशास्त्रका अध्ययन तुलनामूलक होना चाहिए। प्रान्तीय प्रभावोपर विशेष रूपसे ध्यान देना आवश्यक है।

३. **उत्कीर्ण व उठे हुए**—लेख भी खण्डहरोसे या कभी-कभी खेतोंमें प्राप्त होते है। इनको पढनेके लिए और बिना कालसूचक लेखोके समयादि स्थिर करनेके लिए एव तद्गत ऐतिहासिक तत्त्व प्राप्त्यर्थ पुरातन लिपियोंका गभीर सक्रिय अध्ययन वाछनीय है। बिना लिपि ज्ञानके कला-कार अपनी साधनामे सफल न हो सकेगा। मान लीजिए, कभी आप किसी खँडहरमे निकल गए, वहाँ एक लेखपर आपकी दृष्टि पडी, किंतु लिपि विषयक आपका ज्ञान सीमित है, आप उसे नही पढ सकते है, न आपके पास केमरा है। पर पुरातत्वमें रुचि रखनेके कारण जिज्ञासा अवश्य ही होती है कि इसमें क्या है। उस समय मनमे बडा उद्वेग होता है। यदि इस आकस्मिक प्राप्त सामग्रीकी उपेक्षा करते है तो वह शिला ग्रामीण द्वारा भंग व चटनी पीसनेके निमित्त उठवा ली जाती है, बहुधा ऐसा हुआ है। इस समस्याको हल करनेके लिए स्वर्गीय पुरातत्त्वज्ञ बाबू पूर्णचन्द्र जी नाहर द्वारा एक प्रयोग मेरे ज्येष्ठ गुरुबन्धु मुनि श्री मंगलसागरजीको प्राप्त हुआ था जो इस प्रकार है।

ढाई तोला स्वच्छ मोममे डेढ तोला काजल मिलाया जाय, उष्ण करके मथा जाय, तदनन्तर मोटी पेन्सिलके समान डण्डाकृतिमे ढालकर ३६

घंटे पानीमें भिगो दिया जाय, आवश्यकता पडनेपर इस प्रकार व्यवहारमें ला सकते है। पतला कागज लेखके ऊपर जमा ले, एक ओरसे पूर्व निर्मित पेन्सिल कागज़ पर आहिस्ता आहिस्ता घिसी जाय। लिपि स्थान श्वेत हो जायगा और कागज़ श्याम। समझिए लेखकी प्रतिलिपि आप प्राप्त कर चुके। फोटोग्राफकी अपेक्षा इस परसे ब्लॉक भी बहुत साफ बनता है।

४. **मुद्रा-शास्त्र**—पुरातन खण्डहरोंसे मुद्राएं भी प्राप्त होतीहैं खण्डहरों-के निकट भरनेवाले साप्ताहिक बाजारोंमे कभी-कभी पुरातन मुद्राएं उप-लब्ध हो जाती है। व्यापारी उन्हे गलाकर रजत या स्वर्ण प्राप्त कर लेते हैं[1]। पर कलाकारको चाहिए कि मुद्राशास्त्रका व्यवस्थित अध्ययन करें एवं तदुपरि उत्कीर्णित लिपियोमे राजा महाराजादिका अन्यान्य साधनों द्वारा अस्तित्वकाल प्रकट करे। मुद्राए इतिहासकी सर्वाधिक विश्वस्त सामग्री है और हमारी संस्कृतिका मौलिक विकास किसी-किसी मुद्राओंमें बहुत स्पष्टत परिलक्षित होता है। मुद्राशास्त्र केवल आग्ल परम्पराकी देन नहीं है पर १४ वी शतीमें इसको अध्ययनका सूत्रपात हो चुका था। **ठक्कुर फेरूने**[2] द्रव्य परीक्षा नामक स्वतंत्रग्रन्थ ही मुद्राशास्त्रपर वि० स० १३७५ में प्रस्तुत किया था। प्राचीन साहित्यिक ग्रन्थोमे आनेवाले मुद्राके उल्लेखोको न भूले।

---

[1] मैने मध्यप्रान्तके कई नगरोंमें देखा है और सिवनीमें श्रीयुत धन्नी-लालजी चुन्नीलालजी नाहटा और मालू खुशालचंदजीके पास ऐसी सिक्कोंकी पर्याप्त सामग्री अनायास ही एकत्र हो गई है। प्रसन्नताकी बात है कि वे स्वर्ण लोभसे पुराने सिक्कोंको न गलाकर सुरक्षित रखते हैं। मुझे भी कुछ मुद्राएँ आपने महाक्षत्रप रुद्रदामन्की प्रदान की थीं, जो घनसौर, लखनादौन व छपारासे प्राप्त हुई थीं। आज भी चातुर्मासके बाद कभी-कभी निकल पड़ती है।

[2] विशेषके देखें "ठक्कुर फेरू और उनके ग्रन्थ" शीर्षक मेरा निबंध विशाल भारत जून-जुलाई १९४८।

५: ग्रन्थ-साहित्य—मेरा तात्पर्य प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ व दस्तावेजोंसे है। मेरा अनुभव है कि इतिहास और कलाके क्रमिक विकासपर प्रकाश डालनेवाली जो सामग्री स्वतंत्र ग्रन्थोंमें उपलब्ध नहीं होती वह पुराने ज्ञानभण्डारोंके फुटकर पत्रोमे मिल जाती है। जैन इतिहासका जहाँ-तक प्रश्न है में विनम्रतापूर्वक कहना चाहूंगा कि इसकी प्रचुर सामग्री फुटकर पत्रोमे बिखरी पडी हैं। समाजकी असावधानीसे दैनन्दिन दीमकोके उदरमें इतिहास समाता जा रहा है।

६: अतिरिक्त वस्तु—निरीक्षण—इस विभागमे सूचित सामग्रीका अध्ययन विशेष रूपसे अपेक्षित है। यद्यपि वर्ण्यवस्तु सामान्य-सी ज्ञात होती है पर बिना इसपर समुचित अध्ययन किये कलाकारकी दृष्टि पूर्ण नही होती न निरीक्षण शक्तिका ही विकास होता है। आजके वैज्ञानिक—शोध-प्रधान युगमें खण्डहरोंके अन्वेषणमे रुचि रखनेवाले विद्यार्थियोको भूगर्भ-शास्त्रका ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। बिना इस ज्ञानके न तो खुदाई की जा सकती है और न उसमे पायी जानेवाली वस्तुओका काल निर्देश ही। एक ही खण्डहरकी खुदाईमें कभी-कभी भिन्न कालीन वस्तुए प्राप्त हो जाती हैं, जिनकी आयु खण्डहरसे कई वर्ष पूर्वकी भी सभव है। दीवालके थरोमे भी अलग-अलग शताब्दियोकी मृत्तिका व भवन-निर्माण शैलिया दृष्टिगोचर होती हैं। खुदाई करवानेवाला यदि सावधानीसे कार्य न करेगा तो एक स्थान पर विभिन्न सभ्यताओके सास्कृतिक परिज्ञानसे वचित रह जायगा। खुदाईमे निकलनेवाले सुलेमानी मनके, प्राचीन शस्त्रास्त्र, पुराने कलापूर्ण बरतन, शिरस्त्राण, आभूषण और बालकोके खिलौने आदि मृण्मूर्तियाँ वगैरह अनेक प्रकारका सामान निकलता है। कभी-कभी एक ही वस्तु ऐसी निकल पड़ती है जो इतिहासपर गहरा प्रकाश डालती है। इन समस्त विषयोका परिज्ञान सुयोग्य शोधकके चरणोमें बैठकर प्राप्त किया जा सकता है। यहा स्मरण रखना चाहिए कि कलाकार नृतत्व-शास्त्रकी उपेक्षा न करें, क्योंकि मानव जातिकी विभिन्न

परंपराओंका भौतिक इतिहास भी इन कृतियोको समझनेमें सहायक होता है।

७: **इतिहास, सभ्यता और संस्कृति**—का गंभीर व तुलनात्मक अध्ययन नितान्त अपेक्षित है, यही तो वास्त विकचक्षु या प्रेक्षणशक्तिका मूलस्रोत है। राजनैतिक और भौगोलिक इतिहास व सस्कृतिका समुचित ज्ञान न हो तो उपकरणाश्रित सभ्यताको आत्मसात् करना असंभव हो जायगा। इतिहासके द्वारा ही तो कलामे कालकृत विभाजन संभव है। समय-समयपर सामाजिक परिवर्त्तनोके कारण सभ्यतापर जो प्रभाव पड़ता है, उसका वास्तविक ज्ञान उपर्युक्त अन्वेषणपर अवलंबित है। आवश्यकीय शास्त्रीय व पारपरिक अनुभवमूलक ज्ञानके अतिरिक्त पुरातत्व विभाग व प्राच्य विद्या सम्मेलनोके वार्षिक वृत्तात एवं साहित्य, सस्कृति और कलापर अधिकारी विशिष्ट विद्वानोके निबंधोका मनन भी आवश्यक है। अध्ययन जितना क्रियात्मक होगा कलाकार उतनी ही गवेषणामें सफलता प्राप्त कर सकेगा।

मध्यप्रदेशके पुरातत्त्व

"खँडहरोके वैभवका" मुख्य भाग मध्यप्रदेशके पुरातत्त्वसे सम्बद्ध है। मध्यप्रदेश ऐसा भू-भाग है, जहा सस्कृतिके मुखको उज्वल करनेवाली विपुल कलात्मक राशीके रहते हुए भी शोधकोकी दृष्टिसे अद्यावधि उपेक्षित ही रहा है। जनरल कनिंघम और राखालदास बनर्जी, डा० हीरालाल आदि कुछ विद्वानोने अपने सस्कृतिपरक ग्रथोंमें प्रसंगत: प्रांतकी कलात्मक संपत्तिका उल्लेख किया है; किंतु उसकी व्यापकताको देखते हुए वह नगण्य है। जिसने स्वयं अरण्य व खंडहरोंमे भ्रमणकर एतद्विषयक अनुभव प्राप्त किया है, उनका मत है कि जितनी गवेषणा हो चुकी है और उनका जो महत्त्व पुरातत्वविभाग द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है, उससे भी कही अधिक महत्वपूर्ण व सौंदर्यसपन्न साधन आज गवेषणाकी प्रतीक्षामें है।

मध्यप्रांतमें एक नही पर दर्जनों ऐसे खण्डहर विद्यमान हैं व उनमें ऐसी-ऐसी कला संपन्न सामग्री सुरक्षित है जहां पुरातत्त्वविभागके उच्च वेतनभोगी कर्मचारी नही पहुच सके है । ऐसी स्थितिमें उनकी रक्षाका उल्लेख ही व्यर्थ है । स्वतत्र भारतकी सरकार क्या इन अवशेषोकी रक्षाके लिए सक्षम नही है ?

मध्यप्रदेश

मैंने अनुभव किया कि जिन अवशेषोको, जिन खँडहरोमें प्रथम यात्रा में मैंने देखा था वे दूसरी यात्रामें दृष्टिगोचर नही हुए । इनमेंसे कुछ-एक जनता द्वारा नष्ट कर दिए गए, एव कथित कलाप्रेमी ग्रामीणोकी आखें बचाकर उठा ले आए और कभी-कभी सरकारी अफ़सर मन-पसन्द कला-कृतिया अपने ड्राइग रूमको सजाने के लिए उठा ले आए । जनरल कनिघमने बहुतसे ऐसे अवशेषोका वर्णन अपनी रिपोर्टमे किया है जिनका पता डाक्टर हीरालालको न लग सका और डा० हीरालाल व श्री राखालदास बनर्जी जिन मूल्यवान् कलात्मक प्रतिमाओकी चर्चा अपने ग्रंथोमे की है, उनमे से बहुसख्यक मूर्त्तियां सूचित स्थानोपर मुझे दृष्टिगोचर नही हुईं, सभव है जिन कृतियोका उल्लेख मैंने अपने 'खण्डहरोके वैभव' मे किया है वे भी शायद कुछ वर्षोंके बाद न रहे इसमे कुछ आश्चर्य नही है ।

उपेक्षा

जो मूल्यवान् साधन नष्ट हो गए है, गिट्टी बन सडकोपर बिछ गए; मकानोकी नीवोमे भर गए, उनकी चर्चा अब व्यर्थ है । यदि विगत अनुभवसे प्रान्तीय कलाकार व शासनने लाभ नही उठाया तो अवशिष्ट सामग्रीसे भी वंचित रहना पडेगा । पुरातन वस्तु या पुरातन प्रतिमाओको नष्ट करनेके सैंकडो प्रयोगोमेसे एकके उल्लेखका लोभ सवरण नही कर सकता । दक्षिण-कोसलमें आदिवासियोमे मोहिनीकी पुडिया खूब प्रसिद्ध है । इसे बेगा

(आदिवासी समाजका पुरोहित) नवदंपतिको पारस्परिक स्नेह संव न व सौंदर्य परिवर्द्धनार्थ प्रदान करता है । प्राचीन मूर्त्तियोंका मुखसौंदर्य अनुपम रहता है । ऐसी मूर्त्तियोके मौखिक सौदर्यवाले स्थानको बारीक छेनीसे खरोच लिया जाता है। पपड़ियोका चूर्ण ही मोहिनी की पुड़ियां है, बेगा और समाजके सदस्योका मानना है कि इसे लगानेसे मूर्त्तिके समान अपना भी मुखमडल सौंदर्यसे उद्दीपित हो उठता है। इस अंध परपराने सहस्त्राधिक मूर्तियोके सौदर्यका निर्दयतापूर्वक अपहरण किया। इस प्रकार कलाके महत्त्वको न जाननेवाले वर्गकी ओरसे भयंकर आघात, इन संस्कृति के मूक प्रतीकोको सहना पडता है ।

आज प्रातमे ऐसा कलाकार नही जो शोधकी साधनामे अपने आपको खपा दे। पुरातत्त्वविभाग भी पूर्णतया उदासीन है, वेतनभोगी, कर्मचारी के पास उतना समय नही कि वह खण्डहरोमे पथराए हुए प्रत्येक प्रतीककी अन्तरध्वनि सुन सके । प्रातीय शासनकी उपेक्षापूर्णनीति तो बहुत ही खलती है, न तो शासनने कभी स्वतत्र रूपसे एतद्विषयक अन्वेषण प्रारभ किया एव न स्वतत्र कार्य करनेवाले कलाकारोको प्रोत्साहित ही किया। हा, सॉस्कृतिक व लोककल्याणकी पारमार्थिक भावनासे उत्प्रेरित होकर कार्य करनेवालोके बीच रोडे अटकानेको कार्य अवश्य किया। उनपर घृणित आरोप लगानेमे शासनके जी-हुजरियोंको तनिक भी संकोच नही हुआ। ऐसा लगता है कि शोध विषयक कार्य शासनको सुहाता नही है ।

महाकोसलके जैन-पुरातत्त्वपर नवीन प्रकाश

कला और संस्कृतिके विकासमें युगका बहुत बड़ा साथ रहता है । सूचित प्रदेशके जैन पुरातत्त्वपर यह पक्ति सोलहों आने चरितार्थ होती है ।

खण्डहरोके वैभवमे पृष्ठ १३१ से १८४ मे महाकोसलके जैन पुरातत्वपर प्रकाश डाला गया है, किंतु उल्लिखित प्रकाश विषयक फर्मे छपनेके बाद मुझे महाकोसलके नवीन खडहरोकी यात्रा करनेका सुअवसर प्राप्त हुआ।

मूक विषयसे सम्बन्ध होनेके कारण उपलब्ध नवीन तथ्योंका उल्लेख आवश्यक हो गया।

पृष्ठ १६५में सूचित किया जा चुका है कि महाकोसलमे प्राचीन स्थापत्य विषयक जैन खण्डहरोंमें आरगका ही एक मदिर है किंतु अब मै संशोधन करता हू। उपर्युक्त मदिरकी कोटिके दो और मदिरोका अस्तित्व पनागर व बरहटामे पाया गया है नि संदेह यह दोनो मदिर न केवल स्थापत्य-कलाके भव्य प्रतीक ही है अपितु कुछ नवीन तथ्योको लिए हुए है। बरहटाका मंदिर संपूर्ण महाकोसलके मदिरोंका सफल प्रतिनिधित्व करता है। वहाकी अति विशाल जैन-मूर्तियाँ पाडवोके नामसे आज भी पूजी जाती है। सस्कृति, प्रकृति और कलाके सगम स्थान बरहटामे १५० से अधिक व अत्यल्प खंडित तीर्थकरोके ये प्रतीक सरोवरके धोबी घाटोमे लगे हुए है। कुछ-एक मूर्त्तियों का उलटाकर चटनी व भंग पीसनेमे प्रयुक्त होती है। कलचुरियोके समय बरहटा जैनधर्म व संस्कृतिका महाकेन्द्र था। वह आज यह उपेक्षित अरक्षित व समाज द्वारा विस्मृत खण्डहर मात्र रह गया है।

पनागर (जिला होशगाबाद) दूधी नदीके किनारे बसा हुआ है। इसी नदीके तटपर अतिविशाल व सुदर कोरणी युक्त जैनमदिर था जो अभी-अभी मिटा है। एक ही इस मंदिरके सपूर्ण अवशेष यत्रतत्र १२ मीलकी परिधिमे छाये हुए है। किंतु मंदिरका व्यास रिक्त स्थानसे आका जा सकता है। मदिरमेसे यो तो ५० प्रतिमाए उपलब्ध हुई थी सब लेखयुक्त थी। सलेख मूर्तियोकी सामूहिक उपलब्धि पनागरको छोडकर अन्यत्र महाकोसलमे कही नही हुई। संपूर्ण लेख तेरहवी शताब्दी के उत्तरार्धसे संबद्ध हैं। महाकोसलकी मूर्ति-निर्माण कलापर इन लेखोसे कुछ प्रकाश पड़ता है। उपलब्ध लेख ये है।

प्रतिमा १८×१८ इंच

१. "संवत् १२४४ फाल्गुन सुदि ४ गुरौ उ···सवाल्यवये साधु वेहू सुत साधु तोहट भार्या साकलीया प्रणमति नित्यं ॥

प्रतिमा १९×२० इंच

२. १।। संवत् १२६८ वर्षे बैसाष सुदि १० रवौ आचार्य स्री स्रुत (श्रीश्रुत) कीर्ति गुरुपदेशेन साह पाल्ह भार्या आमिलि ललिया सुत साधु थीरू भार्या वल्हा बल्हासुत महिपति धणपति प्रणमन्ति नित्यं ।।

प्रतिमा २२×१९ इंच

३. संवत् १२६४ वर्षे बैसाष सुदि १० रवौ गृहपति साधु आसड़ खेता ·· उसील पितापुत्र प्रणमन्ति नित्यं ।।

४. "नेवान्वये साधु वरणसामि तद्भार्या रत्ना सुत लाषू प्रणमन्ति सं० १२२५" ।।

मूर्त्तियाँ स्निग्ध हैं। मुखदर्शन तो होता ही है साथ ही मौर्यकालीन चमकका आभास भी मिलता है।

जैन---प्रभाव

महाकोसलमें जैनसंस्कृतिके व्यापक प्रभावके कारण हिन्दू और बौद्ध-धर्मकी मूर्तियोपर जैनकलाका प्रभाव पड़ा है। बरहटामें खडगासनमें द्विभुजी विष्णुकी एक मूर्ति उपलब्ध हुई है, जो ढीमर चौतरेपर पड़ी है। इसका जैन-मूर्तिके समान मुकुटविहीन है। केश भी वैसे ही गोल गुच्छोंके समान हैं। जब विष्णुकी मूर्ति मुकुटसहित और चतुर्भुजी होती है। ध्यानी विष्णुमे भी जैन-मूर्तिका ही प्रभाव है।

नोनियामे, शकरमूर्तिपर भी जैन प्रभाव[1] है। शिवमूर्तिमें जटाका

---

[1] सुप्रसिद्ध गवेषक बाबू कामताप्रसादजी जैन के ता० ३०-४-५३ के पत्रसे विदित हुआ कि इन्दौरके संग्रहालयमें आपने एक ऐसी शिवमूर्ति देखी थी जो बिल्कुल जैन मूर्ति ही लगती थी। उनका मानना है कि भगवान् ऋषभदेवको शिवरूपमें अंकित किया गया है। संभव है वृष्टि सम्पन्न कलाकार शोधमें तन्मय हो जायँ तो ऐसी और भी रचना मिल जाँय।

रहना आवश्यक माना गया है। यही एक ऐसी मूर्ति है जिसपर केश नही है और भोलाशंकर कायोत्सर्ग मुद्रामे खड़े है। पार्वती, नन्दी, कार्तिकेय, शिवगण भी विद्यमान है। पद्मासन और खड्गासन जैन-मूर्ति विधान-शास्त्रकी मौलिक देन है।

त्रिपुरीकी बौद्ध व हिन्दू प्रतिमाओमें ध्यानी मुद्रा व अष्टप्रातिहार्यका क्रमश: अकन पाया जाता है। जैन. मूर्तियोमे इनका अकन सोद्देश्य है। तीर्थंकरोंकी जीवनीके साथ अष्टप्रातिहार्यका सम्बन्ध है। पर बौद्ध और हिन्दू-धर्ममान्य नेताओकी मूर्तियोमें इसका अकन किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं। ज्ञात होता है कलाकारोंने इसे भी अन्य कलोपकरणोके समान समझकर खोद देते रहे होगे।

अश्रुतपूर्व एक प्रतीक

इतिहासके मध्यकालमे सत-परम्पराका प्रभाव बहुत बढ चुका था। सत-साहित्य और जीवनमे समन्वयवादी भावना मूर्त रूप धारण किये थी। कलात्मक प्रतीक युगका प्रतिनिधित्व करते है। मुझे अपनी खोजमे एक प्रतीक ऐसा मिला है जो भारतमे अपने ढगका प्रथम है। सतोकी समन्वय-वादी साधनाका मूर्त रूप कलामे व्यक्त करने वाली यह प्रथम कृति है। एक ही प्रस्तर शिलापर जैन, शैव और वैष्णव सस्कृतिके प्रतीक खुदे हुए है। शिलाके मध्य भागमे भगवान् भोलाशकर पद्मासन लगाये बैठे है, दोनो ओर शेषशायी व बांसुरी लिये विष्णुकी प्रतिमा उत्कीर्णित है। तन्निम्न भागमे दोनो ओर ५ जिन मूर्तियाँ खडगासनस्थ विराजमान है। शकरका पद्मासनमे बैठना और जिनमूर्तिका वैदिक मूर्तियोके साथ अकित करना यह जैन प्रभावका प्रमाण है, साथ-साथ समन्वयका कलात्मक प्रतीक भी।

अन्वेषक

यहापर मैं कुछ-एक विद्वानोका परिचय दे रहा हूं जिन्होंने प्रान्तके इतिहास व पुरातत्त्वपर आशिक प्रकाश डालकर अपने गौरवकी परम्पराको

अक्षुण्ण बनाये रखा। ऐसे विद्वानोंमें स्व० डॉ० हीरालालजीका स्थान प्रथम पंक्तिमें आता है।

डॉ० हीरालाल

आपने सर्वप्रथम हिन्दीमें गज़ेटियर तैयार किये और प्रान्तीय विद्वानोंको इस पुनीत कार्यके लिए प्रोत्साहित किया। इनके क इनकी परम्पराका अनुधावन करनेवाले विद्वत्समाजने जो गज़ेटियर तैयार किये उनमें पुरातत्व सामग्रीका अच्छा संकलन है। मुझे भी अपने अन्वेषणमें उनसे भारी मदद मिली है। स्पष्ट कहा जाय तो थोडा बहुत भी मध्यप्रान्तका गौरव आज विद्वत्समाजमें है, वह डॉ० साहबकी शोधके कारण ही। पर खेदकी बात है कि वह डॉ० साहब जैसे विद्वान्को पाकर भी प्रान्तीय विद्वान् उनकी शोधविषयक-परम्परा कायम न रख सका। उनके लिखे गज़ेटियरके परिवर्द्धित सस्करणोंका प्रकाशन नितान्त आवश्यक है। डॉ० सा० राष्ट्रकूट व कलचुरियोंके माने हुए विद्वान् थे।

पं० लोचनप्रसादजी पाण्डेय—आपने मध्यप्रान्तके इतिहास व पुरातत्त्व-की महान् सेवा की है। जंगलोंमें घूम-घूमकर लेखोका संग्रह करना, उनका सपादन कर उचित स्थान पर प्रकाशित करवाना, यही आपके जीवनकी साधना रही है और आज भी जारी है। महाकोसलके शिला व ताम्रलेखोंको आपने योग्यतापूर्वक सम्पादन कर "महाकोसल रत्नमाला" के भागोंमें प्रकट किया है। आपकी "महाकोसल हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी" (विलासपुर) आज भी शोधकार्यमें तन्मय है।

स्व० योगेन्द्रनाथ सील—ये सिवनीके सुप्रसिद्ध वकील व नागरिक थे। आपको प्रान्त "मध्य प्रदेशका इतिहास" के लेखकके नाते ही जानता है। पर आपने जैन-पुरातत्त्व और इतिहासकी जो मूक सेवा की है, बहुत कम लोगोंको ज्ञात है। आपने मध्यप्रान्तके ऐतिहासिक स्थानोंको २५ वर्ष पूर्व देखा था, सभीके नोट्स भी आपने लिये थे। इनकी दैनन्दिनी

मैंने गतवर्ष उनके सुयोग्य पुत्र श्री नित्येन्द्रनाथ सीलके पास देखी थी। इसके प्रकाशनसे जैन-पुरातत्वकी कई मौलिक सामग्रीपर अभूतपूर्व प्रकाश पड़नेकी संभावना है। घनसौरकी खोज आपने ही की थी, जहां५२ जैन मंदिरोंके खण्डहर उन दिनों थे। आज तो केवल पाषाणोंका ढेरमात्र है।

इनके अतिरिक्त स्व० यादव माधव काले, ब्यौहार श्री राजेन्द्रसिंहजी, श्री प्रयागदत्तजी शुक्ल, श्री एच० एन० सिंह, डॉ० हीरालालजी जैन, श्री वा० वि० मिराशी आदि सरस्वती पुत्रोंने प्रान्तकी गरिमाको प्रकाशित करनेमें जो श्रम किया है और आज भी कर रहे हैं, उनसे बहुत आशा है कि वे अपने शोध-कार्य द्वारा छिपी हुई या दैनन्दिन नष्ट होनेवाली कलात्मक सम्पत्तिके उद्धारमें दत्तचित्त होंगे।

खण्डहरोंका वैभव

समय-समयपर लिखे गये पुरातत्त्व व मूर्त्तिकला विषयक १० निबंधोंका सग्रह है। तीन वर्षसे कुछ पूर्व भारतीय ज्ञानपीठ काशीके उत्साही मंत्री बाबू अयोध्याप्रसादजी गोयलीय व लोकोदेय ग्रन्थमालाके सुयोग्य सम्पादक बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी जैनने मुझसे कहा था कि मैं उन्हे अपने चुने हुए निबंधोंका सग्रह तैयार दू। पर मेरे प्रमादके कारण बात यों ही टलती गई। परंतु श्री गोयलीयजी काम करवानेमें ऐसे कठोर व्यक्ति हैं कि उनको टालना, मेरे-जैसेके लिए किसी भी प्रकार संभव न था। उनके ताने तक़ाज़े भरे उपालंभ पूर्ण पत्रोंने मुझे संग्रह शीघ्र तैयार करनेको विवश कर दिया। प्रमाद जीवनोन्नतिमें बाधक हुआ करता है पर इस वैभवके लिए तो वह वरदान ही सिद्ध हुआ। इसका अनुभव मुझे इन पंक्तियोंके लिखते समय हो रहा है।

बात यों है। मुझे १९४६के बाद बनारससे विन्ध्यप्रदेश होकर अपने पूज्य गुरुवर्य्य श्री उपाध्याय मुनि सुखसागरजी महाराजके साथ पुनः मध्य प्रान्त आना पड़ा। इस पूर्व १९४०-१९४५ तक हम लोग मध्यप्रान्तके

विभिन्न नगर-ग्राम-खण्डहर-वनोंमें विचर चुके थे । उस समय भी मैंने विहारमें आनेवाले खण्डहरों और वनोंमें बिखरे शिल्पावशेषोंके यथामति नोट्स लिये थे । कुछ एकका प्रकाशन भी "विशाल भारत" में हुआ था । जब पुनः मध्यप्रदेश आना पड़ा तो मुझे बडी प्रसन्नता हुई । इससे धार्मिक लाभ तो हुआ ही, पर साथ ही तीन लाभ और भी हुए । प्रथम तो विन्ध्य-प्रदेशके कतिपय खण्डहरोंमें बिखरी हुई जैन-पुरातत्त्वकी सामग्रीका अनायास सकलन हो गया । यद्यपि विन्ध्यभूमिका मेरा भ्रमण अत्यन्त सीमित ही था । पर वहां जो साधन उपलब्ध हुए वे वहांकी श्रमणसंस्कृति और कलाका भलीभाँति प्रतिनिधित्व कर सकते हैं । द्वितीय लाभ यह हुआ कि कटनी तहसील स्थित बिलहरी आदिकी सर्वथा नवीन और पूर्णतया उपेक्षित जैनाश्रितशिल्प व मूर्तिकला-सम्पत्तिके दर्शन हुए । कल्चुरि युगीन जैन मूर्तियोका तब तक मेरा अध्ययन अपूर्ण ही रहता जब तक मै इन खण्डहरोंको न देख लेता; क्योंकि तात्कालिक कलाकेन्द्रोंमें बिलहरीका भी स्थान था । पूर्व निरीक्षित खण्डहरोंको पुनः देखनेका अवसर प्राप्त हुआ । यद्यपि सम्पूर्ण तो नही देख पाया, किन्तु अल्पकालमें सीमित पुर्नविहारसे जो सामग्री उपलब्ध हुई उससे महाकोसलके जैन इतिहास और वैविध्य दृष्ट्या जैनमूर्ति कलापर जो नवीन प्रकाश पडा उससे मन प्रमुदित हुआ । दो-एक ऐसी कलाकृतियाँ प्राप्त हो गईं जो भारतमें अन्यत्र अनुपलब्ध हे—एक तो स्लिमनाबादका नवग्रह युक्त जिनपट्टक, दूसरा श्रमण-वैदिक समन्वयका प्रतीक व तीसरा जिन मुद्राका हिन्दू मूर्तियो पर सास्कृतिक प्रभाव । यह श्रमणसस्कृतिके लिए महान् गौरवकी बात है ।

तीसरा लाभ हुआ पुरातन सर्वधर्मावलम्बी अरक्षित-उपेक्षित कृतियोंका संकलन । जिस प्रकार महाकोसलके सांस्कृतिक विकासमे १५ सौ वर्षोंसे श्रमणपरम्पराने योग दिया उसी श्रमणपरम्पराके एक सेवक द्वारा विश्रृं-खलित कृतियोका एकीकरण भी हुआ । यह बात मै विनम्रता पूर्वक ही लिख रहा हूँ । इस संग्रहका श्रेय तो सम्पूर्ण जैन समाजको ही मिलना

चाहिए। केवल २ सप्ताहमें २५० कलात्मक प्रतीक संग्रहीत हुए जिसमें कुल २००) रु० लगभग व्यय हुआ। मेरे इस संग्रहमे कई अनुपम व अन्यत्र अनुपलब्ध कृतियाँ भी सम्मिलित हैं। इनमेंसे कुछ-एकका परिचय वैभवमें आया है।

इस संग्रहके फलस्वरूप स्वतंत्र भारतके प्रान्तीय शासन द्वारा मुझे जो पुरस्कार प्राप्त हुआ, उसका उल्लेख न करना ही श्रेयस्कर है। पर इतना मैं बहुत नम्रतापूर्वक कहना चाहूंगा कि किसी अन्य स्वाधीन राष्ट्रमें ऐसा पुरस्कार किसी कलाकारको प्राप्त होता तो वहांकी स्वाभिमानी जनता शासनको अपदस्थ किये बगैर न रहती। बात ऐसी हुई कि मुझमें चाटुकारिताका बचपनसे अभाव रहा है और शासनको इस पवित्र सांस्कृतिक कार्यमें, आवेशयुक्त चिन्तनके कारण, राजनीतिकी गंध आयी[1]। अब भी शासन विवेकसे काम ले और आत्म शुद्धि करें। मेरा यह संग्रह "शहीद स्मारक" जबलपुरमे रखा जायगा। अच्छा है शहीदोंकी स्मृतिके साथ शासन द्वारा मेरे संग्रह प्राप्तिका इतिहास भी अमर[2] रहे।

---

[1]पर वास्तविक तथ्योंसे भारतीय पुरातत्त्व विभागके तात्कालिक प्रधान श्री माधवस्वरूपजी वत्स व उपप्रधान श्री हरगोविन्दलाल श्रीवास्तव (दोनों अवकाश प्राप्त) पूर्णतया परिचित हैं।

[2]मुझे यहाँपर एक घटना याद आ जाती है जो मध्यप्रदेशके सुप्रसिद्ध साहित्यिक डा० बलदेवप्रसादजी मिश्रसे सुनी थी। वे एक बार किसी रेजीडेन्टको भोरमदेवका मंदिर (कवर्धा) बता रहे थे। उसने डा० साहबसे प्रश्न किया कि गोंड़ोंका इतिहास गोंडकालमें किसीने क्यों नहीं लिखा ?, मिश्रजीने कहा कि गोंडकालमें प्रथा थी कि जो सर्वगुण सम्पन्न और सुशिक्षित पंडित होता था उसे गोंडशासक विजयादशमीके दिन दन्तेश्वरीके सम्मुख खड़ा किया जाता था। ऐसी विकट स्थितिमें इतिहास कौन लिखता ? इतिहास लिखकर या अपना पाण्डित्य प्रदर्शित कर काहेको कोई जान-बूझकर मृत्युको निमंत्रण देता। मैं तो किंवदन्ती ही मानता था। उस समय-का गोंडवाना आजका महाकोसल हो गया है पर वृत्तिमें परिवर्तन तो आजके प्रगतिशील युगमें भी अपेक्षित है।

खण्डहरोंके वैभवमें मध्यप्रान्तके जैन, बौद्ध और हिन्दू पुरातत्वपर जो सामग्री प्रकट हुई है वह अन्तिम नहीं है पर भविष्यमें की जानेवाली शोधकी भूमिका मात्र है। इसमें प्रकाशित निबंधोंमें मुझे पूर्व प्रकाशित निबंधापेक्षया आमूल परिवर्तन व परिवर्द्धन करना पड़ा है और संभव है भविष्यमें भी करना पड़े। शोधका विषय ही ऐसा है जिसकी थाह नहीं है। पुरातत्त्वान्वेषणमे छोटी-छोटी वस्तु भी शोधकी दृष्टिसे बहुत महत्त्व रखती है। उसका तात्कालिक महत्त्व नहीं होता पर किसी घटना विशेषके साथ सम्बन्ध निकल आनेपर वह इतनी महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हो जाती है कि उसके आधारपर प्रकाण्ड तद्विदोंको स्वमतपरिवर्तनार्थ बाध्य होना पड़ता है। मुझे खुदको जैन मंदिरोके नवोपलब्धिके कारण अपना मत बदलना पडा।

इस वैभवमें मैने न केवल खंडहर व वनस्थ कृतियोंका समावेश किया है, अपितु जो सजे-सजाये मदिरोमें सौन्दर्य सम्पन्न कृतियां थी उनका भी उल्लेख किया[1] है। क्योकि मदिरोमें भी जैन पुरातत्त्वान्वेषणकी प्रचुर साधन-सामग्री विद्यमान है, पर हमारा कलापरक स्वस्थ व स्थिर दृष्टिकोण न होनेके कारण उनका महत्व सीमित हो गया है और हम उनमें कला व सौन्दर्यका उचित मूल्यांकन नही कर पाते। काश अब भी हम कुछ सीखे।

मध्यप्रान्तकी अवलोकित जैनाश्रित शिल्प-सामग्रीसे मैं इस निष्कर्षपर पहुचा हूं कि कलचुरियोको लगाकर आजतक जैनाश्रित कलाकी लता शुष्क नही हुई है। प्रत्येक शताब्दीके जैनमंदिर व मूर्तिया पर्याप्त उपलब्ध होती हैं। कई जगह जैन नहीं है पर जिन-प्रतीक विद्यमान है।

मै प्रसंगत: एक बातका स्पष्टीकरण आवश्यक समझता हूँ। वह यह

---

[1]मध्यप्रान्तीय जैनमंदिरोंमें सैकड़ों प्रतिमा लेख भी उपलब्ध हुए हैं। उनमेंसे मेरे विहारमें आनेवाले लेखोंका प्रकाशन मेरे "जैन धातु-प्रतिमा लेख"में हुआ है।

कि इसमें प्रकाशित निबंधोंमें १ व १० को छोड़कर शेष सबमें मैंने अपनी खोजको ही महत्व दिया है। प्रयागसंग्रहालयकी जैन मूर्तियोंपर यद्यपि श्री सतीशचन्द्रजी कालाका भी एक निबंध मेरे अवलोकनमें आया है, जिसकी कुछ स्खलनाओंका परिमार्जन मुझे इसी वैभवमें करना पड़ा है, जो परिवर्द्धन मात्र है। इतः पूर्व प्रयाग संग्रहालयकी जैनमूर्तिपर मेरा निबंध धारावाहिक रूपसे, ज्ञानपीठके मुख पत्र 'ज्ञानोदय'[1]में प्रकाशित हो चुका था। विन्ध्य और मध्यप्रदेशके पुरातत्त्वकी समस्त सामग्री सर्वप्रथम ही समुचित रूपसे वैभवमें प्रकाशित हो रही है। मेंने जो निबंध लेखन-की तारीखें डाली हैं वे परिवर्द्धित कालसे सम्बन्ध रखती हैं। मुझे जहांतक स्मरण है मध्यप्रान्तके पुरातत्त्वपर इसको छोड़कर—मैं विनम्रता पूर्वक ही लिख रहा हूं, अन्यत्र कही पर भी विस्तृत रूपसे संकलित साधनोंका प्रकाशन नही हुआ[2] है। इतःपूर्व विद्वत्समाज द्वारा गवेषित शैल्पिक साधनोंका इसमें उपयोग नहीं किया है। मैंने समझ पूर्वक ही अपना क्षेत्र सीमित रखा है। जिन खण्डहर और शिल्पावशेष व मूर्तियोका साक्षात्कार मैंने नहीं किया वे महत्वपूर्ण होते हुए भी उन्हे—इसमें स्थान नही दिया। मेरा ऐसा करनेका एक यह कारण भी है कि यदि भारतके प्रत्येक जिलेके विद्वान् अपने-अपने भू-भागोकी कला-लक्ष्मीपर इस प्रकार प्रकाश डालने लगेंगे तो बहुत बड़ा सांस्कृतिक कार्य हो जायगा। कमसे कम जैन विद्वानोंसे और मुनि व पंडितोसे मेरा विनम्र निवेदन है कि अपने प्रान्तीय (या जहां हों वहांके) संग्रहालयस्थ व विहार मार्गमें आनेवाले अवशेषोंपर विवेचनात्मक प्रकाश अवश्य ही डालें।

---

[1]वर्ष १ अंक ३, ४, ५, सन् १९४९।

[2]मैंने सुना है कि पं० प्रयागदत्तजी शुक्लने अभी अभी "सतपुड़ाकी सभ्यता" नामक ग्रन्थ प्रकट किया है, पर प्रयत्न करनेपर भी, इन पंक्तियोंके लिखते समय तक मैं उसे नहीं देख सका हूं।

इस कार्यमें स्थानीय विद्वान् व मुनि ही अधिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं। सरकारका मुँह ताके बैठे रहना व्यर्थ है। न पुरातत्त्वविभागके भरोसे ही रहना उचित है। आपकी संस्कृतिके प्रति जितना आपको गौरव व अनुराग होगा, जितना आप श्रम करेंगे उतनी आशा, कम-से-कम मैं तो वैतनिक व्यक्तियोंसे नही करता, मेरा अनुभव मुझे मजबूर करता है।

सूचनात्मक अनुपूर्ति

इन पक्तियोंके लिखे जानेके व वैभवके छपनेके बाद भी मुझे अपनी पैदलयात्रामे जैन और हिन्दू-पुरातत्त्व व मूर्तिकलाकी प्रचुर मूल्यवान् सामग्री उपलब्ध हुई है, उनका उपयोग मैं भविष्यमें करूंगा।

आभार और कृतज्ञता

सर्वप्रथम मै अपने परम पूज्य गुरुदेव शान्तमूर्ति उपाध्याय मुनि श्री सुखसागरजी महाराज व मेरे ज्येष्ठ गुरुबन्धु मुनि मगलसागरजी महाराजके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हू जिनकी छत्र-छायामें रहकर मै कुछ सीख सका और उन्हीके कारण धार्मिक साधनाके साथ मेरी रुचि खण्डहरोंके अन्वेषणमें प्रवृत्त हुई। समय-समयपर उन्होने अपने अनुभवोंसे मुझे लाभान्वित किया और स्वयं कष्ट सहकर भी मेरी शोध-साधनाकी गतिमें मन्दता नही आने दी। वर्ना जैन मुनिके लिए यह कार्य बहुत ही कठिन है।

श्रीयुत बाबू लक्ष्मीचन्दजी जैन व बाबू श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीयका मैं हृदयसे आभारी हूँ जिन्होंने अपनी पुष्पमालामें इसे स्थान दिया और तक़ाज़ोंसे पुनःपुन. मुझे प्रेरित किया। यदि श्री गोयलीयजी मुझसे कठोरतासे काम न लेते तो शायद इसका प्रकाशन भी शीघ्र सभव न होता। उन्होंने हर तरहसे इसे सुन्दर बनानेमें जो श्रमदान दिया है, उसका मूल्य आभार या धन्यवादसे कैसे अंकित किया जा सकता है।

खण्डहरोंके वैभवमें प्रकाशित चित्रोंके कतिपय ब्लाक्स श्रीयुत राजेन्द्र-

सिंहजी ब्यौहार, (जबलपुर) सुप्रसिद्ध विद्वान् बाबू कामताप्रसादजी जैन, (अलिगंज) पं० श्री नेमीचन्दजी, ज्योतिषाचार्य (आरा) बाबू दीपचन्दजी नाहटा (कलकत्ता) और बाबू घेवरचन्दजी जैनसे प्राप्त हुए हैं। तदर्थ मैं उनका हृदयसे आभार मानता हूँ।

प्रान्तमें मै प्रान्तीय राज्य-शासन व विद्वानोंसे विनम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि वे प्रान्तीय कलात्मक सम्पत्तिकी रक्षाके लिये तत्पर हों और अपने-अपने भू-भाग स्थित प्राचीन ऐतिहासिक अवशेषादि साधनोंपर विवेचनात्मक प्रकाश डालकर एतद्विषयक विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट करें।

खण्डहरोंका वैभव यदि पुरातत्त्व विषयक शोधमें आंशिक सहायक हो सका और पुरातत्त्वके उपेक्षित-अरक्षित अवशेषोके प्रति जनरुचि उत्पन्न करा सका तो मै अपना प्रयत्न सफल समझूगा।

ता० १३–५–१९५३
मोढ़-स्थानक
मारवाड़ी रॉड
भोपाल

मुनि कान्तिसागर

जैन पुरातत्व
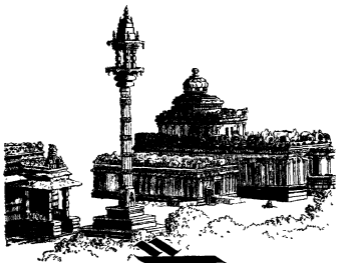
आर्यावर्त्तकी तक्षण कलाके सरक्षण और विकासमे जैन-समाजने उल्लेखनीय योग दिया है, जिसकी स्वर्णिम गौरव-गरिमाकी पताका-स्वरूप आज भी अनेको सूक्ष्मातिसूक्ष्म कला-कौशलके उत्कृष्टतम प्रतीकसम पुरातन मन्दिर, गृह, प्रतिमाएँ, विशाल स्तम्भादि बहुमूल्यावशेष, बहुत ही दुरवस्थामे अवशिष्ट हैं। ये प्राचीन संस्कृति और सभ्यताके ज्वलन्त दीपक-प्रकाश स्तम्भ हैं। अतीत इनमे अन्तर्निहित है। बहुत समय तक धूपछाँहमें रहकर इन्होने अनुभव प्राप्त किया है। वे न केवल तात्कालिक मानव-जीवन और समाजके विभिन्न पहलुओंको ही आलोकित करते हैं, अपितु मानो वे जीर्ण-शीर्ण खण्डहरो, वनो और गिरि-कन्दराओमे खडे-खडे अपनी और तत्कालीन भारतीय सास्कृतिक परिस्थितियोकी वास्तविक कहानी, अति गम्भीर रूपसे, पर मूकवाणीमे, उन सहृदय व्यक्तियोंको श्रवण करा रहे है, जो पुरातन-प्रस्तरादि अवशेषोमे अपने पूर्व पुरुषोकी अमर कीतिलताका सूक्ष्मावलोकन कर नवीन प्रशस्त-मार्गकी सृष्टि करते हैं। यदि हम थोडा भी विचार करके उनकी ओर दृष्टि केन्द्रित करे तो विदित हुए बिना नही रहेगा कि प्रत्येक समाज और जातिकी उन्नत दशाका वास्तविक परिचय इन्ही खण्डित अवशेषोके गम्भीर अध्ययन, मनन और अन्वेषणपर अवलम्बित है। मेरा मन्तव्य है कि हमारी सभ्यताकी रक्षा और अभिवृद्धिमें किसी साहित्यादिक ग्रन्थापेक्षया इनका स्थान किसी भी दृष्टिसे कम नही। साहित्यकार जिन उदात्त, उत्प्रेरक एव प्राणवान् भावोका लेखनीके सहारे व्यतिकरण करता है, ठीक उसी प्रकार भाव जगतमें विचरण करनेवाला आनन्दोन्मत्त कलाकार पार्थिव उपादानो द्वारा आत्मस्थ भावोंको अपनी सधी हुई छैनीसे व्यक्त करता है। जनताको इससे सुख और आनन्दकी उपलब्धि होती है।

एक समय था ऐसे कलाकारोंका समादर सम्पूर्ण भारतवर्षमे, सर्वत्र

होता था। मानव सभ्यताका प्रेरणाप्रद इतिहास कलाकारोद्वारा ही सुरक्षित रह सका है। वे अपनी उच्चतम सौन्दर्य-सम्पन्न कलाकृतियो द्वारा जन जीवन-उन्नयनकी सामग्री प्रस्तुत करते थे। अतः प्राचीन भारतीय साहित्य और इतिहासमे इसका स्थान अत्युच्च है। जैनाचार्य श्रीमन् **हरिभद्रसूरिजीने**—जो अपने समयके बहुत बडे दार्शनिक और प्रतिभा-सम्पन्न ग्रन्थकार थे—अपने **षोड़शप्रकरणोंमें** कलाकारोंके सम्बन्धमे जो विचार व्यक्त किये है, वे भारतीय कलाके इतिहासमे मूल्यवान् समझे जावेगे। उनके हृदयमे कलाकारोंके प्रति कितनी सहानुभूति थी, निम्न शब्दोंमे स्पष्ट है—

> "कलाकारको, यह न समझना चाहिए कि वह हमारा वेतन-भोगी भृत्य है, पर अपना सखा और प्रारम्भिकृत कार्यमे परम सहयोगी मानकर उनको आवश्यक सुविधाये दे, सदैव सन्तुष्ट रखना चाहिए, उनको किसी भी प्रकारसे ठगना नही चाहिए। समुचित वेतनके साथ, उनके साथ ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे उनके मानसिक भाव दिन प्रतिदिन वृद्धिको प्राप्त हो, ताकि उच्चतम कलाकृतिका सृजन कर सके।"

वास्तुकला

वास्तुकला भी ललितकलाका एक भेद है। शिल्पकला आवश्यकताओंकी पूर्तिके साथ सौन्दर्यका सवर्धन भी करती है। जिसप्रकार प्राणीमात्रकी समवेदनाका सर्वोच्च शिखर सगीत है—ठीक उसीप्रकार शिल्पका विस्तृत और व्यापक अर्थ भवन-निर्माण है। जनतामे आम तौरपर शिल्पका सामान्य अर्थ ईटपर ईट या प्रस्तरपर प्रस्तर सजोकर रख देना ही शिल्प है, परन्तु वस्तुस्थितिकी सार्वभौमिक व्यापकताके प्रकाशमे यह परिभाषा भावसूचक ज्ञात नही होती—अपूर्ण है। शिल्पकी सर्वगम्य व्याख्या कलाके समान ही सरल नही है।

प्रोफेसर **मुल्कराज आनन्दने** शिल्पकी परिभाषा यों की है—"**शिल्प वही है जो निर्माण-सामग्रियों द्वारा उच्चतम कल्पनाओंके आधारोंपर बनाया जाय। उस शिल्पको हम अद्वितीय कह** सकते हैं, जिसकी कला **एवं कल्पनाका प्रभाव मनुष्यपर पड़** सके।"

उपर्युक्त दार्शनिक परिभाषासे सापेक्षत. कलाकारका उत्तरदायित्व बढ जाता है—"मनुष्यपर प्रभाव" और "प्राप्त सामग्रियों द्वारा निर्माण" ये शब्द गम्भीर अर्थके परिचायक हैं। प्राप्त सामग्री अर्थात् केवल कलाकारके औजार एव एतद्विषयक साहित्यिक ग्रन्थ ही नही है, अपितु उनके वैयक्तिक चरित्र शुद्धिकी ओर भी व्यंग्यात्मक सकेत है। मानसिक चित्रोंकी परम्पराको सुनियन्त्रित रूपसे उपस्थित करना ही कला है, जैसा कि समालोचकोने स्वीकार किया है। ऐसी स्थितिमे शिल्पी केवल मिस्त्री ही नही रह जाता, अपितु सक्षम दार्शनिक एव कलागुरुके रूपमें दृष्टिगोचर होता है। प्रकृतिमे बिखरे हुए अनन्त सौन्दर्यकी अनुभूति प्राप्त करता है, कल्पनाओके सम्मिश्रणमे वह निस्सीम सौन्दर्यको विभिन्न उपादानो द्वारा ससीम करता है। सौन्दर्य-बोध 'स्व' आवश्यकतासे 'पर'का पदार्थ है, इसीलिए शिल्पीकी मानसिक सन्तानको भी कला कहा गया है।

कल्पनात्मक शिल्प-निर्माणमे जो मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करनी पडती है, वह अनुभवगम्य विषय है। जिनको प्राचीन खडहर देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है—यदि उनके साथ कला प्रेमी और कलाके तत्वोको जाननेवाले रहे हो तब तो कहना ही क्या—वे तल्लीन हो जाते हैं, भले ही उनके मर्मस्पर्शी इतिहाससे परिचित न हो। इन खडहरो एव ध्वस्त अवशेषोमे कलाकारको सत्यका दर्शन होता है। तदनुकूल मानसिक पृष्ठभूमि तैयार होती है, तात्पर्य यह कि मानव सस्कृतिके विकास और सरक्षणमे जिनका भी योग रहा है, उनमे शिल्पकारका स्थान बहुत ऊँचा है।

भारतीय वास्तुकलाका इतिहास यो तो मानव विकास युगसे मानना

पड़ेगा, पर विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टिसे कला समीक्षकोने **मोहन-जो-दड़ो** एवं **हरप्पासे** माना है। इस युगके पूर्व—जहाँतक समझा जाता है—बाँस, लकड़ी और पत्तोंकी झोपड़ियोंका युग था। वह अधिक महत्वपूर्ण था। उस सामान्य जीवनमें भी सस्कृति थी। जीवन सात्विक भावनाओंसे ओत-प्रोत था। प्रकृतिकी गोदमे जो वैचारिक-मौलिक सामग्री मिलती है, उसे ही कलाकार जनहितार्थ कलोपकरण द्वारा मूर्त रूप देता है। इस प्रकार दैनन्दिन वास्तुकलाका विकास होता गया, परन्तु आजसे तीन हज़ार वर्ष पूर्वकी विकसित वास्तु प्रणालीके क्रमिक इतिहासपर प्रकाश डालनेवाली मौलिक सामग्री अद्यावधि अनुपलब्ध-सी है। यद्यपि प्रासगिक रूपसे **वेद, ब्राह्मण** और **आगम** तथा **जातकोंमें** सकेत अवश्य मिलते है किन्तु वे जिज्ञासा तृप्त नहीं कर सकते। **मोहन-जो-दड़ो** एव **हरप्पा** अवशेषोसे ही सन्तोष करना पड रहा है। शिल्प द्वारा स्तुतिका समर्थन **एतरेय ब्राह्मणसे** होता है—**"ओं शिल्पानी शसति देवशिल्पानि।"**

शिशुनाग वशके समय नि सन्देह भारतीय वास्तु प्रणालिका उन्नतिके शिखरपर आरूढ थी, बल्कि स्पष्ट कहा जावे तो उन दिनों भारत और बेबीलोनका राजनैतिक सम्बन्धके साथ कलात्मक आदान-प्रदान भी होता था, जैसा कि आज भी बेबीलोनमे भारतीय शिल्प कलासे प्रभावित अवशेष पर्याप्त मात्रामे विद्यमान है। **मौर्य, सुंग**-कालकी कलाकृति एव खण्डहरोके परिदर्शनसे स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनो प्राणवान शिल्पियोकी परम्परा सुरक्षित थी। यदि **मानसारको** गुप्त कालकी कृति मान लिया जाय तो कहना होगा कि न केवल तत्कालमे भारतीय तक्षण कला ही पूर्ण रूपेण विकसित थी, अपितु तद्विषयक साहित्य सृष्टि भी हो रही थी। यों तो विक्रमकी प्रथम शताब्दीके विद्वान् आचार्य **पादलिप्तसूरिकी निर्वाणकलिका**-से कुछ झाँकी मिल जाती है। **ब्रह्मसंहितामें** भी मूर्ति विषयक उल्लेख है। कवि **कालिदास** और **हर्षने** भी अपने साहित्यमे ललितकलाका उल्लेख किया है। ऐसी स्थितिमे वास्तुशास्त्रका अन्तर्भाव हो ही जाना चाहिए।

भले ही तद्विषयक पुष्ट-सिद्धान्त लिखित रूपमे उपलब्ध न हो **अजन्ता, जोगीमारा, सिद्धण्णवास** एव तदुत्तरवर्तीय, **एलोरा, बादबड़, एलीफेण्टा** आदि अनेको गुफाये है, जो भारतीय तक्षण और गृह निर्माणकलाके सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। वास्तुकलाका प्रवाह समयकी गति और शक्तिके अनुरूप बहता गया, समय-समयपर कलाविज्ञोने इसमे नवीन तत्त्वोंको प्रविष्ट कराया, मानो वह स्वकीय सम्पत्ति ही हो। निर्माण पद्धति, औजार आदिमे भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। जब जिस विषयका सार्वभौमिक विकास होता है, तब उसे विद्वान् लोग लिपिबद्ध कर साहित्यका रूप दे देते है। जिससे अधिक समयतक मानवके सम्पर्कमे रह सके, क्योकि कल्पना जगतके सिद्धान्तोकी परम्परा तभी चल सकती है, जब सुयोग्य एव प्रतिभा सम्पन्न उत्तराधिकारी मिले।

जैन पुरातत्व

पुरातत्त्व शब्दमे अर्थ गाभीर्य है। व्यापकता है। इतिहासके निर्माणमे इसकी उपयोगिता सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। भारतीय कलाकारोने किसी भी प्रकारके उपादानोको अपनाकर कला-नैपुण्यसे उनमे जीवनका सचार किया। आत्मस्थ-अमूर्त भावोको मूर्त रूप दिया—अत इस श्रेणीमे आनेवाली कृतियोको, रूप शिल्पात्मक कृतियाँ कहे तो अनुचित न होगा। सगीत और काव्यमे भावोकी प्रधानता रहती है। इसमे भी वही बात है। **आबू, देलवाड़ा, खजुराहो** और **ताजमहल** किसी काव्यसे कथमपि कम नही है। काव्य और सगीतसे रूपशिल्पमे हमे भले ही भिन्नत्वके दर्शन होते हो, परन्तु भावगत एकत्व स्पष्ट है, भिन्नता केवल धर्मगत है। यहाँपर मुझे ललित कलाके सूक्ष्म और स्थूल भेदोकी चर्चामे नही पडना, परन्तु इतना भी कहनेका लोभ सवरण नही कर सकता कि उच्चकला वही है, जिसके व्यक्तिकरणमे यथासाध्य सूक्ष्म उपादानोका उपयोग किया जाय उपादानमे जितनी सूक्ष्मता होगी, कला भी उतनी ही श्रेष्ठ होगी। इस

दृष्टिसे पुरातत्त्वकी कृतियाँ तीसरी श्रेणीमें आती हैं। कारण कि इसमें भाव व्यक्तीकरणके लिए बहुत मोटे आधारका सहारा लेना पड़ता है। इस कलासे दो लाभ होते हैं। एक वह आध्यात्मिक उन्नतिमें सहायता करती है और दूसरी अपने युगकी विशेषताओंको सुरक्षित रखती हुई भावी उन्नतिका भी सूक्ष्म सकेत करती है। शाश्वत सत्यकी ओर उत्प्रेरित करनेवाली भाव-परम्परा आधार तो चाहेगी ही। इसमें ऐतिहासिक सकेत है। पार्थिव कला आध्यात्मिक प्राणसे धन्य हो जाती है। न केवल वह आनन्द ही देती है, पर शाश्वत सौंदर्यकी ओर खींच ले जाती है। इसीलिए त्याग-प्रधान आदर्शपर जीवित रहनेवाली श्रमण-सस्कृतिमें भी रूपशिल्पकी परम्पराका जन्म हुआ।

जैन-पुरातत्त्वका अध्ययन अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य है। अभीतक इस विषयपर समुचित प्रकाश डालनेवाली सामग्री अन्धकाराच्छन्न है। अजैन विद्वानोंके विवरण हमारे सम्मुख हैं, जो कई खडहरोंपर लिखे गये हैं, परन्तु वे इतने भ्रान्तिपूर्ण हैं कि उनमें सत्यकी गवेषणा कठिन है. कारण कि जिन दिनों यह कार्य हुआ उन दिनों विद्वान् जैन-बौद्धका भेद ही नहीं समझते थे—आज भी कम ही समझते हैं। अत यह सम्मिश्रण अध्यवसायी विद्वान् ही पृथक कर सकते हैं। जैनोंने कलाके प्रकाशमें कभी भी अपने उपकरणोंको नहीं देखा। अजैनोंने इन्हें धार्मिक वस्तु समझा, परन्तु जैन-तीर्थ-मन्दिर और मूर्ति केवल धार्मिक उपासनाके ही अंग नहीं हैं, परन्तु उनमें भारतीय जनजीवनके साथ कला और सौदर्यके निगूढ़ तत्त्व भी सन्निहित हैं। विशुद्ध सौदर्यकी दृष्टिसे ही यदि जैन-पुरातन अवशेषोंको देखा जाय तो, उनकी कल्पना, सौष्ठव और उत्प्रेरक भावनाओं-के आगे नतमस्तक होना पड़ेगा। बिना इनके समुचित अध्ययनके भारतीय शिल्पका इतिहास अपूर्ण रहेगा। प्रसगतः एक बातका उल्लेख मुझे कर देना चाहिए कि जैनोंने न केवल पूर्व परम्परामें पली हुई शिल्प कला और उनके उपकरणोंकी ही रक्षा की, अपितु सामयिकताको ध्यानमें रखते

हुए, प्राचीन परम्पराको संभालते हुए, नवीनतम भावना और कलात्मक उपकरणोंकी सफल सृष्टि भी की । सामान्य वस्तुको भी सँजोकर कलात्मक जीवनका परिचय दिया । यद्यपि मदिरो और गुफाओंको छोडकर जैनाश्रित वास्तुकलाके प्रतीक उपलब्ध नही होते है, पर जो भी विद्यमान है वे उत्कृष्ट कलाके प्रतीक है। उनमे मानवताका मूक सन्देश है। सौम्य और समान भाववाली परम्परा जैनाश्रित पुरातन अवशेषोके एक-एक अगमे परिलक्षित होती है । इनकी कला केवल कलाके लिए न होकर जीवनके लिए भी है । **अरस्तूने** कहा है कि **"उस कलासे कोई लाभ नहीं, जिससे समाजका उपकार न होता हो ।"** जैनाश्रित कला जनताके नैतिक स्तरको ऊँचा उठाती है । समत्वका उद्‌बोधन कर जनतत्रात्मक विचार पद्धतिका मूक समर्थन करती है । त्यागपूर्ण-प्रतीक किसी भी देशके गौरवको बढा सकते है ।

प्राचीनता

जैन-पुरातत्त्वका इतिहास कबसे शुरू किया जाय ? यह एक समस्या है । कारण कि **मोहन-जो-दड़ोकी** खुदाईमे जो अवशेष प्राप्त किये गये है, उनमे कुछ ऐसे भी प्रतीक है, जिन्हे कुछ लोग जैन मानते है । जबतक वे नि सशय जैन सिद्ध नही हो जाते, तबतक हम जैन-पुरातत्त्वके इतिहासको निश्चयपूर्वक वहाँ तक नही ले जा सकते । यद्यपि तत्कालीन एव तदुत्तर-वर्त्ती सास्कृतिक साधनोका अध्ययन करे, तो हमे उनके जैनत्वमे शका नही रहती । कारण आर्योंके आगमनके पूर्व भी यहाँपर ऐसी सस्कृति थी, जो परम आस्तिक और आध्यात्मिक भावोमे विश्वास करती थी । वैदिक-साहित्यके उद्भट विद्वान् प्रो० **क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय** तो कहते हैं कि वे लोग श्रमण सस्कृतिके उपासक थे । इतिहास भी इस बातकी साक्षी देता है कि आर्योंको यहाँ आकर सघर्ष करना पडा था । काफी सघर्षके बाद भी वे लोग आर्योंमे मिल नही सके । कारण कि उनकी अपनी स्वतत्र संस्कृति थी, जो उनसे कही अधिक सबल और व्यापक थी । वह श्रमण सस्कृति ही होनी चाहिए ।

यहाँपर प्रश्न यह उठेगा कि **कुषाण** और **मोहन-जो-दड़ोकी** कड़ियोंको ठीकसे सँजोनेवाली मध्यवर्ती सामग्री प्राप्त है या नही ? इसके उत्तरमे यही कहा जा सकता है कि अभी पक्षपात रहित अन्वेषण ही कहाँ हुआ है ? बहुत-से प्राचीन खडहर भी खुदाईकी राह देख रहे है। प्रत्यक्षत: इतना कहना उचित होगा कि कुषाणकालीन जो अवशेष मिले है, उनकी और मोहन-जो-दडोसे प्राप्त सामग्रीमे, कलात्मक अतर भले ही हो,—स्वाभाविक भी है,—परन्तु धर्मगत भिन्नता नही है। दोनोकी भावनामे मतद्वैध नही है। आदर्शमे भी पर्याप्ति साम्य है'। क्योकि भारतीय शिल्पमे कुछ मुद्राएँ ऐसी है, जो विशुद्ध जैन-संस्कृतिकी ही देन है—जैसे कि कायोत्सर्ग मुद्रा। प्राचीन जैन-मूर्तियाँ अधिकतर इसी मुद्रामे प्राप्त है।

भारतीय-कला एक प्रकारसे प्रतीकात्मक है। प्रत्येक सम्प्रदायवाले अपने-अपने शिल्पमे स्वधर्म-मान्य प्रतीकोका प्रयोग करते आये है। कुछ प्रतीकोमे इतनी समानता है कि उन्हे पृथक करना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ त्रिशूलको ही ले। त्रिशूल तीनो गुणोपर विजय पानेका सूचक मानकर वैदिक-संस्कृतिने अपनाया है। जैनोने भी **रत्नत्रय**का प्रतीक माना है। कलिंगकी जैन-गुफाओमे भी त्रिशूलका चिह्न है। मोहन-जो-दडोमे यही प्रतीक मिला है। धर्मचक्रका भी यही हाल है। जैन-बौद्ध कृतियोमे अवश्य ही उत्कीर्णित रहता है।

यो तो जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्य-कलाका इतिहास कुषाण कालसे माना जाता है, क्योकि इस युगकी अनेक कला-कृतियाँ उपलब्ध हो चुकी है, परन्तु उपर्युक्त अन्वेषणके बाद एक सूत्र नया मिला है, जो इसका इतिहास ३०० वर्ष और ऊपर ले जाता है।

जैन-साहित्यमे **आर्द्रकुमार**की कथा बडी प्रसिद्ध है। वह अनार्य

'विशेष ज्ञातव्यके लिए देखे "मोहन् जोदड़ोकी कला और श्रमणसंस्कृति" "अनेकान्त" वर्ष १० अंक, ११-१२।

देशका रहनेवाला था। मगधके राजवंशके साथ उसकी पारस्परिक मैत्री थी। अभयकुमारने इनको जिन प्रतिमा भिजवाई थी। बादमें वह भारत आता है और क्रमश भगवान् महावीरके पास आकर श्रमण-दीक्षा ग्रहण करता[1] है। डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकारको प्रभासपाटणसे एक ताम्रपत्र उपलब्ध हुआ था, इसमें लिखा है कि "बेबीलोनके नृपति नेबुचन्दनेज़ारने रैवतगिरिके नाथ नेमिके मंदिरका जीर्णोद्धार कराया था[2]।" जैन-साहित्य इस घटनापर मौन है। उन दिनो सौराष्ट्रका व्यापार विदेशोतक फैला हुआ था, अत उसी मार्गसे अधिकतर आवागमन जारी था। बहुत सभव है कि वह भी यहीसे आया हो और पूर्व प्रेषित जिनमूर्तिके संस्कारके कारण मंदिरका जीर्णोद्धार करवाया हो, परन्तु इसके लिए और भी अकाटच प्रमाणोकी आवश्यकता है। हाँ, बेबीलोनके इतिहाससे यह अवश्य प्रमाणित होता है कि वहाँपर जो पुरातन-अवशेष-उपलब्ध हुए हैं, उनपर भारतीय-शिल्पका स्पष्ट प्रभाव है। वहाँकी न्याय प्रणालिकापर भी भारतीय-न्याय और दण्ड-विधानकी छाया है[3]।

उक्त लेखसे स्पष्ट है कि ईसवी पूर्व छठवी शतीमें गिरिनारपर जैन-मन्दिर था। जूनागढसे पूर्व "बाबा प्यारा"के नामसे जो मठ प्रसिद्ध है, वहाँपर जैन-गुफाएँ उत्कीर्णित हैं।

बम्बईसे प्रकाशित दैनिक "जन्मभूमि" (२५–५–४१)में "पुरातत्त्व संशोधनका एक प्रकरण" शीर्षक नोट प्रकाशित हुआ था। उसमें एक नवोपलब्ध लेखकी चर्चा थी। इस लेखमें "तोरबस्वामी"का नाम था।

---

[1] मुनि-दीक्षा अंगीकार कर भगवान् महावीरके दर्शनार्थ जाते समय हस्त्यावबोधके भावोंका प्रस्तरपर अंकन किया गया है जो आबूकी विमलवसहीमें आज भी सुरक्षित है।

[2] टाइम्स आफ इण्डिया १९–३–३५

[3] महावीर जैन-विद्यालय-रजत महोत्सव ग्रन्थ, पृ० ८०—४।

गुजरातके पुरातत्त्वज्ञ श्री अमृतवसंत पंड्याने इसे "तीरथस्वामी" पढ़ा, क्योंकि ब्राम्हीमें 'थ' और "ब"में कम अंतर है। अन्ततः तय हुआ कि "तीरथस्वामी"का सम्बन्ध जैनधर्मसे ही होना चाहिए। इस लेखकी लिपि क्षत्रप कालीन है। यह काल, सौराष्ट्रमें जैनउत्कर्षका माना जाता है। श्री पंड्याजीका मानना है कि "क्षत्रप कालीन सौराष्ट्रमें जैनधर्मका अस्तित्व सूचक जो लेख बाबाप्याराके मठमें उपलब्ध हुआ है उसके बादके लेखोंमें यही (उपर्युक्त) लेख आता है।"

मगधके शासक **शिशुनाग** और **नन्द** नृपति जैन-धर्मके उपासक थे। नन्दनृपति भगवान् महावीरके माता-पिता, भगवान् पार्श्वनाथकी अर्चना करते थे। भगवान् महावीर गृहस्थावासमें जब भाव मुनि थे और राज-महलमें कायोत्सर्ग मुद्रामें खडे थे, उस समयके भावोको व्यक्त करनेवाली गोशीर्श चन्दनकी प्रतिमा **विद्युन्माली** देव द्वारा निर्मित हुई एव **कपिल केवली** द्वारा प्रतिष्ठापित हुई। बादमें **वीरभयपतनके** राजा **उदायी** व पट्टरानी **प्रभावती** द्वारा पूजी जाती रही। इस घटनाका उल्लेख प्राचीन जैन-साहित्यमें तो पाया ही जाता है, परन्तु इन्ही भावोको व्यक्त करनेवाली एक धातु प्रतिमा भी उपलब्ध हो चुकी है। जिसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है।

'तित्थोगाली पइन्नय'से ज्ञात होता है कि नन्दोने पाटलीपुत्रमें ५ जैन स्तूप बनवाये थे, जिनका उत्खनन कलाके द्वारा धनकी खोजके लिए हुआ। चीनी यात्री **ह्युग्रान् च्युआङ्ने** भी इन पच जैन-स्तूपोका उल्लेख यात्रा-विवरण[1]मे करते हुए लिखा है कि अबौद्ध राजा द्वारा वे खुदवा डाले गये। **पहाड़पुरसे** प्राप्त ताम्र-पत्र (ईसवी ४७९)[2]से फलित होता है कि आचार्य **गुहनन्दी** व उनके शिष्य **'पंचस्तूपान्वयी'**, कहलाते थे।

---

[1]On Yuan Chawang's travels in India, p 96

[2]**एपिग्राफिया इंडिया। वॉ०XX पेज ५९।**

खारबेलके लेखसे स्पष्ट है कि नन्द-कालमे जैन-मूर्त्तियाँ थी। सातवी शतीमे भी श्रमण-सस्कृति, कलिंगमे उन्नतिके शिखरपर थी। **खारबेलके** लेखकी अन्तिम पंक्तिमे जीर्ण जलाशय एव मदिरके जीर्णोद्धारका उल्लेख है। वहाँपर उसी समय चौबीस तीर्थंकरोंकी प्रतिमाएँ बैठाई। लेखान्तर्गत जलाशय **ऋषितड़ाग** ही होना चाहिए। इसका उल्लेख **बृहत्कल्पसूत्रमें** आया है। वहाँपर मेला लगा करता था। स्व० डा० **बेनीमाधव वडुआने** इसे खोज निकाला था। अपने स्वर्गवासके कुछ मास पूर्व मुझे उन्होने एक मानचित्र भी बताया था।

उपर्युक्त उल्लेखोसे स्पष्ट है कि ईसवी पूर्व पाँचवी शताब्दीमे निश्चयत जैन-मूर्त्तियोका अस्तित्व था। मौर्यकालीन जैन-प्रतिमाएँ तो लोहानीपुर (जो पटना ही का एक भाग है)से प्राप्त हो चुकी है। **लोहानीपुरमे** १८ फरवरी १९३७मे प्राप्त हुई थी। मूर्त्ति हल्के हरे रगके पाषाणपर खुदी है। इसकी पॉलीस स्पर्धाकी वस्तु है। शताब्दियोतक भू-गर्भमे रहते हुए भी उसकी चमकमे लेशमात्र भी अन्तर नही आया, जो मौर्य-कालीन शिल्पकी अपनी विशेषता है। स्वर्गीय डा० **जायसवालजीने** इसका निर्माणकाल गुप्तपूर्व चार सौ वर्ष स्थिर किया है। मूर्त्ति २½ फुट ऊँची है।[1]

मौर्य-सम्राट **सम्प्रति वीर**शासनकी प्रभावना करनेवाले व्यक्तियोमे अग्रगण्य है। **सम्प्रति**द्वारा विदेशोमे प्रचारित जैन-धर्मके अवशेष, आज भी वहाँ बसनेवाली जातियोके जीवनमे पाये जाते है। **यूनानकी** 'समनिमा जाति' श्रमण परम्पराकी ओर इगित करती है। कहा जाता है कि सम्प्रतिने लाखो जिन-प्रतिमाएँ व मन्दिर बनवाये थे। अद्यावधि गवेषित पुरातत्त्व सामग्रीसे उपर्युक्त पक्तियोका लेश मात्र भी समर्थन नही होता। आज सम्प्रतिद्वारा निर्मित जो मूर्त्तियाँ घोषित की जाती है और उनकी विशेषताएँ बतलाई जाती है वे ये है––लम्बकर्ण, बगलसे

---

[1] **जैन एंटीक्वेरी भाग ५, अंक ३मे चित्र प्रदर्शित है।**

सम्बद्ध हाथ, पद्मासनके निम्न भागमें विभिन्न प्रकारके खुदे हुए बोर्डर-बेलबूटे, आदि मूर्तिकलाका अभ्यासी सहसा इसपर विश्वास नहीं कर सकता। कारण कि उपर्युक्त श्रेणीकी मूर्तियाँ जिनकी अद्यावधि उपलब्धि हुई है, वे सब श्वेत संगमरमरपर खुदी है, जब कि मौर्यकालमें इस पत्थरका, मूर्त्ति-निर्माणमें उपयोग ही नही होता था, बल्कि उत्तरभारतमे भी सापेक्षत इस पत्थरने कई शताब्दी बाद प्रवेश किया है। सच कहा जाय, तो अधिकतर जैन-मूर्तियाँ कुषाण-काल बाद की मिलती हैं। मध्यकालमे तो जैन मूर्त्ति-निर्माण-कला बडी सजीव थी। सम्प्रति द्वारा सभव है कुछ मूर्त्तियोका निर्माण हुआ हो, और आज वे उपलब्ध न हो।

स्तूप-पूजा

प्राप्त साधनोके आधारपर, दृढतापूर्वक, जैन-पुरातत्त्वका इतिहास ईसवी पूर्व आठवी सतीसे प्रारभ करना समुचित जान पडता है। मगध उन दिनो ही नही, बल्कि सूचित शताब्दीसे पूर्व, श्रमण-सस्कृतिका महान् केन्द्र था। उस समय जैनाश्रित शिल्प-कृतियाँ अवश्य ही निर्मित हुई होंगी, पर उतनी प्राचीन जैन-कलात्मक सामग्री, इस ओर उपलब्ध नही हुई। मेरा तो जहाँतक अनुमान है कि अभीतक मगधमे पुरातत्त्वकी दृष्टिसे खनन-कार्य बहुत ही कम हुआ है।

कुषाण-काल पूर्व मगधमे स्तूप-पूजाका सार्वत्रिक प्रचार था। अपने पूज्य पुरुषोके सम्मानमे या जीवनकी विशिष्ट घटनाकी स्मृति-रक्षार्थ स्तूप बनवानेकी प्रथाका सूत्र-पात किसके द्वारा हुआ, अकाटच प्रमाणोके अभावमे निश्चयरूपसे कहना कठिन है। पर जो ग्रन्थस्थ वाङ्मय हमारे सम्मुख उपस्थित है, उसपरसे तो यही कहना पडता है कि इस प्रकारकी पद्धतिका सूत्रपात जैनपरम्परामे ही सर्वप्रथम हुआ।

युगादिदेवको, एक वर्ष कठोर तपके बाद **श्रेयांस**कुमारने, आहार कराया था, उस स्थानपर कोई चलने न पावे, इस हेतुसे, एक थूभ-स्तूप बनवाये जानेका उल्लेख **"धर्मोपदेशमाला"**की वृत्तिमे इस प्रकार आया है—

जंमि पएसे गहिया, भिक्खा मा तत्थ कोई वत्तव्वेहि ,
ठाहि ति रि(२)-यव्वेहि, कम्रो थूभो कुमरेण[1] भत्तीए ॥

थूभ विषयक और भी दो-एक उल्लेख ग्रन्थमें आये हैं ।

इसी प्रकार जैनकथा-साहित्यमे **थूभ-स्तूप** विषयक प्रमाण मिलते हे । इनका अध्ययन वाछनीय है ।

अष्टापद पर्वतपर इन्द्र द्वारा तीन स्तूप स्थापित करनेका उल्लेख **श्रीजिनप्रभसूरि** अपने **"विविधतीर्थकल्प"**में इस प्रकार करते है—

रत्नत्रयमिवमूर्तं स्तूपत्रितय चितित्रयस्थाने
यत्रास्थापयदिन्द्रः सजयत्यष्टापदगिरीशः

पृ० ३१

प्राचीन तीर्थमालाओमें कई स्तूपो—थूभोकी चर्चा है ।

यो तो पुरातन विश्वसनीय जैन-स्तूप[2] मथुरामे उपलब्ध हुए है, परन्तु मेरा विश्वास है कि ईसवी पूर्व छठवी शती मगधमे बना करते थे । भगवान् महावीरके निर्वाण-स्थानपर एक स्तूप बनवाये जानेका उल्लेख जैन-साहित्यमे आता है । **पावापुरीसे** एक मील दूर आज भी एक भग्न **स्तूप** विद्यमान है । ग्रामीण जनताका विश्वास है कि यही भगवान् महा-वीरका निर्माण स्थान है । आचार्य **श्रीजिनप्रभसूरिजीने** विविधतीर्थ[3] कल्पान्तर्गत अपापाबृहत्कल्पमे जो उल्लेख किया है, वह ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है ।

तहा इत्थव पुरीए कत्तियअमावसारयणीए भयवओ निव्वाणट्ठाणे मिच्छद्दिट्ठीहिं सिरिवीरथूभट्ठाणठावियनागमंडवे अज्ज वि चाउवण्णिय-

---

[1] **धर्मोपदेशमाला, पृ० ८८ ।**
[2] **धर्मोपदेशमाला-ग्रन्थमें इसे "विश्वमहाथूभ" कहा गया है ।**
[3] **पृष्ठ ४४ ।**

लोआ जत्तामहूसवं करिति ॥ तीए चेव एगरत्तिए देव याणु भावेणं कुवायडिअजलपुण्णमल्लियाए दीवोपज्जलइ तिल्लं विणा ।

आज यद्यपि स्तूप मण्डवाच्छादित तो नही है, पर अजैन जनता, आज भी इसे बहुत ही सम्मानपूर्वक देखती है। एवं कार्तिक अमावस्याको उत्सव भी मनाती है। उल्लेखसे ज्ञात होता है कि विक्रमकी चौदहवी शताब्दीमे महावीर-निर्वाण-स्थानके रूपमें यह स्तूप प्रसिद्ध था। यदि वहाँ निर्वाण-सूचक अन्य महत्त्वपूर्ण स्थान होता, तो **जिनप्रभसूरिजी** उसका उल्लेख अवश्य ही करते। श्रद्धाजीवी जैन-समाज इस स्तूपको विस्मृत कर चुका है। इसकी ईंटे **राजगृहीकी** ईंटोके समान हैं। व्यासको देखते हुए ऐसा लगता है कि किसी समय यह बहुत विस्तृत रूपमे रहा होगा।

सभव है, खोज करनेपर और भी जैन-स्तूप उपलब्ध हो। जैन-बौद्ध-स्तूपोके भेदोको न समझनेपर पुरातत्त्वविज्ञ कैसी भूले कर बैठते है, इसपर डाक्टर स्मिथके विचारकी ओर ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ।

पिछली शताब्दियोका इतिहास इस बातकी साक्षी देता है कि कुषाणोके बाद भारतमे जैनाश्रित कृतियोका व्यापक रूपसे सृजन आरम्भ हो गया था। प्रान्तीय प्रभाव उनपर स्पष्ट है। ऐसी प्राचीन सामग्रीमे मगधकी कृतियाँ भी सम्मिलित है। **ऐल, गुप्त, सोम, कलचुरि, राष्ट्रकूट, चौलुक्य** और **वाघेलाओं**के समयमे भी अनेको महत्त्वपूर्ण जैनाश्रित कृतियाँ निर्मित हुई। इनमेसे कुछेक तो सम्पूर्ण भारतीयकलाका प्रतिनिधित्व कर सकती है। **आबू, खजुराहो, राणकपुर, श्रवणबेल्गोला, देवगढ़, जैसलमेर** और **कुंभारिया** आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है। वास्तुकलाके साथ मूर्तिकलामे भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। उत्तर पश्चिम कृतियाँ श्वेताम्बर सम्प्रदायसे सम्बद्ध हैं और दक्षिण पूर्वकी दिगम्बर सम्प्रदायसे।

भारतीय जैन-शिल्पका अध्ययन तबतक अपूर्ण रहेगा, जबतक वास्तु-कलाके अग-प्रत्यगोपर विकासात्मक प्रकाश डालनेवाले साहित्यकी विविध

शाखाओंका यथावत् अध्ययन न किया जाय, क्योंकि तक्षणकला और उसकी विशेषतामें परस्पर साम्य होते हुए भी, प्रान्तीय भेद या तात्कालिक लोकसस्कृतिके कारण जो वैभिन्य पाया जाता है, एवं उस समयके लोक जीवनको शिल्प कहाँतक समुचित रूपसे व्यक्त कर सका है, उस समयकी वास्तुकला विषयक जो ग्रन्थ पाये जाते हैं, उनमें जिन-जिन शिल्पकलात्मक कृतियोंके निर्माणका शास्त्रीय विधान निर्दिष्ट है, उनका प्रवाह कलाकारोंकी पैनी छैनी द्वारा प्रस्तरोंपर परिष्कृत रूपमें कहाँतक उतरा है ? यहाँतक कि शिल्पकला जब तात्कालिक सस्कृतिका प्रतिबिम्ब है, तब उन दिनोंका प्रतिनिधित्व क्या सचमुच ये शिल्पकृतियाँ कर सकती हैं ? आदि अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्योंका परिचय, तलस्पर्शी अध्ययन और मननके बाद ही सम्भव है । जैन-अवशेषोंको समझनेके लिए सारे भारतवर्षमें पाये जानेवाले सभी श्रेणीके अवशेषोंका अध्ययन भी अनिवार्य है, क्योंकि जैन और अजैन शिल्पात्मक कृतियोंका सृजन जो कलाकार करते थे, वे प्रत्येक शताब्दीमें आवश्यक परिवर्तन करते हुए एक धारामें बहते थे, जैसा कि वास्तुकलाके अध्ययनसे विदित हुआ है । प्रान्तीय कलात्मक अवशेषोंको ही लीजिए, उनमें साम्प्रदायिक तत्त्वोंका बहुत ही कम प्रभाव पायेंगे, परन्तु शिल्पियोंकी जो परम्परा चलती थी, वह अपनी कलामें दक्ष और विशेषरूपसे योग्य थी । मध्यकालके प्रारम्भिक जो अवशेष हैं, उनको बारहवीं शतीकी कृतियोंसे तौलें तो **बिहार, मध्यप्रान्त** और **बंगालकी** कलामें कम अन्तर पायेंगे । मैंने **कलचुरि** और **पालकालीन** जैन तथा अजैन प्रतिमाओंका इसी दृष्टिसे सक्षिप्तावलोकन किया है, उसपरसे मैंने सोचा है कि १०-१२ तक जो धारा चली—वही अन्य प्रान्तोंको लेकर चली थी, अन्तर था तो केवल बाह्य आभूषणोंका ही—जो सर्वथा स्वाभाविक था । तात्पर्य यह है कि एक परम्परामें भी प्रान्तीय कला भेदसे कुछ पार्थक्य दीखता है । प्राचीन लिपि और उनके क्रमिक विकासका ज्ञान भी विशेष रूपसे अपेक्षित है । मूर्तिविधानके अनेक अगोंका ठोस अध्ययन होना अत्यन्त

आवश्यक है। इतिहास और विभिन्न राजवशोके कालोमे प्रचलित कलात्मक शैली आदि अनेक विषयोका गभीर अध्ययन पुरातत्त्वके विद्यार्थियोको रखना पडता हैं। क्योंकि ज्ञानका क्षेत्र विस्तृत है। यह तो साकेतिक ज्ञान ठहरा।

शिल्पकी आत्मा वास्तुशास्त्रमे निवास करती है, परन्तु जैन-शिल्पका यदि अध्ययन करना हो तो हमे बहुत कुछ अशोमे इतर साहित्यपर निर्भर रहना पडेगा, कारण कि जैनोने जो शिल्पकलाको प्रस्तरोपर प्रवाहित करने-करानेमे जो योग दिया है, उसका शताश भी साहित्यिक रूप देनेमें दिया होता तो आज हमारा मार्ग स्पष्ट और स्थिर हो जाता। यो तो **वाराहमिहिरकी संहितामें** जैन-मूर्तिका रूप प्रदर्शित है, परन्तु जहाँतक वास्तुकलाके क्रमिक विकासका प्रश्न है, जैन-साहित्य मौन हैं।

प्रसगानुसार कुछ उल्लेख अवश्य आते है, जिनका सम्बन्ध शिल्पके एक अग प्रतिमाओसे है। यक्ष एव यक्षिणियोंके आयुध, स्वरूप आदिकी चर्चा '**निर्वाणक लिका**'मे दृष्टिगोचर होती हैं। **नेमिचंदका 'प्रतिष्ठासार' आचारदिनकर (वर्द्धमानसूरिकृत)** और ठक्कुर **फेरुकृत वास्तुसार**" आदि कुछ ग्रन्थोंके नाम लिये जा सकते हैं, परन्तु इन ग्रथोके उल्लेख मूर्तिकला और मदिरादि निर्माणपर कुछ प्रकाश डालते अवश्य है, किन्तु बहुत कुछ अशोमे **मानसार**का स्पष्ट अनुकरण है। **मंडन**ने यद्यपि स्वतन्त्र ग्रन्थ बनाये पर वे काफी बादके है। जब जैन-समाजमे कलाके प्रति स्वाभाविक रुचि न थी, केवल अनुकरण प्रवृत्तिका जोर था। **समरांगण सूत्रधार, रूपमंडन** और **देवतामूर्तिप्रकरण** जैसे ग्रन्थोसे हमारा मार्ग अवश्य ही थोडा-बहुत स्पष्ट हो जाता है। प्रतिष्ठा विषयक साहित्यमे भी कुछ सूचनाएँ मिल जाती है, वे भी एकागी ही है। बारहवी सदीके कुछ ग्रन्थोमे चर्चा है[१] कि **आर्य खपुट** और उसौर वाचक **उमास्वाति**ने भी '**प्रतिष्ठाकल्प**'-की रचना की थी। परतु आज तक उनकी ये कृतियाँ अन्धकारके गर्भमें

---

[१] **गणधरसार्द्धशतक वृत्तिमें इसकी सूचना है।**

है। ऐसी स्थितिमे जैनाश्रित—शिल्पकलाकी कृतियोंका अध्ययन बड़ा जटिल और श्रमसाध्य हो जाता है। समुचित साहित्यके प्रकाशके बिना शिल्पकलाका अध्ययन बहुत कठिन है। एक तो विषय भी आसान नही, तिसपर आवश्यक साधनोका अभाव। साहित्यसे प्रकाशकी आशा छोड़कर वर्त्तमानमे कलात्मक कृतियोके प्रकाशमे ही हमे अपना मार्ग खोजना होगा। विषय कठिन होते हुए भी उपेक्षणीय नही है। श्रम और बुद्धिजीवी विद्वान् ही इन समस्याओंको सुलझा सकते है।

आज भी गुजरात-काठियावाड़मे **'सोमपुरा'** नामक एक जाति है, जिसका प्रधान कार्य ही शास्त्रोक्त शिल्प विद्याके सरक्षण एवं विकासपर ध्यान देना है। ये जैन-शिल्पस्थापत्यके भी विद्वान् और अनुभवी है। इन लोगोकी मददसे एक आदर्श जैन-शिल्पकला सम्बन्धी ग्रन्थ अविलम्ब तैयार हो ही जाना चाहिए। इसमे इन बातोका ध्यान रखा जाना अनिवार्य है कि जिन-जिन प्रकारके शिल्पोल्लेख साहित्यमे आये है—वे पाषाणपर कहाँ कैसे और कब उतरे है, इनका प्रभाव विशेषत किन-किन प्रान्तोके जैन-अवशेषोपर पड़ा है, बादमे विकास कैसे हुआ, अजैनसे जैनोने और जैनसे अजैन कलाकारोने क्या लिया-दिया आदि बातोका उल्लेख सप्रमाण, सचित्र होना चाहिए। काम नि सन्देह श्रमसाध्य है, पर असम्भव नही है, जैसा कि अकर्मण्य सोच बैठते है।

अध्ययनकी सुविधाके लिए जैनाश्रित शिल्पकला कृतियोका विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

१ **प्रतिमा,**

२ **गुफा,**

३ **मन्दिर,**

४ **मानस्तम्भ,**

५ **इतर भाव-शिल्प,**

६ **लेख।**

१—प्रतिमा

जैन-पुरातत्त्वकी मुख्य वस्तु है मूर्ति। जैन-साहित्यमे इसकी अर्चनाका विशद् वर्णन है, परन्तु उपलब्ध मूर्तियोका इतिहास ईस्वी पूर्व ३००से ऊपर नही जाता। यों तो **मोहन-जो-दड़ो** और **हरप्पाके** अवशेषोकी कुछ आकृतियाँ ऐसी है जिन्हे जिन-मूर्ति कहा जा सकता है, पर यह प्रश्न अभी विवादास्पद-सा है। मौर्यकालीन कुछ मूर्तियाँ **पटना** सग्रहालयमे सुरक्षित है। इसपरकी पालिश ही इसका प्रमाण है कि वे **मौर्य** युगीन है। **सम्प्रति** सम्राट् द्वारा अनेक मूर्तियाँ बनवानेके उल्लेख आते है, पर मूर्तियाँ अभीतक उपलब्ध नही हुई। जो मूर्तियाँ सम्प्रतिके नामके साथ जोडी जाती है, वे इतनी प्राचीन नही है। काफी बादकी प्रतीत होती है। **मथुरा**मे जैन मूर्तियोका निर्माण पर्याप्त परिमाणमे हुआ। आयागपट्ट भी मिले है। **डा० बूलर** कहते है—"आयागपट्ट यह एक विभूषित शिला है, जिनके साथ '**जिन**'की मूर्ति या अन्य कोई पूज्य आकृति जुडी हुई रहती है। इनका अर्थ "**पूजा या अर्पणकी तख्ती**" कर सकते है, कारण कि अनेक शिलोत्कीर्ण लेखोंके उल्लेखानुसार "**अर्हंतोंकी पूजा**"के लिए ऐसी शिलाएँ मदिरमे रखी जाती थी। ये आयागपट्ट कलाकी दृष्टिसे भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते थे। चारो ओर विभिन्न अलकरणोके मध्य भागमे पद्मासनस्थ जिन रहते है। कुछ आयागपट्टोमे लेख भी मिले है। इन्हे जैनोकी मौलिक कृति कहे तो अत्युक्ति न होगी। इन पट्टोपर ईरानी कलाका प्रभाव भी स्पष्ट परि-लक्षित होता है। जैनाश्रित कलाके ये प्रयत्न विशुद्ध असाम्प्रदायिक है।

इन आयागपट्टोमे त्रिशूल एव धर्मचक्र[1]के चिह्न भी पाये जाते है जो जैनधर्ममान्य मुख्य प्रतीक है।

---

[1]**धर्मचक्र—**

यहाँपर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वस्तुतः धर्मचक्रका इतिहास

कुषाणकालीन जैनमूर्तियाँ भावशिल्पकी अनन्य कलाकृतियाँ हैं। उन दिनों मूर्तिकला उन्नतिके शिखरपर थी। कला और सौन्दर्यके साथ विभिन्न अलंकरणोसे विभूषित थी। इस युगकी मूर्तियाँ आदि जैनाश्रित-शिल्पपर वैदेशिक प्रभाव स्पष्ट है। उन दिनों पद्मासन और खड्गासन तथा सपरिकर और अपरिकर दोनों प्रकारकी मूर्तियाँ बनती थी। उस समयका परिकर सादा था। **मथुरा** जैनसंस्कृतिका व्यापक केन्द्र था। आज भी वहाँपर खुदाईकी अपेक्षा है।

बुद्धमूर्ति इन्ही जैनमूर्तियोका अनुकरणमात्र है। कुछ लोगोका अनुमान है कि **मोहन-जो-दड़ोकी** कलाका प्रभाव जैनमूर्तियोंपर पडा है। मूर्तिकलाका व्यापक प्रचार होते हुए भी उस समयका साहित्य मौन है। हाँ आगमोमे इनकी अर्चना-विधिका विशद् वर्णन उपलब्ध होता है। ऐसी स्थितिमे सिन्धु-सभ्यताके प्रभावकी कल्पना काम कर सकती है। पर एक बात है। **मोहन-जो-दड़ो** और कुषाणयुगके बीचका

क्या है ? यों तो श्रमणसंस्कृतिकी एक धारा बौद्धधर्मसे इसका संबंध आमतौरसे माना जाता है। बौद्ध-संस्कृतिसे प्रभावित इतिहासकारोंने माना है कि वह बौद्धपरम्पराकी मौलिक देन है। वे मानते हैं कि बाराणसीके पास सारनाथमें भगवान् बुद्धने प्रथम देशना देकर धर्मचक्र प्रवर्तन किया, और अशोकने इस प्रतीकको राजकीय संरक्षण दे इसे और भी व्यापक बना दिया, परन्तु वास्तविक सत्य तो कुछ और है। बात यह है कि यह प्रतीक मूलतः जैनोंका है। यों तो पौराणिक साहित्यसे स्पष्ट भी है कि इसकी प्रवर्तना जैनधर्मके प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव तीर्थंकरके द्वारा तक्षशिलामें हुई। यह तो हुई पौराणिक अनुश्रुति, परन्तु विशुद्ध साहित्यिक उल्लेखके अनुसार देखें तो भी जैन उल्लेख ही प्राचीन ठहरता है जो आवश्यक सूत्र निर्युक्तिमें इस प्रकार है—

शृंखला जोड़नेवाली सामग्री नहीं मिलती है। केवल साहित्यिक उल्लेखोसे ही सतोष करना पड़ता है। हाँ परवर्ती साहित्यमे संकेत अवश्य मिलता है, पर वह नाकाफ़ी है।

भारतके विभिन्न कोनोमे जैनमूर्तियोकी उपलब्धि होती ही रहती है। 'जिन'की मौलिक मुद्रा एक होते हुए भी परिकरमे प्रान्तीय प्रभाव पाया जाता है। मुखाकृतिपर भी असर होता है। इन मूर्तियोका **नृतत्त्व-शास्त्रकी** दृष्टिसे अध्ययन करे तो उनको इन विभागोमे बाँटना होगा। **उत्तरभारतीय, दक्षिणभारतीय** और **पूर्वभारतीय,** उत्तरभारतीय-गुजरात, राजस्थान, पंजाब, महाकोसल, मध्यप्रदेश, मध्यभारत और उत्तरप्रदेशकी प्रतिमाम्रोमे एक ही शैली मिलती है। मुखाकृति, शरीराकृति और अन्य उपकरणोमे काफी साम्य है। दक्षिणभारत द्राविड सभ्यताका दुर्ग माना जाता है। अत वहाँकी जैन-मूर्तियोपर भी उसका प्रभाव है। उपर्युक्त सूचित शैलीसे काफी भिन्नत्व है। पूर्वीभारतकी मूर्तियाँ तो अपना

" ततो भगवं विरहमाणो बहलीविसयं गतो, तत्थ बाहुबलीस्स रायहाणी तक्खसिला णामं, तं भगवं वेतालें य पत्तो, बाहुबलीस्स वियाले णिवेदितं जहा सामी आगतो। कल्लं सव्विड्ढिए वंदिस्सामि त्ति ण णिगतो, पभाते सामी विहरंतो गतो। बाहुबलीवि सविड्ढिए णिग्गतो, जहा वसन्न विभासा, जाव सामीं ण पेच्छति, पच्छा अर्धितिं काऊण जत्थ भगवं वुत्थो तत्थ धम्मचक्कं चिन्धकारेति। तं सव्वर यणमयं जोयणपरिमंडलं, जोयणं च ऊसितो वंडो, एवं केई इच्छंति। अन्ने भणंति—केवलनाणे उप्पन्ने तहिंगतो, ताहे सलोगेणं धम्मचक्कवि भूती अक्खाता, तेण कतंति।"

—आवश्यक सूत्र निर्युक्ति, पृष्ठ १८०–१८१

पटना आश्चर्यगृहमे ताम्रका एक धर्मचक्र सुरक्षित है, जो जैन-विभागमें रखा गया है।

स्वतन्त्र स्थान रखती है। वहाँके कलाकारोने अपने प्रान्तके उपकरणोका खूब प्रयोग किया है। उनकी मुखाकृति और नासिका तथा परिकरकी रचना शैली ही स्वतन्त्र है। वर्णित तीनो प्रकारकी कला-कृतियाँ भूगर्भसे प्राप्त हो चुकी है।

उत्तरभारतीय मूर्तिकलाके उत्कृष्ट प्रतीक मथुरा, लखनऊ और प्रयागके सग्रहालयमे सुरक्षित है। बहुसख्यक प्रतिमाएँ पुरातत्त्वविभागकी उदासीनताके कारण खण्डहर और अरण्यमे जंगली जातियोके, देवोके रूपमे पूजी जाती है। उत्तरभारतके खण्डहर और जगलोमे पाद-भ्रमण कर मैने स्वय अनुभव किया है कि सुन्दर-से-सुन्दर कला-कृतियाँ आज भी उपेक्षित है। इनकी रक्षाका कोई समुचित प्रबन्ध नही है। उत्तरभारतीय मूर्तियोके परिकरको गम्भीरतासे देखा जाय तो **भरहुत** और **साँचीके** अलकरणोका समन्वय परिलक्षित हुए बिना न रहेगा। मूर्तिके मस्तकके पीछेका भामडल और स्तम्भ तो कई मूर्तियोमे मिलेगे। पूजोपकरण भी मिलते है, जो स्पष्टत बौद्ध-प्रभाव है।

उड़ीसाके **उदयगिरि** और **खंडगिरिमे** इस कालकी कटी हुई जैन-गुफाएँ है, जिनमे मूर्तिशिल्प भी है। इनमेसे एकका नाम **रानी गुफा** है। यह दो मजली है और इसके द्वारपर मूर्तियोका एक लम्बा पट्टा है, जिसकी मूर्तिकला अपने ढगकी निराली है। उसे देखकर यह भाव होता है कि वह पत्थरकी मूर्ति न होकर एक ही साथ चित्र और काष्ठ-परकी नक्काशी है[1]।

मुझे उडीसामे विचरण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। **सम्बलपुर** और **कटक** जिलेमे बहुत-से जैन अवशेष अरक्षित दशामे पडे है। इस ओर काष्ठका काम पर्याप्त होता है। मुझे भी एक काष्ठकी जैनप्रतिमा प्राप्त हुई थी। **उड़ीसाकी** कलाका एक जैन-मदिरका सम्पूर्ण तोरण आज भी

---

[1]**भारतीय मूर्तिकला, पृ० ६०**

पटनाके **दीवान बहादुर श्रीयुत राधाकृष्ण** जालानके संग्रहमें सुरक्षित है। इसपर चतुर्दश स्वप्न और कलश उत्कीर्णित है। जैन-दृष्टिसे इस ओर अन्वेषण अपेक्षित है[1]।

उत्तरभारतीय जैनमूर्तिकलामें सामाजिक परिवर्तन और प्रान्तीय प्रभाव स्पष्ट है। उदाहरणार्थ **महाकोसल** और **गुजरातको** ही लें। **महाकोसल** और **विन्ध्यप्रान्तकी** जैन-मूर्तियाँ भावोंकी दृष्टिसे एक-सी हैं, पर उनके परिकरोंमें दो तीन शताब्दी बाद काफी परिवर्तन होते रहे हैं। अष्टप्रातिहार्यके अतिरिक्त श्रावकोंकी जो मूर्तियाँ सम्मिलित होती गईं, उनसे परिवर्तनकी कल्पना हो सकती है। **कुषाणकालीन** प्रभामंडल सादा था, गुप्तकालमें अलंकरणोंसे अलंकृत हो गया और गुप्तोत्तर कालमें तो वह पूरी तौरसे, इतना सज गया कि मूल प्रतिमा ही गौण हो गई। महा-कोसल एवं तत्सन्निकटवर्ती प्रदेशोंके परिकरोंमें साँचीके प्रभावके साथ कलचुरियोंके समयकी मूर्तिकलामें व्यवहृत उपकरणोंका भी प्रभाव है। मेरा जहाँतक विश्वास है महाकोसलका परिकर बड़ा सफल और सजीव बन पड़ा है। इसके विकासमें सिंहासनके आकारोंमें स्वतंत्रता और मौलिकता है। प्रभामंडल और छत्र भी अपने हैं। सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि कुछ मूर्तियाँ **तेवर** और **बिलहरीमें** ऐसी भी मिली हैं, जिनपर सम्पूर्ण शिखराकृति आमलक, कलशके भाव खुदे हैं। अपने आपमें वे मन्दिरका रूप लिये हुए हैं। एक और विशेषता है। इस ओर दिगम्बर जैनोंका प्राबल्य है। अतः बाहुबलीजी भी परिकरमें सम्मिलित हो गये हैं। तीर्थंकरोंके जीवनकी मुख्य घटनाएँ भी आ जाती हैं। इसपर मैंने अन्यत्र विचार किया है।

---

[1] **बांकुड़ा जिला तो बिल्कुल अछूता ही है जो ओरिसाकी सीमापर है। लाल पाषाणपर जैन अवशेष प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होते हैं। श्री राखालदास बनरजीने कुछ अन्वेषण किया था, पर वह प्रकाशित न हो सका। मुझे श्रीकेदार बाबू (सं० मोडर्न रिव्यू) ने यह सूचना दी थी।**

खड्गासन मूर्तियाँ, जो गुप्तोत्तरकालीन और सपरिकर हैं, उनपर गुप्तमदिरोकी शैलीका बहुत असर है। ऐसी एक खड्गासनस्थ प्रतिमा मेरे निजी सग्रहमे सुरक्षित है। इसका परिकर बडा सुन्दर और सर्वथा मौलिक है। इसमे दोनों ओर दो उडते हुए कीचक बतलाये गये है। पेट भी निकले हुए है, मानो सारा वजन उन्हीपर हो। ऐसी आकृति गुप्तकालीन मन्दिरोंके स्तम्भोंमे खुदी हुई पाई गई है।

गुजरातमे विकसित सपरिकर मूर्तिकलाके प्रतीक **आबू** व **पाटनमें** विद्यमान है। वहाँपर भी प्रान्तीय उपकरणोका व्यवहार हुआ है। सापेक्षत विशाल प्रतिमाएँ (खड्गासनस्थ) **विन्ध्यभूमि** और **महाकोसलमे** मिलती है। थोडे बहुत प्रान्तीय भेदोको छोड दे तो स्पष्टतह उत्तरीयकला परिलक्षित होगी।

पूर्वीय कलाकृतियाँ **मगध** और **बंगालमें** मिलती है। **मगध** और **बंगालके** परिकर बिलकुल अलग ढगके होते है। मगधके कलाकारोने **'पाल'** प्रभावको नही भुलाया। वहाँ प्रस्तर के अतिरिक्त चूनेके पलस्तर-की प्रतिमाएँ भी मिलती है।

उत्तर और पूर्वीय जैन-मूर्तिकलाकी परपरा १४वी शताब्दीके बाद रुक-सी जाती है। इसका यह अर्थ नही कि मूर्तियाँ बनती न थी। पर उनमे कलात्मक दृष्टिकोणका अभाव स्पष्ट है।

दक्षिणभारतीय जैन-मूर्तिकलाका इतिहास ईस्वी पूर्व २००-१३०० तकका माना जाता है। इस ओर भी जैनोका सार्वभौमिक व्यक्तित्व बडा उज्ज्वल रहा है। विभिन्न राजवशोने अपने-अपने समयमे शिल्पकी उन्नतिमे योग दिया है। दक्षिणभारतीय मूर्तिकलाके उत्कृष्ट प्रतीक आज भी सुरक्षित है। भावोकी अपेक्षा यहाँकी मूर्तियोंमें भले ही समानता प्रतीत होती हो, पर कलाकी दृष्टिसे उनमें काफी अतर है—जो देश भेदके कारण स्वाभाविक है। उनका अग-विन्यास और मुखाकृति **द्राविड़ियन**

है। उनका प्रभामण्डल आदि परिकरके उपकरण दोनो शैलियोसे सर्वथा भिन्न है।

धातु प्रतिमाएँ—

कलाकार आत्मस्थ सौन्दर्यको उत्प्रेरक कल्पनाके सम्मिश्रणसे उपादान द्वारा रूप प्रदान करता है। इसमें उपादानकी अपेक्षा आन्तरिक सुकुमार भावोकी ही प्रधानता रहती है। तात्पर्य कि उपादान कैसा ही क्यो न हो, यदि कलाकारमें सौन्दर्य-सृष्टिकी उत्कृष्ट क्षमता है, तो वह भावोका व्यतिकरण सफलतापूर्वक कर देगा। जैनाश्रित कलाकारोने यही किया। इसीकारण जैन-मूर्त्ति-कलामे सभी प्रकारके उपादानोका सफलतापूर्वक उपयोग हुआ।

सुरक्षाकी दृष्टिसे धातुकी उपयोगिता विशेष मानी गई है। प्रस्तर मूर्त्तिमे खण्डित होनेकी सभावना रहती है। कालान्तरमे पपडियाँ पड जाती है। कभी-कभी भक्तकी असावधानीसे उपाग खण्डित हो सकता है, पर धातु-मूर्त्तियाँ इन सबका अपवाद है। अभीतक पुरातत्त्वके विद्वान मानते आये थे कि धातुकी सर्वोत्कृष्ट प्रतिमाएँ बुद्धदेव ही की उपलब्ध होती है, जैन लोग धातु-मूर्त्ति-निर्माणकलामें बहुत ही पश्चात्पद है, परन्तु गत दश वर्षोंमे अनुसन्धानद्वारा जितनी भी जैन-धातु-प्रतिमाएँ प्राप्त हुई है, वे न केवल धर्म एव जैनाश्रित कलाकी दृष्टिसे ही महत्त्वकी है, अपितु भारतीय मूर्त्तिनिर्माण परम्पराके इतिहासका नवीन अध्याय खोलती है। इन मूर्त्तियोने प्रमाणित कर दिया है कि गुप्त कालमे इस प्रकारकी कलाकृतियोका सृजन न केवल **उत्तरभारत** या **बिहारमें** ही होता था, अपितु पश्चिम भारतवासी शिल्पी भी एतद्विषयक मूर्त्तिनिर्माण पद्धतिसे अनभिज्ञ न थे। उपलब्ध जैन-धातु-प्रतिमाओका विवेचनात्मक इतिहास उपलब्ध नही है, पर तद्विषयक सामग्री पर्याप्त है। अब समय आ गया है कि विशृखलित कडियोको एकत्र कर शृखलाका रूप दे।

धातुमूर्त्ति-निर्माण-कलाका केन्द्र कुर्किहार या नालिन्दा माना जाता रहा है। यहाँ बौद्ध-संस्कृतिके उपकरणोको कलाचार्यो द्वारा रूपदान दिया जाता था। यो भी बौद्धोने, सापेक्षत रूप निर्माणकलामे पर्याप्त उन्नति की है। जब अनुकूल उपकरण मिल जायँ, तो फिर चाहिए ही क्या। चीनी पर्यटकोके यात्रा-विवरणो व तात्कालिक ग्रन्थस्थ उल्लेखोसे सिद्ध होता है कि 'मगध' प्राचीन कालमे श्रमण-परम्पराका महाकेन्द्र था। गुप्त-कालमे जैन-सस्कृति उन्नत रूपमे थी। यद्यपि इस कालकी शिल्प-कृतियाँ आज मगधमे कम उपलब्ध होती हैं, पर राजगृहकी विभिन्न टोकोपर एव पाँचवी टोकके भग्न जैन-मन्दिरमे जो जैन-मूर्त्तियाँ उपलब्ध है, वे न केवल गुप्तकालीन मूर्त्तिकलामे व्यवहृत अलकरणोसे विभूषित है, अपितु कुछ एक तो ऐसी भी है जिनकी तुलना, गुप्तकालीन बौद्ध मूर्त्तियोसे सरलतापूर्वक की जा सकती है। उन दिनो जैन-धातु-मूर्त्तियोका निर्माण मगधमे हुआ था या नही ? यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता, किन्तु पटना आश्चर्यगृहमे जैन-धातु-मूर्त्तियोका अच्छा-सा सग्रह सुरक्षित है। साथ ही एक धर्मचक्र भी है। इन कृतियोपर लेखका अभाव होते हुए भी ये गुप्तोत्तर और गुप्त कालके मध्यकी रचनाएँ है। कारण कि मगधकी क्रमक विकसित मूर्त्ति-परम्पराके अध्ययनकी स्पष्ट छाप है। उपर्युक्त सग्रह मगधसे ही प्राप्त किया गया है।

भारत-कला-भवन (बनारस)मे एक सुन्दर लघुतम जैन-धातु-मूर्त्ति देखी थी, जो मूलत **स्वर्णगिरी**के भट्टारककी थी, जैसा कि कटनीके एक जैन तरुण द्वारा ज्ञात हुआ। यह गुप्त कालीन है।

कुछ वर्ष पूर्व **बड़ौदा** राज्यान्तर्गत विजापुरके निकट **महुडी** ग्रामके कोटचर्कजीके मन्दिरमे खुदाईके समय, चार अत्यन्त सुन्दर व कलापूर्ण जैन-धातु-प्रतिमाएँ, अन्य स्थापत्योके साथ उपलब्ध हुई थी। जिनमेसे तीन तो बडौदा पुरातत्त्व विभागने अधिकृत कर ली, एव एक उसी मन्दिरके महतके सरक्षणमे है। सीमेटसे दिवालमे जड दी गई है। इन चारो मूर्त्तियोके

चित्र, **रिपोर्ट आफ दि आर्क्योलाजिकल सर्वे बड़ौदा स्टेट १९३७—३८**में प्रकाशित है। मूर्त्ति विज्ञानका सामान्य अभ्यासी भी इसके जैन होनेकी लेशमात्र भी शंका नही कर सकता। ऐसी स्थितिमे तात्कालिक पुरातत्त्व विभागके प्रधान डाक्टर **हीरानन्द** शास्त्रीने, इन कृतियोको **बौद्ध** घोषित कर दिया। जब कि इनपर खुदे हुए लेख भी, जैनपरम्परासे जुडे हुए है। शास्त्रीजीके भ्रान्त मतका निरसन डाक्टर **हँसमुखलाल** साकालिया[1] व श्रीयुत **साराभाई** नवाबने भलीभाति कर दिया है। डाक्टर शास्त्रीजीने इन मूर्त्तियोके अध्ययनमे जैन-दृष्टिकोणका बिलकुल उपयोग नही किया है, जैसा कि उनके द्वारा उपस्थित किये गये मन्तव्योसे ज्ञात[2] होता है। डाक्टर शास्त्रीजी इन मूर्त्तियोमे-से, दीवालमे लगी मूर्त्तिका समय सातवी शती स्थिर करते है। उनके असिस्टेट **श्री गद्रे** ई० स० ३०० मानते है और श्री साराभाईनवाब **"वैरिगण"** शब्दसे इसे भी दो शताब्दी आगे ले जाते है, पुरातन धातु प्रतिमाओमे यही एक मूर्ति सलेख है।

जैन-मूर्त्ति-कलाके विषयमे विद्वानोमे एक भ्रम फैला हुआ है। "प्राचीनतर मूर्त्तियोमे, केश, कधोपर खुले गिरे होते है। प्राचीन जैन-तीर्थंकर मूर्त्तियोके न तो 'उष्णीष' होता है न 'ऊर्णा' परन्तु मध्यकालीन प्रतिमाओके मस्तकपर एक प्रकारका हल्का शिखर मिलता है।"[4] उपर्युक्त पक्तियोमे सत्याश बहुत कम है। पुरातन जैन-धातु-प्रतिमाओमे एव कही-कही प्रस्तर प्रतिमाओमे भी 'उष्णीष' व 'ऊर्णा'का अकन स्पष्टत मिलता है, एव स्कध प्रदेशपर फैले हुए बाल तो केवल ऋषभदेव स्वामीकी

---

[1] **बुलेटिन आफ दि डेक्कन कालेज रिसर्च इन्स्टिटयूट, मार्च १९४०।**

[2] **भारतीय विद्या भाग १, अंक २, पृष्ठ १७९–१९४।**

[3] **रिपोर्ट आफ दि आर्कियोलाजिकल सर्वे बड़ौदा स्टेट १९३७–३८।**

[4] **वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ २२६।**

ही मूर्तिमे मिलेगे। यह उनकी विशेषता है। इसकी सप्रमाण चर्चा मैं अन्यत्र कर चुका हूँ।

यह लिखनेका एकमात्र कारण यही है कि उल्लिखित जैन-धातु-प्रतिमामे, जो प्राचीन है, 'उष्णीष' 'ऊर्णा' स्पष्ट है। मूर्तिपर लेख उत्कीर्णित है—

नम[:] सिद्ध [नम] वैरिगणस .उप[रि] का-आर्य-संघ-श्रावक–"

अभी-अभी बडौदा राज्यान्तर्गत **अंकोटक**[1]—अकोटाके अवशेषोंमेसे पुरातन और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जैन-धातु-प्रतिमाओका अन्यतम सग्रह प्राप्त हुआ है। बडौदामे **मगनलाल** दर्जीके यहाँ खुदाईके समय भी धातु-मूर्तियोका अच्छा सग्रह उपलब्ध हुआ है। इनमेसे कुछ एकका परिचय वहाँके ही श्रीयुत **उमाकान्त**[2] **प्रेमानन्द** शाहने व पडित **लालचन्द्र**[3] भगवान-दास गाधीने अपने लेखोमे दिया है।

नवोपलब्ध मूर्तियाँ भारतीय जैनमूर्त्ति-विधानमे क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सके, ऐसी क्षमता है। इन प्रतिमाओमे एक प्रतिमा ऐसी है, जिसपर

ओं देवधर्मोयं निवृत्तिकुले जिनभद्र वाचनाचार्यस्य ॥

---

[1] गुजरातकी प्राचीन ऐतिहासिक सामग्रीसे परिपूर्ण नगरोंमें इसकी भी परिगणना की जाती है। विक्रमकी नवीं शताब्दीमें लाटेश्वर सुवर्ण वर्ष—कर्क राज्य-कालमें अंकोटक भी चौरासी ग्रामोका मुख्य नगर था। शक संवत् ७३४, विक्रम संवत् ६६९के दान-पत्रसे विदित होता है कि नवम-दशम शताब्दीमें अंकोटकका सांस्कृतिक महत्त्व अत्यधिक था। जैनोंका निवास भी प्राप्त मूर्त्तियोसे प्रमाणित होता है।

[2] जर्नल आफ ओरियण्टल इन्स्टिटयूट बरोरा, वॉ० १, नं० १, पृ० ७२-७९।

[3] जैन-सत्यप्रकाश, वर्ष १६, अंक १०।

शब्द अंकित[1] है। श्रीशाहका ध्यान है कि यह **जिनभद्रगणी** क्षमाश्रमण, **'विशेषावश्यकभाष्य'**के रचयिता ही हैं। इसके समर्थनमें वे उपर्युक्त लेखकी लिपिको रखते हैं--जिसका काल ईस्वी पाँच सौ पचाससे छह सौ पड़ता है। वलभीके मैत्रकोके ताम्र-पत्रोकी लिपिसे यह लिपि मेल रखती है।

सापेक्षत यह मूर्ति, कलाकी दृष्टिसे भी, प्राप्त मूर्तियोमे पुरातन जँचती है। प्रकाशित चित्रोपरसे मूर्तियोका सौन्दर्य देखा जा सकता है। मध्य भागमे भगवान् युगादिदेवकी प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रामे है। तनपर वस्त्र[2] स्पष्ट है। चरणके निकट उभय मृग, साश्चर्य मुख-मुद्रामे ऊपरकी ओर झाँक रहे है। बाई ओर कुबेर (द्विहस्त) और दाईं ओर अम्बिका[3] है। इसकी रचनाशैली स्वतत्र है। पृष्ठ भागमे लेख उत्कीर्णित है। इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। श्रीशाह सूचित करते है कि मूर्तिके पास २ छिद्र है, उनमें २३ तीर्थकरोकी, प्रभावकी युक्त पट्टिका थी. अब भी दुरअवस्थामे है। मूर्ति 'सोष्णीष' है।

जीवन्तस्वामी--

उपर्युक्त प्रतिमाकी सामान्य चर्चा तो इस निबधमे हो चुकी है, परन्तु इस भाववाली प्रतिमाका सक्रिय स्वरूप कैसा था ? और किस शतीतक

---

[1] एक अन्य प्रतिमापर "ओं निवृत्तिकुले जिनभद्रवाचनाचार्यस्य" लेख है।

[2] वस्त्र भी पुरातन शैलीका है। छोटे-छोटे फूलोसे सुसज्जित किया गया है, जैसा कि उस कालकी अन्य मूर्तियोंमें देखा जाता है। उस समयकी वस्त्र-निर्माण-पद्धतिका परिचय इससे मिल सकता है। धोतीमें गांठ बाँधनेका ढंग वसंतगढ़की प्रतिमाओंसे मिलता-जुलता है।

[3] अम्बिका देवीके तनपर पड़े हुए वस्त्र, उसकी आँख, नासिका, मुख-मुद्रा, आदिका तुलनात्मक अध्ययन, ताड़पत्रीय चित्रोसे होना चाहिए।

वैसा रहा, आदि महत्त्वपूर्ण विषयपर, प्राप्त मूर्त्तिसे प्रकाश पड़ेगा। जीवन्त स्वामीकी मान्यताका सांस्कृतिक रूप कैसा था ? इसका पता **वसुदेव**[1] **हिंडी** '**बृहत्कल्पभाष्य**'[2]—**निशीथचूर्णि**'[3] और **त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र** आदि ग्रन्थोके परिशीलनसे लगता है[4]। यों तो कतिपय धातु-मूर्त्तिएँ भी, इस नामकी मिलती है, पर उनमे 'भावयति'का अकन न होकर, वीतरागावस्थाका सूचन करती है। हाँ, अकोटसे प्राप्त प्रतिमा इस विषयपर प्रामाणिक प्रकाश डालती है। प्रतिमा दुर्भाग्यसे खडित है। दाहिना हाथ टूट गया है। पादपीठ युक्त मूर्तिकी ऊँचाई १५½ इच है। चौडाई ४½ इच है। तीन टुकडोमे विभक्त निम्न लेख उत्कीर्णित है—

१ ओं देवधर्मोयं जिवंतसामि

२ प्रतिमा चन्द्र कुलिकस्य

३ नागीस्वरी (१ नागीश्वरी) श्राविकस्याः (कायाः)

अर्थात्—ओ यह देवनिमित्त दान है, जीवन्तसामी प्रतिमाका, चन्द्र-कुलकी नागीश्वरी नामक श्राविकाकी ओरसे"

लेखकी मूल लिपिमे 'च'के आगे स्थान छूटा हुआ है। सम्भव है 'न्' छूट गया हो। प्रकाशित लिपिकी तुलना, ई० स० ५२४-६००के बीचके वल्लभीके मैत्रकोकी दानपत्रोकी लिपिसे, की जा सकती है।

---

[1] **भाग १, पृ० ६१।**

[2] **भाग ३, पृ० ७७६।**

[3] **ताडपत्रीय पोथी जो आचार्य श्री जिनकृपाचंद्रसूरि-संग्रह (सूरत) में सुरक्षित है। १२वीं शताब्दीकी यह प्रति सूरतके एक सज्जनसे वि० सं० १९९३में पूज्य गुरुवर्य्य श्री उपाध्याय मुनि सुखसागरजी महाराजको प्राप्त हुई थी। पाठ इस प्रकार है—**

"अण्णया आयरिया वतिदिशं जियपडिमं वंदिया गता"।

[4] **जैन-सत्यप्रकाश वर्ष १७, सं० ५-६, पृ० ९८-१०९।**

हाँ, इसकी मोडमे अन्तर अवश्य पडेगा,—पर बहुत थोडा। उपयुक्त लेखमे प्रतिष्ठा कालका उल्लेख नही है, अत. लिपिके आधारपर ही कल्पना की जा सकती है। श्रीशाहने इसका आनुमानिक काल ई० स० ५५० लगभग स्थिर किया है।

प्रतिमा कलाका उच्चतम प्रतीक है। देखकर अन्तर्नयन तृप्त होते है। मस्तकपर मुकुट है। कर्णमे कुडल, हाथमे बाजूबन्द व कडे, गलेमे मौक्तिकमाला, कमरबन्द आदि राजकुमारोचित आभूषणोसे विभूषित है। मुखमुद्रा प्रशान्त व प्रसन्न है। इसकी निर्माणशैली, सापेक्षत स्वतत्र जान पडती है।

इसी प्रकारकी धातुमूर्ति, आठवी शतीकी, स० १९५६मे अकालके समय प्राप्त हुई थी, जो वर्तमानमे **पिंडवाडा**मे सुरक्षित है।[1] प्रतिमा आदिनाथ भगवान्‌की है। चार फुटसे कुछ अधिक ऊँची है। ऐसी एक और प्रतिमा है, जिसपर इसप्रकार पाँच पक्तिमे लेख उत्कीर्णित है—

१ ॐ नीरागत्वादिभावेन सर्व्वज्ञत्व विभावकं।
ज्ञात्वा भगवतां रूपं, जिनानामेवपावनं॥
द्रो—वयक

२ यशोदेव देव भि रिदं जैनं—कारितं युग्ममुत्तमं॥

३ भवशतपरंपराज्जित—गुरुकर्म्मरसो (जो)
त वर दर्शनाय शुद्धसज्ज्ञनचरणलाभाय॥

४ संवत ७४४।

५ साक्षात्पितामहेनेव, विश्वरूपविधायिना।
शिल्पिना शिवनागेन कृतमेतज्जिनद्वयम्॥[2]

---

[1]इसका पूर्ण परिचय "नागरी प्रचारिणी पत्रिका" (बनारस)के नवीन संस्करण भा० १८, अं० २, पृ० २२१-२३१में, मुनि श्री कल्याण-विजयजी द्वारा दिया गया है।

[2]वीतरागत्वादि गुणसे सर्वज्ञत्व प्रकट करानेवाली, जिनेश्वर भगवन्तों-

इसप्रकारके मूर्ति लेख कम मिलते है। जिनमे मूर्ति-निर्माण-का कारण व लाभ बताये गये हो, और स्थपति का भी नामोल्लेख हो। धातु-प्रतिमाएँ, आठवी शतीकी सूचित मदिर में हैं[1]।

वांकानेर (सौराष्ट्र) व **अहमदाबादके** मदिरोमें सातवी आठवी शताब्दीकी धातुमूर्तियाँ सुरक्षित है। इसी कालकी जैनधातु-मूर्तियाँ दक्षिण भारतमे भी पाई जाती है।

जोधपुरके निकट गाधाणी तीर्थमे भ० ऋषभदेव स्वामीकी धातुमूर्ति ९३७ की है, लेख इस प्रकार है—

१ **ॐ॥ नवसु शतेष्वब्दानां। सप्तत्(त्रि) शदधिकेश्वतीतेषु। श्रीवच्छलांगलीभ्यां**

२ **परमभक्त्या॥ नाभयेजिनस्यैषा॥ प्रतिमाऽषाडार्द्धमासनिष्पन्ना श्रीम-**

३ **तारेणकलिता। मोक्षार्थं कारिता ताभ्यां ज्येष्ठार्यपदं प्राप्तौ द्वावपि**

की मूर्ति ही है। (ऐसा) जानकर....यशोदेव....आदिने यह जिनमूर्तियुगल बनवाया। शताधिक भव परम्परयोपार्जित कठिन कर्मरज (नाशार्थ एवं) सम्यग्दर्शन, विमल ज्ञान और चारित्रके लाभार्थ, वि० सं० ७४४ (में यह युगल मूर्तिकी प्रतिष्ठा हुई) साक्षात्ब्रह्मा समान सर्व प्रकारके रूप (मूर्तियाँ) निर्माता शिल्पी शिवनागनें इसे बनाया॥

श्री जैनसत्यप्रकाश वर्ष ७ अं० १-२-३, पृ० २१७।

[1]**स्व० बाबू पूर्णचन्द्र नाहरके संग्रहमें ८वीं शतीकी एक मूर्ति है जिसमें कनाडी लेख हैं। मूर्ति अत्यन्त सुन्दर है।**

"रूपम्" १९२४, जनवरी, पृ० ४८।

४ जिनधर्मवच्छलौ ख्यातौ । उद्योतनसूरेस्तौ । शिष्यौ—श्रीवच्छ-बलदेवौ ॥

५ सं० ९३७ अषाढार्द्धे ।[1]

११वीं शताब्दी

श्री मगनलाल दर्जीके संग्रहकी धातुमूर्तियाँ अभी ही प्रकाशमें आई है, उसमे जो मूर्तियाँ है, उनकी संख्या तो अधिक नही है, पर ग्यारहवी शतीके बाद या उससे कुछ पूर्व मूर्तिनिर्माणमे सामयिक परिवर्तन होने लगे थे, उनके क्रमिक विकासपर प्रकाश मिलता है। इसके समर्थनमें, लेखयुक्त अन्य प्रतीकोकी भी अपेक्षा है, इनसे ज्ञात होगा कि हमारी धातुशिल्प परम्परा कितनी विकसित रही है। इनको मै प्रान्तीय कला-सीमामे न बाँधकर भारतीय संस्करण कहना अधिक उपयुक्त समझूंगा।

श्वेताम्बर-जैन-परम्परामें निवृतिकुलीन आचार्य **द्रोणाचार्यका** स्थान महत्त्वपूर्ण है। ये राजमान्य आचार्य गुर्जरेश्वर **भीमके** मामा थे। श्री **अभयदेवसूरि** रचित नवागवृत्तियोके संशोधनमे आपने सहायता दी थी। ये स्वयं भी ग्रन्थकार थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित धातुमूर्ति[2] पर इस प्रकार लेख खुदा है—

"देवधर्मायं निवृतिकुले श्री द्रोणाचार्यैः कारितो जिनत्रयः । संवत् १००६"

स्व० बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहरके संग्रहमे सं० १०११[3], **'कडी'**[4] के जैन मंदिरमे शक ९१० (वि० १०४५), गोडीपार्श्वनाथ मंदिरमे (बम्बई) वि०

---

[1] **जैनलेखसंग्रह भा० १ लेखांक १७०९ ।**

[2] **मगनलाल दर्जीके संग्रहसे प्राप्त हुई ।**

[3] **जैनलेखसंग्रह, भा० १, ले० १३४, पृ० ३१ ।**

[4] **जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह भा० १, पृ० १३२ ।**

सं० १०६३[1], नाहर सग्रहमे सं० १०७७[2]की, कलकत्ता तूलापट्टी स्थित खरतरगच्छीय वृहत्मदिर स्थित वि० स० १०८३,[3] सं० १०८४की भीमपल्ली[4] रामसेन स्थित मूर्ति, स० १०८६की जैसलमेरीय प्रतिमा, ग्रोसीया (राजस्थान)की स० १०८८[5]की, और गौडीपार्श्वनाथ[6]मंदिर (बम्बई)की वि० स० १०९०की मूर्तियोके अतिरिक्त अभी भी अनेक मूर्तियाँ अन्वेषणकी प्रतीक्षामे है। उदाहरणार्थ बीकानेर[7]के चिन्तामणि

---

[1]भारतनां जैनतीर्थो अने तेमनुं शिल्प स्थापत्य, प्लेट १७।

[2]जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३।

[3]जैन-धातु प्रतिमा लेख, पृ० १।

[4]जैनयुग व० ५ अं० १-३, "जैनतीर्थ भीमपल्ली और रामसैन" शीर्षक निबंध।

[5]जैनलेखसंग्रह, भा० १, ले० ७९२, पृ० १९५

[6]श्री साराभाई नवाबने अपने "भारत ना जैनतीर्थो अने तेमनुं शिल्प स्थापत्य" नामक ग्रन्थमें (परिचय पृ० ७) सूचित करते हैं कि "इस प्रतिमामें मस्तकके पीछेकी जटा गरदन तक उतर आई है, वैसी अन्यत्र नहीं मिलती"। पर मुझे ९ शतीकी धातुमूर्ति, जो सिरपुरसे प्राप्त हुई है, उसमें इस प्रतिमाके समान ही जटा है। मैंने ही साराभाईका ध्यान इस ओर, आजसे १२ वर्ष पूर्व आकृष्ट किया था।

[7]संवत् १६३३में तुरसमखानने सीरोही लूटी । वहाँसे १०५० मूर्तियाँ सम्राट् अकबरके पास फतहपुर भेज दीं। सम्राट्ने विवेकसे काम लिया। अतः उन्हें गलाकर स्वर्ण न निकाला गया। बादशाहने अपने अधिकारियोंको कड़ा आदेश दे रखा था कि उनकी बिना आज्ञाके ये किसीको न दी जायें। मंत्रीश्वर कर्मचंद्रने बादशाहको प्रसन्न कर यह कला सम्पत्ति प्राप्त की, मंत्रीश्वरने अपने चातुर्यसे भारतीय मूर्तिकलाकी मूल्यवान् सामग्री बचा ली। युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि, पृ० २१७-१८

पार्श्वनाथ मदिरके भूमिगृहमें १०५०से अधिक जैन-धातुमूर्तियाँ सुरक्षित हैं, इतना विराट् सग्रह एक ही स्थानपर शायद ही कही उपलब्ध हो। इसमें ९-१० शताब्दियोकी दर्जनो कलापूर्ण प्रतिमाएँ है, कुछेक गुप्तकालीन भी जँचती है। पर उनकी सख्या अत्यन्त परिमित है।

११वी शती बादकी धातुमूर्तियाँ भारतके विभिन्न भागोमे प्राप्त होती है, पर उनकी विशद् चर्चाका यह क्षेत्र नही है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कला और सौदर्यकी उज्ज्वल परम्पराका प्रवाह १२वी शती तक तो, ले-देकर चला, पर १३वीके बाद तो विलुप्त हो गया। मूर्तियाँ तो बाद भी, सापेक्षत अधिक निर्मित हुई, पर उनमे सौदर्यका अभाव है। यद्यपि शिल्पिगणने पुरातन परम्पराके अनुकरणकी चेष्टा तो की है, पर रहे असफल। हाँ, लिपिका सौदर्य अवश्य सुरक्षित रहा। कुछेक मूर्तियोपर, पृष्ठ भागमे, चित्र भी उकेरे गये है।

१३वी शतीकी बादकी मूर्तियाँ प्राय सपरिकर मिलेगी। वह परिकर भी पुरातन नही, नवीन है। मेरा खयाल है कि बृहत्तर प्रस्तर मूर्तिगत परिकरोका इनमे अनुकरण किया है। विस्तृत स्थानमे विभिन्न, कलाके अलकरणोका व्यतिकरण सरल है, पर लघुतम स्थानमे अधिक उपकरण भरेगे तो उसमे रससृष्टि असम्भव है। बाद ठीक वैसा ही हुआ।

जैनाश्रित मूर्तिकलाके इतिहासमे जितना महत्त्वपूर्ण स्थान मथुराके कलात्मक प्रतीक रखते है, उतना ही स्थान धातु प्रतिमाओका भी होना चाहिए। पुरातन और अपेक्षाकृत नवीन मूर्तिविधानकी कडियाँ इनमे अन्तर्निहित है। नृतत्त्व शास्त्रीय दृष्टिसे भी इनकी उपयोगिता कम नही। नवोपलब्ध मूर्ति-सग्रहसे अब यह शिकायत नही रही कि जैन-समाज धातु-मूर्ति-निर्माणमे पश्चात्पद था।

काष्ठ मूर्तियाँ

सापेक्षत काष्ठ प्रतिमाएँ कम मिलती है। विशेषकरके इसका प्रयोग भवननिर्माणमे होता था। परन्तु जैनवास्तु विषयक ग्रन्थोमे काष्ठ-

मूर्तिका उल्लेख आता है। श्रमणभगवान्महावीरके समय भी चदनका प्रयोग मूर्तिनिर्माणमे हुआ था। मगधके पाल राजाओंने भी काष्ठ-प्रतिमाओका सृजन किया था। अत परम्परा प्राचीन है। उत्तरकालीन जैनोने शायद इसका निर्माण इसलिए रोक दिया होगा कि सपेक्षतः इसकी आयु कम है। प्रतिदिन प्रक्षालसे वह शीघ्र ही जर्जर हो जाता है।

कलकत्ता विश्वविद्यालयके **आशुतोषसंग्रहालय**मे एक जैनाश्रित मूर्तिकलाकी जिनप्रतिमा है। इसकी प्राप्ति बिहारके **विष्णुपुर**के तालाबसे हुई थी। मेरे मित्र **श्री डॉ० पी० घोष**ने इसका काल दो हजार वर्ष पूर्वका स्थिर किया है। प्रतिमाको देखनेसे ज्ञात होता है कि वह पर्याप्त समय जलमग्न रही होगी। क्योंकि उसमे सिकुडन बहुत है। रेखाएँ भी कम नही है। **डा० विलियम नार्मन ब्राउन**ने मुझे एक भेटमे बताया था कि अमेरिकामे भी कुछ काष्ठोत्कीर्ण जिनमूर्तियाँ है, जिनका समय आजसे १५०० वर्ष पूर्वका है।

विवेकविलासमे प्रतिमा-निर्माण काममे आनेवाले काष्ठकी परीक्षाका उल्लेख इसप्रकार आया है—

> **"निर्मलेनारनालेन पिष्टया श्रीफलत्वचा**
> **विलिप्तेऽश्मनि काष्ठे वा प्रकटं मंडल भवेत्"**

परीक्षाके आगेपर प्रकाश डालनेवाली और भी सूचनाएँ इसीमे है।

प्रतिमा-निर्माणमे इन काष्ठोकी परिगणना है—

चदन, श्रीपर्णी, बेलवृक्ष, कदब, रक्तचदन, पियाल, ऊमर, शीशम[1]।

---

[1] **कार्य दारुमयं चैत्ये श्रीपर्ण्या चदनेन वा।**
बिल्वेन वा कदम्बेन रक्तचंदनदारुणा॥
पियालोदुम्बराभ्यां वा क्वचिच्छिंशिमयापि वा।
अन्यदारुणि सर्वाणि बिम्बकार्ये विवर्जयेत्॥

रत्नकी मूर्तियाँ

श्री सम्पन्न जैनसमाजने बहुमल्य रत्नोकी मूर्तियाँ भी **बनवाई**। किंवदन्तियोको यदि सत्य मान लिया जाय तो रत्नोकी मूर्तिका इतिहास सर्वप्राचीन सिद्ध होगा, पर ऐतिहासिक व्यक्तिके लिए यह मानना कम सम्भव है। इस विभागमें शाश्वता जिनबिम्बोको छोड भी दिया जाय तो स्थभनपार्श्वनाथकी प्रतिमा सर्वप्राचीन ठहरेगी। यह अभी स्तभ-तीर्थ—**खंभात**—मे सुरक्षित है। इसका रत्न आजतक नही पहचाना गया। इसके बाद भी उत्तर-गुप्तकालीन रत्नमूर्तियाँ **महाकोसलके आरंग** (जि० रायपुर) मे उपलब्ध हुई हैं। आजकल **रायपुरके** जैनमदिरमे विद्यमान हैं। इनमे व्यवहृत रत्न सिरपुरकी मूर्नियोंकी जातिके है। इनका मुखाकृति और रचनाकाल सिरपुरसे प्राप्त धातुमूर्तियोके समान है। **सोमवंशीय** नरेशोके समयकी मानना उचित जान पडता है। मध्यकालमे स्फटिकरत्नकी मूर्तियाँ बहुत ही विशाल रूपमे बनती थी। रत्नोमे यही एक ऐसा रत्न है, जिसकी शिलाएँ सापेक्षत विशाल होती है। १७वी शताब्दीकी लेखयुक्त एक मूर्ति **नासिकके** जैन-मदिरमे[1]

---

[1]लेख इस प्रकार है—

"सवत् १६९७ फागुण सुद ३ वटपद्र (बड़ौदा) वासि सा० खीमजी सुपुत्र माणिकजीकेन श्रीअतरिक्षपार्श्वनार्थाब का० प्र० तपा० श्रीविजयदेव-सूरिभिः।"

इस प्रतिमाके रजतमय सुन्दर परिकरपर भी इस प्रकार लेख खुदा है—

"संवत् १६९७ व० वै० वदि २ दिने नडिआदिनगरवासि उसवालवृद्ध ज्ञातीय राघण गोत्रीय सा० खीमजी भा० बाई तुलजा कुक्षिसंभूत पुत्र सा० माणिकजी, मेघजीनामाभ्यां श्रीअन्तरिक्ष पार्श्वनाथपरिकर कारितः प्रतिष्ठित तपागच्छेश भट्टारक श्रीविजयदेवसूरि पादेः सूरीश महम्न प्रवत्ताचार्य पदप्रतिष्ठित श्रीविजयसिंहसूरिभिः।"

लेखकके "जैन धातु-प्रतिमा-लेख" से

है। **गुजरातमें** इसका बाहुल्य है। पन्ना, हीरा और पुखराजकी कई मूर्तियाँ मिलती हैं। **श्रवणबेलगोला, कलकत्ता** और **बीकानेरमें** रत्न-मूर्तियाँ मिलती हैं। **भरत-**द्वारा रत्नमय बिम्ब अष्टापदपर बनवानेकी सूचना जैन-साहित्य देता है।

यक्ष-यक्षिणियोंकी मूर्तियाँ

२४ तीर्थंकरके २४ यक्ष और २४ यक्षिणियाँ रहती हैं। तीर्थंकर प्रतिमामें दायें-बायें क्रमशः इनका अंकन रहता है। कुछेक प्रतिमा ऐसी भी पाई जा सकती हैं, जिनमें इनका अस्तित्व न भी हो, पर परिकरमें तो ये अपरिहार्य हैं। **महाकोसलमें** एक तोरण मुझे प्राप्त हुआ है, उसमें तीन तीर्थंकर प्रतिमाओंके अतिरिक्त अन्य ५ यक्षिणियोंकी मूर्तियाँ हैं।

इनका इतिहास भी कुषाण-कालसे प्रारम्भ होता है। उस युगकी प्रतिमाओंमें इनका अंकन तो है ही, पर उसी समय इनकी स्वतंत्र मूर्तियाँ भी बनती थी। उन दिनों **अंबिकादेवीका** रूप व्यापक-सा जान पड़ता है। कारण कि यह नेमिनाथकी अधिष्ठातृ होनेके बावजूद भी भगवान् युगादिदेवकी मूर्तिमें यह अवश्य देखी जाती है। १३वीं शताब्दीतक ऋषभदेवकी मूर्तियोंमें इनका रूप खुदा हुआ पाया गया है, जब कि वहाँ होनी चाहिए **चक्रेश्वरी**। उस समय अंबिकाकी सयक्ष मूर्तियाँ भी बनती थी। **मथुरामें** ऐसी एक मूर्ति प्राप्त हुई है[1] **मगधके राजगृह**

उपर्युक्त दोनों लेख एक ही निर्माता और प्रतिष्ठापकसे सम्बन्ध रखते हैं। अन्तर केवल इतना ही पड़ता है कि मूर्तिकी प्रतिष्ठा फाल्गुनमें हुई और परिकर वैशाखमें बना। मूर्ति लघुतम होनेसे परिकरमें निर्माताका पूरा परिचय आ जाता है। नडिग्राव और बड़ौदाके भिन्न उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि दोनों स्थानोंपर निर्माताका व्यवसाय-सम्बन्ध होगा। सूचित संवतमें आचार्य श्रीका वहाँ गमन भी है।

[1]जैनसत्यप्रकाशके पर्युषणांकमें इसका चित्र प्रदर्शित है।

और गत वर्ष **कौशाम्बीके** खंडहरमे भी एक मूर्ति लेखकद्वारा देखी गई है। दायी ओर गोमेध यज्ञ और बायी ओर अबिका अपने बालको सहित विराजमान है। मध्यमें आम्र-वृक्ष, उसकी दो डाले, मध्यमे जिनमूर्ति (मगधकी मूर्तिमे शखका चिह्न भी स्पष्ट है) होती है। इस शैलीका प्रादुर्भाव कुषाणोके समयमे हुआ जान पडता है। कारण कि **कौशाम्बीकी** मूर्तिका पत्थर **मथुराका** है और कुषाणयुगकी वस्तुओमे वह निकली है। भू-गर्भशास्त्रकी दृष्टिसे भी प्राप्ति स्थानका इतिहास कुषाण युगसे सम्बद्ध है। मूर्तिकी यह परम्परा १४-१५ शताब्दी तक चली। इसका विकास **महाकोसल** तक, उधर **मगध** तक हुआ है। महाकोसलमें इस ढंगकी दर्जनो मूर्तियाँ मिलती है। अम्बिकाकी वृक्षपर झूलती हुई, सिहारूढ, सयक्ष, साधारण स्त्री-समान आदि कई मूर्तियाँ मिलती है। पर उनमे दो बालक, आम्रलुम्ब, सिह और आम्रवृक्ष ज्योका त्या है। इनमेंसे कुछ रूप स्वतन्त्र महाकोसलीय है।

गुजरात, काठियावाड़ (ढकपर्वतकी गुफामे) **इलोरा** आदि कई स्थानोपर इनकी मान्यता व्यापक है। चक्रेश्वरीदेवीकी भी दो-तीन प्रकारकी प्रतिमा मिलती है। उत्तरभारतकी चक्रेश्वरी गरुड़वाहिनी, चतुर्भुजी और अष्टभुजी होती है। चतुर्भुजी और वाहन-विहीन भी मिलती है। **महाकोसलमे** तो चक्रेश्वरीका स्वतन्त्र मन्दिर है। चक्रेश्वरी गरुडपर विराजित है और मस्तकपर युगादिदेव है। यह मन्दिर **बिलहरीके** लक्ष्मणसागरके तटपर है। **राजघाट** (बनारस)की खुदाईसे भी चक्रेश्वरी-की प्रतिमाका एक अवशेष निकला है। **भारतकलाभवनमे** सुरक्षित है।

प्राचीन कालीन जितनी अधिक और कलापूर्ण अम्बिकाकी मूर्तियाँ मिलती है, उतनी ही मध्यकालीन **पद्मावती**[1] की। वह पार्श्वनाथजीकी

---

[1]पाटन, प्रभासपत्तन, शत्रुञ्जय और विन्ध्याचल आदि कई स्थानोमें पद्मावतीको बैठी हुई मूर्तियाँ तो काफ़ी मिलती है, पर खड़ी

अधिष्ठातृ है। जहाँतक मंत्रशास्त्रका प्रश्न है, पद्मावतीसे सम्बन्धित ही अधिक मत्र मिलते है। यंत्रमे भी इसीका साम्राज्य है। **विन्ध्याचलमे** इनकी गुफा है। विन्ध्यप्रदेशमे तो बडी विशाल प्रतिमाएँ मिलती है। इनके मत्रकल्प भी कम नही है। इन देवियोकी खड़ी और बैठी कई प्रकारकी मूर्तियाँ मिलती है। विजया, कालीकी भी मूर्तियाँ मिलती है। यो तो **ज्वालामालिनीकी** एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति मैने आजसे ८ वर्ष पूर्व **केलझरमे** देखी थी, पर इनका प्रचार सीमित है। १६ विद्या देवियोकी स्वतन्त्र मूर्तियाँ आबूके मधुच्छत्रमे मिली है। २४ शासन देवियोकी सवाहन, सायुध और सामूहिक विशाल प्रतिमा **प्रयाग-संग्रहालयमे** सुरक्षित है। जैनमूर्तिकलाके क्रमिक विकासपर इससे अच्छा प्रकाश पडता है।

देवियोमे **सरस्वतीकी** उपेक्षा नही की जा सकती। जैन-सस्कृतिके अनुसार जिनवाणी ही सरस्वती है। जिनागम ही उसका मूर्तरूप है। पर मध्यकालमे जैन-दृष्टिसे सरस्वतीकी मूर्तियाँ भी बनने लगी थी। इनके परिकरमे तथा मस्तकपर जिनमूर्तियाँ उकेरी जाती थी और उपकरण भी जैनाश्रित कलाके रहते थे। ऐसी मूर्तियोमे **बीकानेर**-स्थित सरस्वती (जो आजकल **न्यू एशियन एण्टिक्केरियन म्यूजियम** दिल्लीमे सुरक्षित है) मूर्तिकलाका उत्कृष्ट प्रतीक है। इतनी विशाल और मनोज्ञ देवीमूर्तियाँ कम ही मिलेगी। यो तो पश्चिमभारतमे जैनाश्रित मूर्तिकलाकी परम्परामे

प्रतिमाएँ बहुत ही कम। वर्धा जिलेके सिन्दी ग्राममें दि० जैन-मन्दिरमें एक अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण पद्मावतीकी खड़ी प्रतिमा, भूरे पत्थरपर उत्कीर्णित है। मस्तकपर भगवान् पार्श्वनाथजी विराज-मान हैं। यह अनुपम कलाकृति उपेक्षित अवस्थामें धूलमें ढँकी हुई है। इस प्रतिमाको बारहवीं शतीके आभूषणोंका भंडार कहें तो अत्युक्ति न होगी।

इनका भी निर्माण प्रचुर परिमाणमे हुआ है। दक्षिण भारतके जैनोने भी सरस्वतीको मूर्त रूप दिया था[1]।

देवीमूर्तियाँ अधिकतर पहाडियो और गुफाओमें मिलती है, पर लोग सिन्दूर पोतकर उन्हे इतना विकृत कर देते है कि मौलिक तत्त्व ढँक जाता है। बकरे चढाने लगते है। मैंने चांदवड़मे स्वय देखा है। पासकी पहाडियोमें एक गुफामे जैनमूर्तियाँ है, उनके आगे यह कुकृत्य १९३९ तक होता रहा।

सापेक्षत. यक्ष प्रतिमाएँ कम मिलती है। क्षेत्रपाल और माणिभद्रकी कुछ मूर्तियाँ दृष्टिगत हुई है। यक्षोमे गोमुख, षण्मुख, यक्षराज, धरणेन्द्र, कुबेर, गोमेध, ब्रह्मशान्ति, और पार्श्वयक्षकी प्रतिमाएँ स्वतन्त्र मिली है। पार्श्वयक्षको पहचाननेमे लोग अक्सर गलती कर बैठते है[2]। कारण कि उनकी मुखाकृति, उदर, आयुध गणेशके समान ही होती है। इन यक्षोकी स्वतत्र प्रतिमाओंमे उनका व्यक्तित्व झलकता है। परिकरान्तर्गत यक्ष मूर्ति इतनी सकुचित होती है कि यदि शिल्प-ग्रन्थोके प्रकाशमे उन्हे देखे तो भ्रम हो जायगा। उदाहरणार्थ ऋषभदेवके यक्ष गौमुखको ही ले। कुछ मूर्तियोमे तो ठीक रूप मिलेगा पर बहुसख्यक ऐसी मिलेगी कि उनकी मुखाकृति आयुध और वाहन कुछ भी शास्त्रीय उल्लेखसे साम्य नही रखते। यहाँपर एक बातकी चर्चा कर देना उचित होगा। 'कुबेर'की प्रतिमा ऋषभदेवके परिकरमे अक्सर रहती है, परन्तु वह कुबेर जैन-शिल्पका प्रतीत नही होता। कारण कि उसमे रत्नशैली, नकुल, फॉस एव मोदक या सुरापात्र रहते है, जबकि जैन कुबेर चार मुख और आठ हाथोवाला होता है[3]।

---

[1]तिरुपत्तिकुनरम्।

[2]श्रीमहावीर स्मृति ग्रन्थ भा० १, पृ० १९२।

[3]तत्तीर्थोत्पन्नं कुबेरयक्षं चतुर्मुखमिन्द्रायुधवर्णं गरुड़वदनं।

यक्ष-मूर्तियोंके निर्माणपर समाजने कम ध्यान दिया है। इसका एक कारण है। प्रत्येक मन्दिरमे रक्षकका स्थान क्षेत्रपालका होता है और अधिष्ठाताका स्वरूप जिनमूर्तिमे तो रहता ही है। क्षेत्रपालकी उच्च कोटिकी मूर्ति श्रवणबेलगोलामे है। अन्यत्र तो केवल नालिकेरकी स्थापना करके सिन्दूर चढाते जाते हैं।

श्रमण-स्मारक व प्रतिमाएँ

भारतीय धर्मका प्रत्येक सम्प्रदाय, अपने आदरणीय महापुरुषोका सम्मान कर, गौरवान्वित होता है। उनके स्वर्गवासके बाद पूज्य पुरुषोके प्रति अपनी हार्दिक भक्ति प्रदर्शनार्थ, या उनकी स्मृति रक्षार्थ, समाधियाँ, स्तूप या ऐसे ही अन्य स्मारक बनवाता है। उनका पूजन करता है। कथित स्मारक यो तो भारतमे अगणित प्राप्त होते हैं, पर यहाँ तो श्रमण-परम्परासे सम्बद्ध स्मारकोकी विवेचना ही अपेक्षित है।

आचार्य व अन्य मुनिवरोके स्मारकके लिए, जैन-साहित्यमे इन शब्दोका व्यवहार देखा जाता है, **निसिदिया**, **निषीदिका, निसीधि, निशिद्धि, निषिद्धि** और **निषिद्धिगे** आदि शब्द एक ही भावको व्यक्त करते है। कही-कही **'स्तूप'**का व्यवहार भी इसी अर्थमे हुआ जान पडता है। मध्यकालीन जैनमुनियोके प्रशस्ति व निर्वाण-गीतोमे 'थूभ' 'थभ' 'तूप' (घृत नही) 'थभउ' ये शब्द 'स्तूप'के ही पर्याय वाची है। १९वी शती तक इसका व्यवहार हुआ है।

शिलोत्कीर्ण लेख भी उपर्युक्त कोटिके स्मारकोपर अच्छा प्रकाश

गजवाहनमष्टभुजं वरदपरशुशूलाभययुक्तदक्षिणपाणि बीजपूरक—शक्तिमुद्गराक्षसूत्रयुक्तवामपाणिचेति"। वास्तुसार, पृ० १६०

दिगम्बर जैन शास्त्रानुसार कुबेरका स्वरूप ऐसा होना चाहिए :—

'सफलकधनुर्दण्ड पद्म खड्गप्रदरसुपाशवर प्रदाष्टपाणिम्।
गजगमन चतुर्मुखेन्द्रचापद्युतिकलशांकनतं यजे कुबेरम्॥

डालते हैं। महामेघवाहन महाराज **खारवेलके** 'हाथीगुफा'वाले लेखकी १४वी पंक्तिमे "का य नि सी दी या य" शब्द व्यवहृत हुआ है ! जो किसी अर्हत-समाधि या स्तूपका द्योतक है। कलिंग श्रमण-संस्कृतिका महान् केन्द्र रहा है। वहाँ इस प्रकारके स्मारक बहुतायतमे पाये जाते है। **डा० बेनोमाधव बड़ुआने** मुझे ऐसे कई स्मारकोके चित्र भी (१९४७ ई०)मे बताये थे।

उनमे कुछ तो ऐसे भी थे, जहाँ आज भी मेले व यात्राएँ भरती है। पर यह अन्वेषण प्रकाशित होनेके पूर्व ही डा० बड़ुआ ससारसे चल बसे। मुझे एक अग्रेजी निबन्ध आपने प्रकाशनार्थ दिया था, पर कलकत्ता विश्व-विद्यालयके एक प्रोफेसरने मुझसे, अवलोकनके बहाने हड़प ही लिया।

अन्वेषकोने, जैन-बौद्धका मौलिक भेद न समझ सकनेके कारण बहुत-से जैन-स्तूपोकी गणना बौद्ध-स्तूपोमे कर डाली। आज भी ऐसे प्रयास होते देखे जाते है।

पुरातन जैन-साहित्यमे उल्लेख आता है कि वहाँपर **धर्मचक्रभूमिके** स्थानपर 'सम्प्रति'ने एक स्तूप बनवाया था। मथुराके कुषाण कालीन जैन-स्तूप अत्यन्त प्रसिद्ध रहे है। **राजावलोकथासे** प्रमाणित है कि **कोटिकापुरमे** अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामीका स्तूप था। इनके तीसरे पट्टपर आर्य **स्थूलभद्र** हुए, इनका स्तूप पाटलिपुत्र (पटना)मे है। परन्तु आश्चर्य है कि जैन-पुरातत्त्वज्ञोका ध्यान इस ओर क्यो नही गया, जब कि पुरातन यात्रियोने इसका उल्लेख अपने यात्रा वर्णनमे किया है।

श्रीस्थूलभद्रजीका स्मारक

आचार्य श्री स्थूलभद्रजी, गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। आप आचार्य भद्रबाहु स्वामीके पास, नेपालमे 'वाचना' ग्रहणार्थ गये थे। वे पटनाके ही निवासी थे। इनका स्वर्गवास भी पटनामे ही वीर नि० संवत् २१९ ईस्वी और पूर्व ३११मे हुआ था।

दाह-स्थानपर शिष्यो द्वारा स्तूप भी बनवाया गया था। यह स्तूप आज भी **गुलजारबाग** स्टेशनके पिछले भागमे है। जहाँपर इस स्तूपका निर्माण किया गया है, वह भूमि कुछ ऊपरको उठी हुई है। इस स्थानको वहाँके लोग **कमलदह** कहते है। वस्तुत. इसका मूल नाम **कमलहृद** जान पडता है। पटनामे यही एक ऐसा जलाशय है, जिसमे कमल उत्पन्न होते है। मिथिलाके सुप्रसिद्ध कवि **विद्यापतिको** यह स्थान अत्यन्त प्रिय था। उन्होने अपने साहित्यमे भी इसका उल्लेख किया है, ऐसा कहा जाता है। आज भी सरोवरका अवशेष जो बच गया है, उसमे भी कमल होते है। पुरातन पाटलिपुत्रकी स्मृतिको सुरक्षित रखनेवाले **अगमकुवाँ** व पुरातन खुदाईमे निकले खण्डहर समीप ही पडते है। भगवान् **बुद्धके** पाटलीपुत्र आवागमनपर उनके तात्कालिक निवास-स्थानके विषयमे जो उल्लेख आता है, उसमे **आम्रवन**की चर्चा है, जहाँ मगध निवासियोने बुद्धदेवका रायण-खिरनीके द्वारा स्वागत किया था। यह सब लिखनेका एक मात्र कारण यह है कि स्थूलभद्रकी समाधि इन सब स्थानोके इतनी समीप पडती है कि उन दिनो यह स्थान नगरका अन्तिम भाग था।

सास्कृतिक दृष्टिसे इस समाधि स्थानका विशेष महत्त्व है। जैनोके उभय सम्प्रदाय मान्य स्मारकोमे इसकी गणना होती है। अब हमे देखना यह है कि स्तूपका प्राचीनत्व हमे किस शताब्दी तक ले जाता है। सुप्रसिद्ध चीनी यात्री **ह्यूआन्-चुआं.**, ने जिसे विज्ञोने यात्रियोका राजा कहा है, अपने यात्रा-विवरणमे स्थूलभद्रके उपर्युक्त स्मारकका उल्लेख किया है। उसने इस स्थानको पार्खण्डियोका स्थान कहा है, जो स्वाभाविक है, क्योकि उन दिनो धार्मिक असहिष्णुता बढी हुई थी। 'निवास-स्थान'से यह भी ध्वनित होता है कि उस समय यह स्थान आज की अपेक्षा बहुत ही विस्तृत रहा होगा, एव जैन मुनि-गणके लिए निवासकी भी समुचित व्यवस्था रही होगी; क्योकि ४० वर्ष पूर्व यह समाधि स्थान कई एकड़ भूमिको सम्बद्ध किये हुए था, पर जैनोकी उदासीनताके कारण आज कुछ

एकड़ोमें यह सीमित हो गया है। चीनी यात्रीका यह उल्लेख इस बातको सिद्ध करता है, न केवल उन दिनों पाटलिपुत्रमें जैनोंकी प्रचुरता ही थी, अपितु सार्वजनिक दृष्टिसे इस स्तूपका महत्त्व पर्याप्त था। होना भी चाहिए। कारण कि स्थूलभद्र न केवल नन्दराजके प्रधान मंत्रीके पुत्र ही थे, अपितु मगधकी सांस्कृतिक लोकचेतनाके अन्यतम प्रतीक भी। जिस टीलेपर स्थूलभद्रकी समाधि बनी हुई है उसके एक भागका आजसे कुछ वर्ष पूर्व खनन हुआ था, तब तेरह हाथसे भी अधिक लम्बा मानव-अस्थि-पिंजर निकला था। संभव है और भी ऐतिहासिक वस्तु निकली होंगी। गुप्त पूर्वकालीन ईंटे तो आज भी पर्याप्त मात्रामें निकलती हैं। उन्हींपर तो यह स्थान टिका हुआ है। यूआन चुआऽके बाद पन्द्रहवीं शताब्दी तक किसी भी व्यक्तिने इस स्थानका उल्लेख किया हो, ज्ञात नहीं। सत्रहवीं शतीके बाद जिन जैन-यात्री व मुनियोंका आवागमन इस प्रान्तमें होता रहा, उनमेंसे कुछेक मुनियोंने अपनी यात्राको ऐतिहासिक दृष्टिसे पद्योंमें लिपिबद्ध किया है। ऐतिहासिक दृष्टिसे इस प्रकारके वर्णनात्मक उल्लेखोंका महत्त्व है। **विजयसागर**[1], **जयविजय**[2] और **सौभाग्यविजय**[3] ने अपनी **तीर्थ मालाओं**में **स्थूलभद्र-स्तूप**का उल्लेख किया है।

स्थूलभद्रके स्थानके निकट ही **सुदर्शनश्रेष्ठि**[4]की समाधि भी

---

[1] **प्रा० तीर्थ-माला, पृष्ठ ५।**

[2] **प्रा० तीर्थ-माला, पृष्ठ २३।**

[3] **प्रा० तीर्थमाला, पृष्ठ ८०।**

[4] **अस्यां सम्यग्दृशां निदर्शनं सुदर्शनश्रेष्ठी दधिवाहनभूपस्य राज्ञयाऽभयाख्यया सम्भोगार्थमुपसर्ग्यमाणः। क्षितिपतिवचसा वधार्थं नीतः स्वकीय-निष्कम्पशीलसम्पत्प्रभावा कृष्टशासनदेवता सान्निध्यात् शूलो हैमसिंहासनतामनैषीत; तरिवारिं च निशितं सुरभिसुमनोदाम भूय मनोदामनयत्॥१०॥**

विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ ६५-६६।

बनी हुई है, इसका उल्लेख चीनी-यात्रीने नही किया, पर व्यापक उल्लेख मे इसका अन्तर्भाव स्वतः हो जाता है। सुदर्शनका सौन्दर्य अनुपम था। **दधिवाहन** राजाकी रानी **अभया**की इच्छापूर्ति न कर सकनेके कारण इनको कुछ क्षणतक लौकिक कष्ट सहन करना पडा, बादमें मुनि हो गये। प्रतिशोधकी भावनासे उत्प्रेरित होकर अभयाने, जो मरकर व्यतरी हुई थी, मुनिपर उपसर्ग[1] किये। समभावके कारण सुदर्शनको केवलज्ञान हो गया। यह घटना पाटलिपुत्रमे घटी। प्रथम घटनाका सम्बन्ध **चम्पासे** है। द्वितीय घटना स्मृतिस्वरूप, **पटना**मे एक छत्तरी व चरण विद्यमान है।

यहाँपर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब **मगध व तिरहुत** देशमे श्रमण सस्कृतिका प्राबल्य था, जैसा कि स्मिथ[2] साहबके वक्तव्यसे सिद्ध है "एक उदाहरण लीजिए—जैन-धर्मके अनुयायी पटनाके उत्तर वैशालीमें और पूर्व बगालमे आजकल बहुत कम है, परन्तु ईसाकी सातवी सदीमे इन स्थानोमे उनकी सख्या बहुत ज्यादा थी।" उन दिनो अपने आदरणीय महामुनियोके और भी स्मारक अवश्य ही बनवाये होगे, परन्तु या तो वे कालके द्वारा कवलित हो गये या बहुसख्यक अवशेषोको हम स्वय भूल गये। **स्मिथ**ने एक स्थानपर ठीक ही लिखा है कि "उसने (ह्यूग्रान् च्युआङ्) ईसाकी सातवी सदीमे यात्रा की थी और बहुतसे जैन स्मारको-का हाल लिखा, जिनको लोग अब भूल[3] गये।" आगे डाक्टर **विन्सेण्ट ए० स्मिथ** लिखते है कि पुरातत्त्व गवेषियोने जैन-धर्म व सस्कृतिका समुचित ज्ञान न होनेके कारण, उच्चतम जैनाश्रित कलाकृतियोंको बौद्ध घोषित कर दी।

---

[1] **तत्रैव सुदर्शन श्रेष्ठि महर्षिरभया राज्ञया व्यन्तरीभूतया भूयस्तर-मुपसर्गतोऽपि न क्षोभम भजत्। विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ ६९।**

[2] **वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ २३३।**

[3] **वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ २३४।**

श्रवणबेलगोलाके जो लेख प्रकाशित हुए है, उनसे सिद्ध होता है कि वहाँ समाधीमरणसे सबध रखनेवाले, मुनि आर्जिकाओ व श्रावक-श्राविकाओके लेखयुक्त कई स्मारक हैं। जिनमें सर्व प्राचीन समाधि-मरणका लेख शक सवत् ५७२का है।

कण्ह मुनिकी मूर्ति मथुरामे पाई गयी है[1]।

दशम शताब्दीके पूर्वके स्मारकोकी सख्यामे अधिकतर चौतरे व चरणोका ही समावेश होता है, धारवाड जिलेसे प्राप्त शिलालिपियोसे ज्ञात होता है कि, उस ओर भी अर्हतोंकी 'निषिदिकाएँ' बनती थी। दक्षिण भारतका, जैन दृष्टिसे अद्यावधि समुचित अध्ययन नही हुआ। यदाकदा जो सामग्री प्रकाशमे आ जाती है, उससे ज्ञात होता है कि वहाँ मुनियोके स्मारक पर्याप्त रूपमे पाये जाते है। इनपर खुदे हुए लेख भी पाये जाते है।

ग्यारहवी शताब्दीके बाद तो आचार्य व मुनियोकी स्वतन्त्र मूर्त्तियाँ बनने लगी थी। उपर्युक्त पक्ति सूचक कालके बाद जिन जैनाश्रित मूर्ति-कला विषयक ग्रन्थोका निर्माण हुआ, उनमे आचार्य-मूर्ति निर्माण करके किंचित् प्रकाश डाला गया है। किन्तु पुरातन स्तूप प्रथाका सर्वथा लोप नही हुआ था। चौदहवी सदीके **आचार-दिनकर**मे आचार्य-मूर्त्ति प्रतिष्ठा विधान स्वतत्र रूपसे उल्लिखित है, चौदहवी सदीके सुप्रसिद्ध विद्वान् **ठक्कुर फेरू**ने **ज्योतिषसार** नामक ग्रन्थमे आचार्य प्रतिष्ठाका मुहूर्त भी अलगसे दिया है। इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि ग्यारहवी शताब्दीके बाद गुरु-मूर्त्तियोका निर्माण जोरोंपर था। प्राकृत भाषाके धुरधर कवि व शास्त्र विख्याता परम तपस्वी श्री **जिनवल्लभसूरि,** अपभ्रश साहित्यके मर्मज्ञ तथा सुप्रसिद्ध कवि, श्री **जिनदत्तसूरि,** सस्कृत साहित्यकी सभी

---

[1] **दि जैनस्तूप एण्ड अदर एण्टीक्विटीज आफ मथुरा, प्लेट** XVII

शाखाओंके पारगामी विद्वान् व अनेक ग्रन्थ रचयिता आचार्य **हेमचन्द्रसूरि**[1], **श्रीदेवचन्द्रसूरि**[2] कुशल कवि और पृथ्वीराज चौहानकी राज-सभाके विद्वत् मुकुटमणि **श्रीजिनपतिसूरि**[3] सुप्रसिद्ध दार्शनिक **अमरचन्द्रसूरि**[4], **श्रीजिनप्रबोधसूरि,**[5] संगीत-विशारद **श्रीजिनकुशलसूरि**[6], मुहम्मद तुगलक प्रतिबोधक व जैन स्तुति स्तोत्र साहित्यमें क्रान्तिकारी परिवर्तन करनेवाले **श्रीजिनप्रभसूरि,** अकब्बर प्रतिबोधकर युगप्रधान **श्री-जिनचन्द्रसूरि,**[7] **श्रीहीरविजयसूरि** तथा **श्रीविजयदेवसूरि**[8] आदि अनेक जैनाचार्योंकी स्वतन्त्र मूर्त्तियाँ प्राप्त हो चुकी है। **प्राचीन शिल्प विषयक**

[1]आचार्य हेमचन्द्रसूरिकी मूर्त्ति प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है, शत्रुंजय तीर्थपर इनकी छत्री बड़ी प्रसिद्ध है,

[2]ये चापोत्कट वंशीय वनराजके गुरु शीलगुणसूरिके पट्ट शिष्य थे। पंचासरा पार्श्वनाथ (पाटन, उत्तर गुजरात)के मन्दिरमें इनकी मूर्त्ति विद्यमान है,

[3]इनका स्वर्गवास विक्रम सवत् १२७७ अषाढ़ सुदी १०के दिन पालनपुर (गुजरात)में हुआ था। तदनन्तर १२८० वैशाख सुदी १४के दिन पालनपुरमें इनकी मूर्त्ति जिनहितोपाध्याय द्वारा स्थापित हुई थी। दाह-संस्कार स्थानपर श्रीसंघ द्वारा स्तूपका निर्माण हुआ था,

[4]इनकी प्रतिमा पाटनमें टाँगडिया वाड़ाके जैन-मन्दिरमें विद्यमान है, जिसपर इसप्रकार लेख खुदा है—

संवत् १३४९ चैत्र वदी ६ शनौ श्री वायटीय गच्छे श्री जिनदत्तसूरि शिष्य पंडित श्री अमरचन्द्रसूरिः पं० महेन्द्र शिष्य मदन चन्द्राख्याख्येन कारता शिवमस्तु,

[5]पाटनमें इनकी प्रतिमा विद्यमान है,

[6]इनकी प्रतिमा शत्रुंजय तीर्थपर चौमुखजीकी टोंकमें प्रतिष्ठित है,

[7]इनकी प्रतिमाएँ राजस्थानमें प्रायः सर्वत्र प्राप्त होती है,

[8]इनकी मूर्त्ति गौडीपार्श्वनाथ मंदिर बम्बईमे तीसरे मंजलेपर सुरक्षित है,

पुरातन जितनी भी गुरु-मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है, वे सब बारहवी शतीके बादकी ही हैं। जिनकी प्रतिमाएँ बनी हैं, वे आचार्य भी अधिकतर इस समय बादके ही हैं। गुरु-मूर्त्तियोका शास्त्रीयरूप निर्धारित न होनेके कारण उनके निर्माणमें एकरूपता नही रह सकी है।

उपलब्ध आचार्य प्रतिमाओंमे **आचार्य श्रीजिनदत्तसूरि** और **श्रीजिनकुशलसूरि** ही ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिनकी मूर्त्ति या चरण सम्पूर्ण भारतमें प्रायः पाये जाते हैं। मध्यकालीन जैनसमाज इनके द्वारा उपकृत हुआ है। श्वेताम्बर जैन-परम्परामें इन दोनोका स्थान अनुपम है।

आचार्य-मूर्त्ति-निर्माण पद्धतिका विकास न केवल, श्वेताम्बर परम्परामें ही हुआ अपितु दिगम्बर परम्परा भी इससे अछूती नही है। **प्रतिष्ठा पाठ**के निम्न उल्लेखसे फलित होता है—

प्रातिहार्यैर्विना शुद्धं सिद्धबिम्बमपीदृशाम्।
सूरीणां पाठकानां च साधूनांच यथागमम् ॥७०॥

कारकलके जैन-स्मारकोंका परिचय देते हुए, कुन्थुनाथ तीर्थकरके बगलकी निषदिकामें स्थित कतिपय मूर्त्तियोका परिचय, **श्री पंडित के० भुजबली** शास्त्रीके शब्दोमें इस प्रकार है—"१, कुमुदचन्द्र भ० २, हेमचन्द्र भ० ३, चारुकीर्ति पंडित देव ४, श्रुतमुनि ५, धर्मभूषण भ० ६, पूज्यपाद स्वामी। नीचेकी पंक्तिमें क्रमश १, विमलसूरि भ० २, श्रीकीर्ति भ० ३, सिद्धान्तदेव ४, चारुकीर्त्तिदेव ५, महाकीर्त्ति महेन्द्रकीर्त्ति। इस प्रकार उक्त इन व्यक्तियोंकी मूर्त्तियाँ छह-छहके हिसाबसे तीन-तीन युगल रूपमें बारह मूर्त्तियाँ खुदी है।"[1]

गृहस्थ-मूर्तियाँ—

राजाओंकी जितनी भी प्राचीन मूर्तियाँ भारतमें उपलब्ध हुई है उनमें सर्वप्राचीन **अजातशत्रु** और **नन्दिवर्धन**की है। वे दोनो जैनधर्मके

---

[1] **वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २५२,**

उपासक थे। इतिहासमें इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। नन्दिवर्धनने जब कलिंगको हस्तगत किया, तब वहाँसे एक जैनमूर्ति उठा लाया था। इसीसे इनके जैनत्त्वका पता चल जाता है। यों तो जैनमूर्तिके परिकरमें यक्ष-यक्षिणीके निम्न भागमें गृहस्थ युगलकी कृति दृष्टिगत होती है, पर **वस्तुपाल, तेजपाल,** सपत्नीक, **वनराज**[1] चावडा, **मोतीशाह**[2] आदि कई गृहस्थोंकी स्वतन्त्र मूर्तियाँ भी हाथ जोडे मन्दिरमें स्थापित की गई है। आबू पर्वतपर तो मंत्रीश्वर विमलके पूर्वजोंकी मूर्तियाँ भी अंकित है। इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी पूजा हो, पर भक्तिकी मुद्रामें वे खडे रहे, यही उद्देश्य था।[3]

उपर्युक्त पंक्तियोंमें प्राप्त सभी प्रकारकी मूर्तियोंका उल्लेख कर दिया गया है। संभव है कुछ रह भी गया हो। तीर्थकर मूर्तियाँ, उनका परिकर, यक्ष-यक्षिणियोंके बिम्ब, न केवल धार्मिक दृष्टिसे ही महत्त्वके है, अपितु भारतीय मूर्तिकलाके क्रमिक विकासके अध्ययनकी मूल्यवान् सामग्री भी है। सामाजिक रहन-सहनका और आर्थिक विकास भी उनमें परिलक्षित होता है। सौंदर्यके प्रकाशमें देखे तो अवाक् रह जाना पडेगा। शिल्पाचार्योंने अपने श्रममें जो कलाकृतियाँ भेट की है, उनमें आनन्द देनेकी अनुपम क्षमता है। उनसे आत्माको शान्ति मिलती है।

२—गुफाएँ

जैन-गुफाएँ पर्याप्त परिमाणमें उपलब्ध होती है। आध्यात्मिक साधनाके उन्नत शिखरपर अग्रसर होनेवाली भव्यात्माएँ वहाँपर निवास कर, दर्शनार्थ आकर अनुपम शान्तिका अनुभव कर आत्मतत्त्वके रहस्य

---

[1] भारतनां जैनतीर्थो अने तमेनुं शिल्प स्थापत्य प्लेट ४९,
[2] भारतनां जैनतीर्थो अने तमेनुं शिल्प स्थापत्य प्लेट ५०,
[3] उपर्युक्त ग्रन्थमें ऐसी कई प्रतिकृतियां हैं,

तक पहुँचनेका शुभ प्रयास करती थी। प्राकृतिक वायुमडल भी पूर्णत. तदनुकूल था। प्रकृतिकी गोदमे स्वस्थ सौदर्यका बोध ऐसे ही स्थानोमे हो सकता है। वहाँके संस्कृति, प्रकृति और कलाका त्रिवेणी सगम मानवको आनन्द विभोर कर देता है। स्वाभाविक शान्ति ही चित्तवृत्तियोको स्थिर कर निश्चत मार्गकी ओर जानेको इगित करती है। इसमें उकेरी हुई सुन्दर कलापूर्ण जिनप्रतिमाएँ दर्शनार्थीको आकृष्ट कर लेती है। राग, द्वेष, मद, प्रमाद एव आत्मिक प्रवचनाओसे बचनेके लिए, शून्य ध्यानमे विरत होनेमे जैसी सहायता यहाँ मिलती है, वैसी अन्यत्र कहाँ ? सत्यकी गहन साधनाके लिए एकान्त स्थान नितान्त अपेक्षित है। कुछ गुफाएँ तो ऐसी है, जहाँसे हटनेको मन नही होता। जिनमूर्ति एव तदगीभूत समस्त उपकरणोसे सुसज्जित रूपशिल्प कलाकारकी दीर्घकाल व्यापी साधनाका सुपरिचय देती है। दैनिक जीवन और उनके प्रति औदासिन्यभावोकी प्रेरणात्मक जागृतिको उद्‌बुद्ध करानेवाले तत्त्वोका समीकरण इन भास्कर्य सम्पन्न कृतियोकी एक-एक रेखामे परिलक्षित होता है। उचित मात्रामे सौंदर्य बोधके लिए आध्यात्मिक श्रम अपेक्षित है। आत्मस्थ सौंदर्य दर्शनार्थ जीवनको साधनामय बनाना ही श्रमणसस्कृतिका लक्ष है।

भारतीय शिल्प-स्थापत्य कलाके विदेशी अन्वेषकोमे **फर्गुसन**का नाम सबसे पहले आता है। उन्होने जैन-स्थापत्यपर भी प्रकाश डाला है, परन्तु जैन और बौद्ध-भेदको न समझनेके कारण कई भूले भी कर दी है, जिनका परिमार्जन वाछनीय है। उदाहरणार्थ राजगृहको ही ले। वहाँपर सोनभडारमे जैनमूर्तियाँ और धर्मचक्र उत्कीर्णित है। इनको और भी कई विद्वान् बौद्धकृति मानते है, वस्तुत यह मान्यता भ्रामक है, क्योकि वहाँपर स्पष्टत इन पक्तियोमे लेख खुदा हुआ है—

१ निर्व्वाणलाभाय तपस्वि योग्ये शुभे गुहेर्हत्प्र[ति] मा प्रतिष्ठते[।]
२ आचार्य रत्नं मुनिवैरदेवः विमुक्तये कारय दीर्घ(?) तेज (:॥)

जैन-साहित्यके कई उल्लेखोसे इसका जैनत्व सिद्ध है। प्राचीन

गुर्वावली एव **तीर्थमालाओंमें** भी इसकी चर्चा आई है। जैन किवदन्ती इसका सम्बन्ध श्रेणिक और चेलणासे जोडती है, यह ठीक नही है।

फर्गुसनने एक स्थानपर लिखा है कि—**"जैन कभी गुहा निर्माता रहें हो नहीं।"** आगे फिर लिखा है—**"जैनोंके गुहामंदिर उतने प्राचीन नहीं हैं, जितने अन्य दोनों सम्प्रदायोंके। शायद उनमेंसे एक भी ९वीं शतीसे पूर्वका नहीं है।"** यह कथन सर्वथा भ्रामक है। स्पष्ट रूपसे कहा जाय तो अति प्राचीन जितनी भी गुफाएँ उपलब्ध है, उनमेसे बहुतोंका निर्माण जैनोद्वारा ही हुआ है।

सर्वप्राचीन गुफा गिरनार **बराबर** और **नागार्जुनी** पहाडियोंमे है। इनमेंसे दोका ओप और स्निग्धत्व मौर्य-कालकी सूचना देता है। दो **आजीवक** सम्प्रदायसे सम्बन्धित है, जो जैनोका एक उपसम्प्रदाय था। **अशोक**के पुत्र **दशरथ**ने इन्हे दान किया था। **उदयगिरि-खंडगिरिकी** जैन गुफाएँ विश्वविख्यात हैं। **ग्वालियर** स्टेटके अन्तर्गत **उदयगिरि** (भेलसा)मे गुप्त कालीन जैन-गुहा-मदिर है। इसमे भगवान् पार्श्वनाथकी भव्य प्रतिमा थी। अब तो केवल सर्पफन शेष है। यहाँ एक जैन-लेख भी इसप्रकार पाया गया है—

१ नमः सिद्धेभ्यः (॥)
श्री संयुतानां गुणतोयधीनां गुप्तान्वयानां नृपसत्तमाना—
२ राज्ये कुलस्याधिविवर्धमाने षड्भिर्य्युतैः वर्षशतेथ मासे (॥)
सुकार्तिके बहुलदिनेथ पंचमे
३ गुहामुखे स्फटविकतोत्कटामिमां [।] जितोद्विषो जिनवर
पार्श्वसंज्ञिका जिनाकृतिं शमदमवान
४ चीकरत् [॥]
आचार्य भद्रान्वयभूषणस्य शिष्यो ह्यसावार्य्य कुलोद्गतस्य [।]
आचार्य गोश

५ म्मंमुनेस्तुसुतस्तु पद्मावतावश्वपतेर्भटस्य [।।] परैरजेयस्य रिपुघ्नमानिनस्य संघिल

६ स्येत्यभिविश्रुतो भुवि [।]
स्वसंज्ञया शंकरनामशब्दितो विधानयुक्तं यतिमार्ग्गमास्थितः [।।]

७ स उत्तराणां सदृशे कुरूणां उदग्दिशादेशवरे प्रसूतः [।] क्षयाय कर्म्मारिगणस्य धीमान् यदत्र पुण्यं तद पाससर्ज्ज [।।।][1]

यह लेख गुप्तसवत् १०६का है। उस समय कुमारगुप्त प्रथमका शासन था।

जोगीमारा

मध्यप्रदेशके अन्तर्गत सरगुजा राज्यमे **लक्ष्मणपुरसे** बारहवे मीलपर **रामगिरि-रामगढ़** पर्वत है। इसपर जोगीमारा गुफा उत्कीर्णित है। प्राचीन शैलचित्रोमे इस गुफाके चित्रोका महत्त्वपूर्ण स्थान है। धर्म और कला—उभयदृष्टचा इसका स्थान अनुपम है। इनमें कुछ चित्रोका विषय जैन है। अत यह भी कभी जैन-गुफा रही होगी। यहाँसे ई० पू० तीसरी शतीका एक लेख भी प्राप्त हुआ है। **डा० ब्लाखने** इसका यही समय निश्चित किया है।

ढंकगिरि

जैन-साहित्यमें इसका उल्लेख कई स्थानोंपर आया है। यह **शत्रुंजय**-का एक उपपर्वत गिना जाता है। वर्तमानमे इसकी स्थिति **वल्लभीपुरके** निकट है। **सातवाहनके** गुरु और **पादलिप्तसूरिके** शिष्य **सिद्धनागार्जुन** यहीके निवासी थे। जैसा कि निम्न उल्लेखसे ज्ञात होता है—

---

[1] **डा० फ्लीट, कार्पस इन्स्क्रप्सन इडिकेरम, भा० ३,**

**"ढंकपव्वए रायसीहरायउसस्स भोपलनामिग्रं
धूग्रं रूपलावण्ण सम्पन्नं दठ्ठूणं जायाणुरायस्स
तं सेवमाणस्स वासुगिणो पुत्तो नागज्जुणो नाम जाग्रो"**[1]

प्रबन्धकोश ग्रौर **पिंडविशुद्धि**की टीकाग्रोमे उपर्युक्त पंक्तियोका समर्थन किया गया है। स्वर्णसिद्धिके लिए नागार्जुनने बडा श्रम किया था। कहना चाहिए यही उनके लिए प्राणघातिनी साबित हुई। ढक पर्वतकी गुफामे इसने रसकूपिका रखी थी, जैसा कि इस उल्लेखसे स्पष्ट है—

"नागार्जुनेन द्वौ कुपितौ भृतौ ढंकपर्वतस्य गुहायां क्षिप्तौ"[2]

जिस गुफाका ऊपर उल्लेख किया है, वह जैन-गुफा है। यद्यपि डा० **बर्जेस**ने इसकी गवेषणा की थी पर जैन प्रमाणित करनेका श्रेय मेरे मित्र डा० **हँसमुखलाल धीरजलाल सांकलिया**को है। ग्रापने गुफामे भगवान् पार्श्वनाथकी एक खडी प्रतिमा देखी, ग्रम्बिकाकी ग्राकृति भी। डा० साकलियाने इस प्रतिमाका समय ईस्वी सन् तीसरी शती स्थिर किया है[3]। इसी कालके कुछ शिल्प श्री **साराभाई** नवावने भी सौराष्ट्रमे देखे थे[4]।

चन्द्रगुफा

बाबा प्यारेके मठका उल्लेख ऊपर एक बार ग्रा चुका है। वहाँकी गुफाग्रोका ग्रध्ययन **बर्जेसने** किया है। उनको इन गुफाग्रोमे ईस्वी पूर्व प्रथम ग्रौर द्वितीय शतीके चिन्ह मिले है। इनमे **स्वस्तिक, नंदीपद, मत्स्य-युगल, भद्रासन** तथा **कुम्भकलश** भी सम्मिलित है। ये ग्रष्टमगलसे सम्बद्ध है। मथुराकी जैनाश्रितकृतियोमे भी इनकी उपलब्धि हो चुकी है।

---

[1] **विविधतीर्थकल्प, पृ० १०४,**
[2] **पुरातन प्रबंध संग्रह, पृ० ९२,**
[3] **श्रीजैनसत्यप्रकाश, व० ४ ग्रं० १-२,**
[4] **भारतीय विद्या, भा० १, ग्रंक २,**

क्षत्रप कालीन एक मूल्यवान् लेख भी प्राप्त हुआ है,[1] जो तत्कालिक जैन-इतिहासकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। गुफा चन्द्राकार होनेसे ही इसे चन्द्रगुफा कहते हैं। दिगम्बर जैन-साहित्यको व्यवस्थित करनेवाले **श्रीधरसेनाचार्यने** इसीमें निवास किया था। **पुष्पदन्त और भूतबलिका** अध्ययन इसी गुफामें हुआ था, परन्तु इस पूज्य स्थानकी ओर जैनसमाजका ध्यान नहिवत् है।

ढकगिरि और चन्द्रगुफासे इतना तो निश्चित है कि उन दिनों सौराष्ट्रमें जैन-संस्कृतिका अच्छा प्रभाव था और गुफा-निर्माण विषयक परम्परा भी थी।

बादामी

ईस्वी सन्की दूसरी शतीमें यह स्थान पर्याप्त ख्याति पा चुका था, कारण कि सुप्रसिद्ध लेखक **टालेमीने** इसका उल्लेख किया है। प्रथम यहाँपर **पल्लवोंका** दुर्ग था। चौलुक्य **पुलकेशी** प्रथमने इसे हस्तगत किया। तदनन्तर पश्चिमी चौलुक्य (ई० स० ७६०) और राष्ट्रकूटों (ईस्वी सन्—७६०-९७३)का आधिपत्य रहा। बाद कलचुरि एवं होयसलवंशने सन् ११९० तक राज्य किया। नवमें देवगिरिके यादवोंकी सत्ता १३वीं शती तक रही।

---

[1] (१) ..स्तथा सुरगण [।] [क्षत्रा] णां प्रथ [म] ..
(२) चाष्टनस्य प्र [पौ] त्रस्य राज्ञः क्ष[त्रप]स्य स्वामिजयदामपे
. [ौ] त्रस्य राज्ञो म [हा] ..
(३) [चै] त्रशुक्लस्य दिवसे पंचमे ५ इ [ह] गिरिनगरे देवासुरनागय
[क्ष] राक्षसे
(४) थ [पु] रमिव केवलि [ज्ञा] न स ..नां
जरमरण [।] ..।

एपीग्राफिया इंडिका भाग १६, पृ० २३९,

यहाँपर तीन ब्राह्मण गुफाओंके साथ पूर्वकी ओर एक जैन-गुफा भी है। निर्माण-काल ६५० ईस्वी होना चाहिए। कारण कि पूर्व निर्मित गुफाओंमें सापेक्षत आंशिक पार्थक्य है। इसकी पडशाला ३१×१९ फुट है। गुफा १६ फुट गहरी है। इसके स्तम्भ एलीफटाके समान है। भगवानकी मूर्ति पद्मासनमें है। बरामदेमे चार नाग, गौतमस्वामी तथा पार्श्वनाथ स्वामीकी मूर्ति है। दीवाल एव स्तम्भोपर भी तीर्थंकर-आकृति[1] है। पूर्वाभिमुख द्वारके पास भगवान् महावीरकी पल्यकासनस्थ प्रतिमा है।

श्रमणहिल[2]

मदुरा तामिलका महत्त्वपूर्ण नगर रहा है। राजनैतिक और साहित्यिक-उभय दृष्टिसे इसका स्थान ऊँचा था। यहाँपर साहित्यिकोंकी परिपद हुआ करती थी। यहाँपर भी जैनसस्कृतिकी गौरव-गरिमामे अभिवृद्धि करनेवाली कलात्मक सामग्री प्रचुर परिमाणमे विद्यमान है। श्रीयुत **टी० एस० श्रीपाल** नामक एक जैन सज्जनने अभी-अभी वहाँसे ७ मीलकी दूरीपर पहाडियोमें खुदी हुई जैन-प्रतिमाएँ एव दशवी शतीके लेखोंका पता लगाया है[3]। **समरनाथ** और **अमरनाथ** पहाडियोमे उन्हे आकस्मिक जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ और वहाँ जैनप्रतिमाएँ मिली। ज्यों-ज्यो आगे जाते गये, त्यो-त्यो सफल होते गये। एक गुफा भी इन पहाडियोमे मिली, जिसमें जैन तीर्थंकरकी मूर्तियाँ खचित है, यक्षोकी आकृतियोंके साथ कुछ ऐसे भी चिह्न मिले है, जिनसे ज्ञात होता है कि वहाँपर श्रमणोका वास था। मेरे मित्र **डाक्टर बहादुरचन्द छाबड़ा** (भारत सरकारके प्रधान लिपिवाचक-चीफ एपिग्राफिस्ट)ने तो इस स्थानको जैनसस्कृतिका केन्द्र बताया है।

---

[1]**आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया रिपोर्ट, भा० १, पृ० २५,**

[2]**यहाँ श्रमणोंकी समाधियाँ भी पर्याप्त है,**

[3]**"हिन्दू" (मद्रास) १५-७-१९४९,**

भारत सरकारकी नीतिपर हमे आश्चर्य होता है कि आज भी वह इन अवशेषोकी रक्षाकी ओर समुचित ध्यान नही दे रही है। यदि **श्रीपाल** महाशयकी मोटरका एंजिन खराब न होता तो शायद अभीतक वे मूर्तियाँ गिट्टी बनकर सडकपर बिछ गई होती। सम्भव है दक्षिण भारतकी ओर और भी ऐसी गुफाएँ मिले।

इलोरा

पश्चिमी गुफा मदिरोमे **एलागिरि—इलोरा**का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्राकृत भाषाके साहित्यमे इसका नाम **'एलउर'** मिलता है। **धर्मोपदेशमाला**के विवरण (रचनाकाल स० ९१५) समयज्ञ मुनिकी एक कथा आई है, कि वे **भृगुकच्छ** नगरमे चलकर **'एलउर'** नगर आये और दिगम्बर वसहीमे ठहरे,[१] इससे जान पडता है, उन दिनो एलउरकी ख्याति दूर-दूरतक फैली हुई थी। दिगम्बर बस्तीसे गुफाका तो तात्पर्य नही है? यहाँके गुफा-मदिर भारतीय शिल्पकी अमर कृतियाँ है। इनके दर्शन जीवनकी अमूल्य घडी है। कोई भी शिल्पी, चित्रकार, इतिहासज्ञ या धर्मके प्रति अनुराग रखनेवालेके लिए प्रेरणात्मक सामग्री विद्यमान है। सौदर्यका तो वह तीर्थ ही है। भारतीय सस्कृतिकी तीनो धाराओका यह सगम स्थान है। तीससे चौतीस गुफाएँ जैनोकी है। इनकी कला पूर्णतया विकसित है। जैनाश्रित चित्रकलाकी रेखाएँ यहीसे प्रतिस्फुटित हुई है। **फर्गुसन**को स्वीकार करना पडा है कि **"कुछ भी हो, जिन शिल्पियोंने एलोराको दो सभाओं** (इन्द्र और जगन्नाथ)**का सृजन किया, वे सचमुच उनमें स्थान पाने योग्य है, जिन्होंने अपने देवताओंके सम्मानमे निर्जीव**

---

[१] **"तओ नंदणाहिहाणो साहू कारणान्तरेण पट्टविओ गुरुणा दक्खिणा-वहं। एगागी वच्चं तो य पओसे पत्तो एलउरं"**

—धर्मोपदेशमाला, पृ० १६१

(सिंघी-जैन-ग्रन्थमाला)

पाषाणको अमर-मंदिर बना दिया।" इन गुफाओका सशोधन **निजाम** स्टेटकी ओरसे हुआ है।

छोटेकैलाशकी गुफाएँ दक्षिण-पूर्वमे है। इनका सृजन कैलाशसे टक्कर ले सकता है। एक परम्पराके शिल्पी दूसरी परम्पराका अनुकरण किस कुशलतासे करते है, उसका यह ज्वलन्त दृष्टान्त है। यहाँके मदिरमे द्राविडियन शैलीका प्रभाव है। यद्यपि मदिरका शिखर नीचा है, परन्तु कार्य अपूर्ण प्रतीत होता है। कारण अज्ञात है। नवम शतीमे राष्ट्र-कूटोके विनाशके बाद द्राविड-शैलीका प्रभाव उत्तरभारतमे नही मिलता।

इन्द्र-सभा भी सामूहिक जैन-गुफाओका नाम है। दो-दो मजिलवाली दो गुफाएँ और उपमदिर भी सम्मिलित है। दक्षिणकी ओरसे इसमे प्रवेश कर सकते है। बाहरके पूर्व भागमे एक मंदिर है। उसके अग्र एव पृष्ठ भागमे दो स्तभ है। उत्तरकी ओर गुफाकी दीवालपर भगवान् पार्श्वनाथके जीवनकी कमठवाली घटना उत्कीर्णित है। परिकर इतना मुन्दर बन पडा है कि देखते ही बनता है। भगवान् महावीर और मातग-यक्ष तथा अबिका यक्षिणीका रूप भी विद्यमान है, और भी जैनाश्रित कलाकी विपुल सामग्री है। जगन्नाथसभा प्रेक्षणीय है। विशेष ज्ञातव्यके लिए **जैन सत्य प्रकाश वर्ष ७ अंक ७** तथा **एलोरानां गुफा मंदिरो** एव **आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया** आदि साहित्य देखे।

एलोराकी प्रसिद्धि सत्रहवी शतीमे भी खूब थी, जब कि आवागमनके साधनोका प्राय अभाव था। कविराज **मेघविजयजी**ने औरगाबादमे चातुर्मास बिताया था। उस समय अपने गुरुजीको एक **समस्या-पूर्तिमय विज्ञप्ति** पत्र भेजा था, उसमे **इलोराका** वर्णन इन शब्दोमे है—

इत्येतस्मान्नगरयुगलाद् वीक्ष्य केलिस्थलं त्वम्,
इलोराद्रौ सपदि विनमन् पार्श्वमीशं त्रिलोक्याः

भ्रातः ! प्रातर्व्रज जनपदस्त्रीजनैः पीयमानो,
मन्वायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥४२॥
त्वामुद्यान्तं नभसि सहसाऽवेक्ष्य कान्ता वियुक्ता
स्त्रासव्यासं दधति सरसां पार्श्वमस्माज्जहीहि
रात्रौ म्लाना इह कमलिनीर्मोटितुं भानुमाली,
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः ॥४३॥
मार्गे यान्तं बहुलसलिलैर्दाववन्हिप्रशान्ते
र्गोत्रैः क्लृप्तोपकृतिसुकृतं रक्षितुं त्वां नियुक्ताः।
नद्यस्तासां प्रचितवयसामर्हसि त्वं न धैर्यान्,
मोघीकर्त्तुं चटुलशफरोद्वर्त्तन प्रेक्षितानि ॥४४॥
काचित् कान्ता सरिदिह तव प्रेक्ष्य सौभाग्य भंगी
मंगीकुर्याच्चपलसलिला वर्त्तनाभिप्रकाशम्
चक्रोरोजावरुणकिरणाच्छादनात् पीडयास्याः
ज्ञातास्वादो विपुलजघनां को विहातुं समर्थः ॥४५॥
वर्त्मन्यस्मिन् विविधगिरयस्त्वत्परिस्यन्द मन्थो
भूतोत्तापाः क्षितरुहदलैस्तेऽपनेष्यन्तिखेदम्
पुष्पामोदी करिकुलशतैः पीयमानस्तवातः,
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम्[1] ॥४६॥

विबुधविमलसूरिजीने भी इलोराकी यात्रा की थी—

विहार करतां आवीयारे, इलोरा गाम मझार
जिन यात्रा ने कारणे हो लाल।
खटदरिसण तिहां जाणीएरे, जाए विवेकवन्तरे, मुनीसर
तत्त्वधरी बीजीवारने हो लाल ॥[2]

---

[1]विज्ञप्ति लेखसंग्रह, पृ० १००, १०१ सिंघी ग्रन्थमाला,
[2]जैन ऐतिहासिक, गूर्जर-काव्य-संचय, पृ० ३१,

सुप्रसिद्ध पर्यटक और जैनमुनि **श्रीशीलविजयजी** भी अट्ठारहवी शतीमे यहाँ आये थे। तीर्थमालाके निम्न पद्यसे ज्ञात होता है—

इलोरि अति कौतुक वस्यूं जोतां हीयडुं अति उल्हस्यूं,
विश्वकरमा कीधुं मंडाण त्रिभुवन भाव तणु सहिनाण[1] ॥

उपर्युक्त उल्लेख इस बातके परिचायक है कि जैनोका आकर्षण इलोराकी ओर प्राचीन कालसे ही है।

ऐहोल

बादामी तालुकेमे यह अवस्थित है। **आर्यपुर**से इसका रूपान्तर ऐहोल या ऐविल्ल हुआ जान पडता है। ईस्वी सातवी आठवी शताब्दीमे यहाँपर चौलुक्योकी राजधानी थी। पूर्व और उत्तरमे यहाँपर गुफाएँ है। इसमे सहस्रफणयुक्त पार्श्वनाथकी प्रतिमा अवस्थित है। यह मूर्ति बहुत महत्त्वपूर्ण है। सापेक्षतः यहाँकी गुफा काफी चौडी और लम्बी है। जैन-कलाके अन्य उपकरण भी पर्याप्त है।

प्रभु महावीरकी आकृति भी यहाँ दृष्टिगोचर होती है। सिह, मकर एव द्वारपालोका खुदाव, उनका पहनाव एलीफण्टाके समान उच्च शैलीका है। वामन रूपिणी स्त्री तो बडी विचित्र-सी लगती है।

यहाँसे पूर्वकी ओर **मेगुटी** नामक एक जैन-मन्दिर है, उसमेसे एक विस्तृत शिलोत्कीर्णित लेख प्राप्त हुआ है, जो शक ५५६ (ईस्वी ६३४-६३५)का है। चौलुक्यराज **पुलकेशी**के समयमे **श्रीवरकीर्ति**ने यहाँकी प्रतिष्ठा की जान पड़ती है।

भाभेर

इन पक्तियोका लेखक इसे देख चुका है। भाभेरका दुर्ग **धूलिया**से

---

[1] **प्राचीन तीर्थमालासंग्रह, पृ० १२१,**

वायव्य कोणसे ३० मील दूर है। एक छोटे-से टीलेमे भूमिगृह है। तीसरी गुफा है। इसका बरामदा ७५ फुट लम्बा है। बाई ओरका भूमिगृह अपूर्ण ही रह गया जान पडता है। पडसालमे भी तीन द्वार है, जिनसे भीतर तीन खडोमे प्रवेश किया जाता है। प्रत्येककी लम्बाई चौड़ाई २४+२० है। दीवालोपर पार्श्वनाथ तथा अन्य जिनोकी ग्राम्य आकृतियाँ खचित है। यहाँका भास्कर्य नयनप्रिय नही है। बहुत-सा भाग नष्ट भी हो चुका है[1]।

अंकाई-तंकाई

सन् १९३७मे मुझे इन गुफाओंके निरीक्षणका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यह स्थान बडा विकट और भयप्रद है। **येवला** तालुकेकी पहाडियोमे इनकी अव स्थिति है। इनकी ऊँचाई ३१८२ फुट है। सुदृढ दुर्ग भी है। यहाँका प्राकृतिक सौदर्य प्रेक्षणीय है। **अंकाईमें** जैनोकी सात गुफायें है। ये छोटी होते हुए भी शिल्पकलापेक्षया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दुर्भाग्यसे बहुत-सा भाग नष्ट हो गया है। यहांकी बहुत कम जगह बची है, जहाँ सुन्दर आकृतियाँ न खुदी हो। प्रवेशद्वार तो बहुत ही शोभनीय है। तीर्थंकरकी मूर्ति उत्कीर्णित है। दूसरी गुफाके छोरोपर भी मूर्तियाँ है। तीसरी गुफा दूसरी मजिल समान है। आगेका कमरा २५—९ फुट है। एक छोरपर इन्द्र (नभवत मातगयक्ष) और इन्द्राणी (सिद्धायिका) दूसरे छोरपर है। इन्द्रकी आकृति इतनी विनष्ट हो चुकी है कि हाथीको पहिचानना भी कठिन है।

चँवरधारीके अतिरिक्त गधर्व और उनके परिचारक पर्याप्त है। ये सब दम्पती अपने-अपने वाहनोपर है। मालूम पडता है कलाकारने जन्म-महोत्सवके भावोको रूपदान दिया है। आवश्यकत जिनमूर्ति नग्न है।

---

[1] **केव टेम्पिल्स आफ इंडिया**, पृ० ४९४,

यह मूर्ति शान्तिनाथजीकी होनी चाहिए। कारण कि मृगलछन स्पष्ट है। पार्श्वनाथकी भी एक प्रतिमा है जिसका क़द उपर्युक्त आकृतिसे तीसरे भागका है। पचफन भी स्पष्ट है। गवाक्षमे भी जिनप्रतिमाएँ है। इन प्रतिमाओंकी रचनाशैलीसे ज्ञात होता है कि १३ शतीकी होगी। क्योंकि परिकरके निर्माणमे कलाकारने जिन उपकरणोका प्रयोग किया है, वे प्राचीन नही हैं।

महाकवि श्री **मेघविजयजीने** पूर्व सूचित समस्यापूर्तिवाले **विज्ञप्ति** पत्रमे इस स्थानका परिचय इन शब्दोमे दिया है—

> **गत्यौत्सुक्येऽप्यणकि—टणकी दुर्गयो स्थेयमेव,**
> **पार्श्वः स्वामी स इह विहृतः पूर्वमुर्वाशसेव्यः**
> **जाग्रद्रूपे विपदि शरणं स्वर्गिलोकेऽभिवन्द्यम्,**
> **अत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः**[1] ॥

त्रिगलवाड़ो

आग्रारोडपर स्थित **इगतपुरी**से छठवे मीलपर एक पहाडी दुर्गपर यह ग्राम बसा हुआ है। पहाड़ीके निम्न भागमें एक जैन गुफा है। यहाँ सूक्ष्म खुदाईको देखनेसे पता लगता है कि किसी समय यह गुफा उन्नतावस्थामे रही होगी। गुफाके भीतरी भागवाला कमरा ३५ फुटका है, और इसके अन्दर एक और कमरा है। गुफाद्वार—सम्मुख छतके मध्य भागमे गोलाकार पाँच मानवाकृतियाँ खचित है। द्वारपर एक जिनमूर्ति है। गुफाके भीतर भी पद्मासनपर तीन जिनप्रतिमा है। भीतर जो कमरा है, उसकी दीवालके पास भी पुरुषाकार 'जिन' है। वक्षस्थल तथा मस्तक खण्डित है। केवल चरणके अवशेष विद्यमान है। वृषभके चिह्नसे ज्ञात हुआ कि यह मूर्ति युगादिदेवकी है। स० १२६६का एक लेख भी मिला है, जो उत्तर कोनेकी दीवालपर था।

---

[1] **विज्ञप्ति लेख-संग्रह, पृष्ठ १०१,**

चांदवड़

यहांपर **अहल्याबाई** होल्करका जन्म हुआ था। आज भी उनका विशाल और प्रेक्षणीय राजमहल विद्यमान है। प्राचीन जैनसाहित्यमे इसका नाम "**चन्द्रादित्यपुरी**"के रूपमे मिलता है। कहा जाता है इसे यादव-वंशीय **दीर्घ पहारने** बसाया था। ८०१ ईस्वीसे १०७३ तक यादवोंका राज्य रहा। यह नगर पहाडके निम्न भागमे बसा है। पहाडकी ऊँचाई ४०००–४५०० फुट है। इसपर जानेका मार्ग बडा विलक्षण है। पैर फिसलनेपर बचनेकी आशा कम ही समझनी चाहिए। पहाडीपर जाते हुए आधे रास्तेमे रेणुकादेवीका मन्दिर आता है। न जाने यह रेणुकादेवीका स्थान कबसे प्रसिद्ध हो गया। वस्तुत यह जैन-गुफा है। यद्यपि बहुत बडी नही है, पर शिल्प स्थापत्यकी दृष्टिसे नि सदेह महत्त्वपूर्ण है। गुफामे तीनो ओरकी दीवालोमे तीर्थंकरोंकी विस्तृत परिकरवाली अत्यन्त सुन्दर कोरनीयुक्त मूर्तियाँ खुदी है। शासनदेव-देवियोकी मूर्तियाँ भी काफी है। जैन-गुफा-निर्माणकलाका एक प्रकारसे यह अन्तिम प्रतीक जान पडता है। कारण कि इसमे विकसित मूर्तिकलाके लक्षण भलीभाँति परिलक्षित होते है। प्रत्येक यक्ष-यक्षिणिएं अपने वाहन और आयुधोसे सुसज्जित तो है ही साथ-ही-साथ मुखाकृति भी जैन-शिल्प-शास्त्रानुसार है। जैनमूर्ति निर्माणकला-विकासकी परम्परा इसके एक-एक चप्पेपर लक्षित होती है। इसके मूलनायक चन्द्रप्रभुजी है। सभी मूर्तियाँ सिन्दूरसे बुरी तरह पोत दी गई है और प्रति दिन तैल स्नान करती है। जनताने इसे अपने ऐहिक स्वार्थपूर्तिका तीर्थ बना रखा है। बलिदान भी १९३८ तक होता था। पडे लोग यहाँके बडे पटु है। यदि उनको पता चल जाय कि प्रेक्षक जैन है तो फिर भीतर दीपकका उपयोग न करने देगे। कारण कि वे जानते है कि ये मूर्तियाँ जैन है—जैसा कि काफी झगडेके बाद तय हो चुका है। पर वे अपने पेट पालनेके लिए इन्हे छोड भी नही सकते। दुर्भाग्यसे जैनियोका, इनपर ध्यान ही अब कम रह गया है।

सित्तन्नवासल[1]

दक्षिण भारतमे जैनसस्कृतिका अच्छा प्रभुत्व है। वहाँके सास्कृतिक और नैतिक विकासमें जैनोंका योग रहा है। **सित्तन्नवासल** पडुक्कोटासे वायव्य कोणमें नवें मीलपर अवस्थित है। यहाँपर पाषाणके टीलोंकी गहराईमे जैनगुफा उत्कीर्णित है। ईस्वी पूर्व तीसरी शतीका एक ब्राह्मी लेख भी उपलब्ध है। इसमे स्पष्ट उल्लेख है कि जैन-मुनियोके वासार्थ इसका निर्माण किया गया। इन गुफाओंमे जैन-मुनियोंकी सात समाधि-शिलाएँ है। प्रत्येककी लम्बाई ६—४ फुट है। गुफा १००—५० फुट हैं।

वास्तुशास्त्रकी दृष्टिसे इसका जितना महत्त्व है, उससे भी कही अधिक महत्त्व चित्रकलाकी दृष्टिसे है। मडोदक चित्र काफी अच्छे है। इनकी शैली अजण्टासे साम्य रखती है। इनकी रेखाओके अनुशीलनसे मूर्तिकला-पर भी बहुत प्रकाश पडता है।

पल्लवकालीन चित्रकला[2]की उच्चतम कृतियोमे इनकी परिगणना है। कलाकारने प्राकृतिक दृश्योको जो रूपदान दिया है, वह सचमुचमे अनुपम है। यद्यपि रूपदानमे कलाकारने बहुत कम रगोका प्रयोग किया है, फिर भी भावोकी दृष्टिसे आकृतियाँ सजीव बन गई है। कमलाकृति और नर्तकीके अतिरिक्त पौराणिक जैन प्रसग भी चित्रित है। इसका निर्माण कलाविलासी **महेन्द्र वर्मा**के समयमे हुआ। महेन्द्र वर्मा **अप्पर**के उपदेशसे जैनधर्म स्वीकार कर चुका था, पर एक स्त्रीके प्रयत्नसे जब अप्पर शैव हुआ, तब वह भी शैव मतानुयायी हो गया।

---

[1] **इसका मूल नाम "सिद्धण्ण-वास=सिद्धों का डेरा" है,**
भारतीय अनुशीलन, पृ० ७

[2] **पल्लवोंकी चित्रकलाके लिये देखें—**
इंडियन एण्टीक्वेरी मार्च १९२३,
भारतीय अनुशीलन, पृ० ७–१६ ललितकला विभाग,

इन गुफाओंमें जैनमूर्तियाँ भी पद्मासनमें हैं।

यहाँसे कुछ दूर संगीत विषयक एक शिलोत्कीर्ण लेख[1] भी प्राप्त हुआ है। जैन-आगमोंमें **स्थानांग** और **अनुयोगद्वार** (जो ईस्वी पूर्वकी रचनाएँ हैं)में संगीतका विषय आता है। उपलब्ध लेखसे शास्त्रीय शब्द भी मिलते-जुलते हैं।

प्रसिद्ध गुफाओंका उल्लेख ऊपर किया गया है। इनके अलावा भी **धारासिव, विन्ध्याचल बामचन्द्र,**[2] **पाटन; मोमिनाबवा,**[3] **चामरलैन,** एवं **औरंगाबाद**[4]की गुफाएँ जैनधर्मसे सम्बन्ध रखती हैं

इन गुफाओंके दो प्रकार किसीसमय रहे होंगे या एक ही गुफामें दोनोंका समावेश हुआ होगा, कारण कि जैनोंका सांस्कृतिक इतिहास हमें बताता है कि पूर्वकालमें जैनमुनि अरण्यमें ही निवास करते थे, केवल भिक्षार्थ—गोचरीके लिए—ही नगरमें पधारते थे। ऐसी स्थितिमें लोग व्याख्यानादि औपदेशिक वाणीका अमृत-पान करनेके लिए, जंगलोंमें जाया करते थे, जैसा कि पौराणिक जैनआख्यानोंसे विदित होता है। जिनमंदिरकी आत्मा—प्रतिमाएँ भी नगरके बाहिर गुफाओंमें अवस्थित रहा करती थी। ऐसी स्थितिमें सहजमें कल्पना जागृत हो उठती है कि या तो दोनोंके लिए स्वतंत्र स्थान रहे होंगे, या एक ही में दोनोंके लिए पृथक्-पृथक् स्थान रहे होंगे। मैंने कुछ गुफाएँ ऐसी देखी भी हैं। प्राचीन मन्दिरके नगर बाहर बनाये जानेका भी यही कारण है। मेवाड़ादि प्रदेशोंमें तो जैनमन्दिर जंगलोंमें बहुत बड़ी संख्यामें उपलब्ध होते हैं, वे गुफाओं-की पद्धतिके अवशेषमात्र हैं। वहाँ ताला वगैरह लगानेकी आवश्यकता

---

[1] **एपिग्राफिया इंडिका, भाग १२,**

[2] **केव टेम्पिल्स ऑफ इंडिया,**

[3] **आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इंडिया भा० ३, पृ० ४८—५२,**

[4] " " " **५९—७३,**

ही क्या थी ? क्योंकि वहाँ न तो आभूषण थे और न वैसी सम्पत्तिके लूटे जानेका ही कोई भय था, यह प्रथा बड़ी सुन्दर और सर्व लोगोके दर्शनके लिए उपयुक्त थी।

प्राचीन गुफाओमे **उदयगिरि, खंडगिरि, ऐहोल, सित्तन्नवासल्ल, चांदवड़, र मटेक, एलूरा**—इन गुफाओसे मानना होगा कि दशम शती तक इसी सात्विक प्रथाका परिपालन होता था। **ढंकगिरो जोगीमारा गिरनार** आदि विभिन्न प्रान्तोमें पाई जानेवाली अति प्राचीन और भारतीय तक्षणकलाकी उत्कृष्ट मौलिक सामग्री है। गुफाओके सौंदर्य अभिवृद्धि करनेके ध्यानसे **जोगीमारा, सित्तन्नवासल** आदिमे चित्रोंका अंकन भी किया गया था, इन भित्तिचित्रोकी परम्पराको मध्यकालमें बहुत बडा बल मिला। भारतीय चित्रकला-विशारदोका तो अनुभव है कि आज तक किसी-न-किसी रूपमे जैनोंने भित्तिचित्र परम्पराके विशुद्ध प्रवाहको कुछ अंशतक सुरक्षित रखा है।

ता· ८–३–४८ को **शान्तिनिकेतन**मे कलाभवनके आचार्य और चित्रकलाके परम मर्मज्ञ श्रीमान् **नन्दलालजी** बोसको मैंने अपने पासकी हस्तलिखित जैन सचित्रकृतियाँ एव बडौदा निवासी श्रीमान् डा० **मंजूलाल भाई** मजूमदार-द्वारा प्रेषित **दुर्गासप्तशती**के मध्यकालीन चित्र बत लाये, उन्होने देखते ही इनकी कला और परम्परापर छोटा-सा व्याख्यान-दे डाला, जो आज भी मेरे मस्तिष्कमें गूंजता है। उसका सार यही था कि इन कलात्मक चित्रोपर **एलोरा**की चित्र और शिल्पकलाका बहुत प्रभाव है। जैन-शैलीके विकासात्मक तत्त्वोका मूल बहुत अशोमें एलोरा ही रहा है। चेहरे और चक्षु तो सर्वथा उनकी देन है। रग और रेखाओपर आपने कहा कि जिन-जिन रगोका व्यवहार एलोरा-के चित्रोमे हुआ है, वे ही रग और रेखाएँ आगे चलकर जैन-चित्र कलामे विकसित हुईं। यह तो एक उदाहरण है। इसीसे समझा जा सकता है कि जैन-चित्रकलाकी दृष्टिसे भी इन स्थापत्यावशेषोका

कितना बडा महत्त्व है, जिनको हम भूलते चले जा रहे है।

ज्यो-ज्यों सामाजिक और राजनैतिक समस्याएँ खडी होती गई या विकसित होती गई, त्यो-त्यो पर्वतोमे गुफाओका निर्माण कम होता गया और आध्यात्मिक शान्तिप्रद स्थानोकी सृष्टि जनावास—नगरों—मे होने लगी। इतिहास इसका साक्षी है।

मन्दिर

पुरातन जैन-अवशेषोमें मन्दिरोका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन-तीर्थ और मन्दिरोका श्रेष्ठत्व न केवल धार्मिक दृष्टिसे ही है, अपितु भारतीय शिल्प-स्थापत्य और कलाकी दृष्टिसे भी, उनका अपना स्वतन्त्र स्थान है। इन मन्दिरोपरसे ही हमारी सास्कृतिक विचारधारा स्पष्ट हो जाती है। वहाँपर हमे निवृत्तिमूलक भावनाका प्रत्यक्षीकरण होता है। वहाँ स्वपरके क्षुद्रतम भेदोको भूल जाते है। आत्मतत्त्व निरीक्षणकी दृष्टि विकसित होती है और गुणके प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है। वहाँका वायु-मडल इतना शुद्ध और पवित्र रहता है कि दर्शक—यदि वह भावनाशील हो तो, आनन्द-विभोर हो उठता है—कुछ क्षणोके लिए अपने आपको भुला देता है।

मन्दिर हमारी आध्यात्मिक साधनाका पुनीत स्थान है, साथ ही साथ जिनधर्म और नैतिक परम्पराका समर्थक भी। मै अपने कई निबधोमे सूचित कर चुका हूँ कि, श्रमणसस्कृतिका अन्तिम साध्य मोक्ष होते हुए भी वह समाजके प्रति कभी उदासीन नही रही। मन्दिर आध्यात्मिक स्थान होते हुए भी कलाकारोने अपने मानसिक भावोके द्वारा, उसे ऐसा अलकृत किया कि साधक आन्तरिक सौदर्यकी उपासनाके साथ, बाहरी पूर्व्वागत-सौदर्यसे नैतिक और पारम्परिक—अन्तश्चेतना जगानेवाले उप-करणो द्वारा वीतरागत्वकी ओर बढ सके।

यहाँपर यह प्रश्न उपस्थित होते है कि मन्दिरोका निर्माण कबसे

प्रारम्भ हुआ, मध्यकालीन मन्दिरोका पूर्वरूप कैसा था, प्राचीन कालके साधना स्थानोका निर्माण कहाँ होता था ? ये प्रश्न नि.सन्देह महत्त्वपूर्ण हैं। पर इनका उत्तर सरल नही है। पुरातत्त्व और इतिहासके उपलब्ध साधनोके आधारपर तो यही कहा जा सकता है कि प्रथम मूर्तिका निर्माण और बादमे मन्दिर, जिसे एक प्रकारसे गुफाका विकसित रूप मानें तो अत्युक्ति नही। मन्दिरकी उत्पत्ति और स्थितिविषयक विद्वानोंमे मतभिन्नत्व स्पष्ट है। जितनी प्राचीन मूर्तियाँ उपलब्ध होती है, उतने मन्दिर नही। मूर्तियोकी अपेक्षा मन्दिरोकी उपलब्धि भी कम हुई है। इसका कारण मध्यकालीन इतिहास तो यह देता है कि मुसलमानोके सास्कृतिक आक्रमणोने कई मन्दिर, मसजिदके रूपमे परिवर्तित कर दिये, ऐसे मन्दिरोकी सख्या सर्वाधिक गुजरातमे पाई जाती है। महाकोसलमे मैंने ऐसे भी जैन-मन्दिर देखे है जिनपर अजैनोंका आधिपत्य है।

इतिहास और जैनागम-साहित्यसे यह ज्ञात होता है कि ईस्वी पूर्व छठवी शतीमे यक्ष-मन्दिरोका सामूहिक प्रचलन था, परन्तु उन मन्दिरोंका उल्लेख "चैत्य" शब्दसे किया गया है। आज भी हम लोग "चैत्यालय" और "चैत्यवदन" आदि शब्दोका प्रयोग करते है। परन्तु यहाँ पर देखना यह है कि उन दिनो "चैत्य" शब्द, जिस अर्थमे व्यवहृत होता था, क्या आज भी हम उसी अर्थमे लेते है या तद्भिन्न। क्योकि "चैत्य" शब्दकी व्युत्पत्ति "चिता"से मानी जाती है। महापुरुषोके निर्वाण या दाह-स्थानोपर उनकी स्मृतिको सुरक्षित रखने के लिए वृक्ष लगाये जाते थे या प्रस्तर-खड तथा शरीरके अवशेष रखकर मढिया[1] बना दी जाती थी।

---

[1]जबलपुरके निकट एक लघुतम पहाड़ीपर जैन-चैत्यालय है, जिसे लोग "मढ़िया" कहते है। लोगोंका विश्वास है कि रानी दुर्गावतीकी पीसनहारीने—जो—जैन थी, स्वोपार्जित वित्तसे इस कृतिका सृजन करवाया था। दोनों मढ़ियोपर आज भी चक्कीके दो पाट लगे हुए है,

धीरे-धीरे पूज्य पुरुषोकी प्रतिमाएँ बनने लगी और बड़े-बड़े मन्दिरोका निर्माण होने लगा। पडित **बेचरदास**जीकी उपर्युक्त मान्यता शब्दशास्त्रकी दृष्टिसे युक्ति-सगत नही जान पड़ती है। क्योकि इस तर्कके पीछे कोई सांस्कृतिक विचारधारा या अकाट्य प्रमाण नही है[1]। डा० **प्रसन्न-कुमार** आचार्य ठीक कहते हे—कि **चैत्य** या **कब्रोंसे मन्दिरों**का कोई सम्बन्ध न था।

डा० आचार्य लिखते है—"**कल्पसूत्र**के कुछ अशको **शुल्मसूत्र** कहते है, **जिसमें वेदी बनानेकी रीति और उनकी लम्बाई आदि दी है। इसमें "अग्नि" या ईंटोंसे बनी हुई बृहत्तर वेदियोंकी रीतिका वर्णन है। ये वेदी सोमयज्ञकी थीं, जिनका निर्माण वैज्ञानिक तौरपर हुआ था। संभवतः यहींसे मंदिर-निर्माणका सूत्रपात होता है।**"[2]

ऐतिहासिक उल्लेखोसे तो यही ज्ञात होता है कि प्राप्त मूर्तियोमे सर्व प्राचीन प्रतिमाएँ जैनोकी है, जैसा कि ऊपरके भागमे सूचित किया जा चुका है, परन्तु एक बातका आश्चर्य अवश्य होता है, कि जितना प्राचीन जैन-पुरातत्त्व उपलब्ध हुआ है, उतना ही अर्वाचीन एतद्विषयक साहित्य है। अर्थात् प्रतिमाओका इतिहास **मोहन्-जो-दडो** तक पहुँचाता है, तो शिल्प विषयक ग्रन्थोका निर्माण १०वी शती बादका मिलता है। प्रथम "साहित्य" या "कृति" यह प्रश्न उठता है, और विशेषता इस बातकी है कि जिन प्रतिमाओकी सृजन शैलीमे कालानुसार भले ही परिवर्तन हुआ,

---

इनसे उनका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। पद्मपुर आदि और भी अनेक स्थानोंपर देवस्थान स्वरूप छोटी-सी टपरियां मिलती है, जिन्हें मध्यप्रदेशमें "मढ़िया" कहते हैं। सरोवर तीरपर और पहाड़ियों पर भी ऐसी मढ़ियें मिलती है,

[1] **मंदिर दाहस्थानका सूचक नहीं, किन्तु देवस्थानका परिचायक है,**

[2] **प्राचीन भारतवर्ष १, सं० ८,**

पर मौलिकतामे बराबर समानता-एकरुपता रही। जिन दिनो मूर्तिका निर्माण हुआ, उन दिनो कलाकारोंके सम्मुख साहित्य था या नही ? नही कहा जा सकता, कारण कि मूर्तिकालतकके प्राचीन मन्दिर ही अनुपलब्ध है। मूर्ति और मन्दिरका प्रश्न जहाँ आता है, वहाँ उनके प्रतिष्ठा-विधान विषयक एव वास्तुशास्त्रकी समस्या भी खड़ी होती है। गवेषककी इन शकाओंका समुचित समाधान हो सके ऐसा प्राचीन साहित्य नहिंवत् ही है। हाँ इतना अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि जब **पादलिप्तसूरिजी** ने **निर्वाणकलिका**की रचना की उससमय शिल्पका थोडा-बहुत साहित्य अवश्य ही रहा होगा,[1] भले ही वह लिपिबद्ध न होकर पारम्परिक या मौखिक ही क्यो न रहा हो, कारण कि देव-देवियोके आकार-प्रकार एव आयुधोकी चर्चा उसमे वर्णित है।

मथुराके जैन-अवशेषोसे स्पष्ट है कि **निर्वाण कालिका** पूर्व भी यक्ष-यक्षिणियोका स्वरूप स्थिर हो चुका था। मथुराके कलात्मक अवशेष इस बातकी पुष्टि करते है कि इण्डोसाइथिक समयके जैनोने एक प्राचीन मन्दिरमेंसे खुदाईके लिए उसके अवशेषोका उपयोग किया था। स्मिथ भी यह मानते है कि **ईस्वी पूर्व १५०में मथुरामें जैन-मन्दिर था**[2]।" मथुराके "**बोद्धस्तूप**'से शायद ही कोई अपरिचित होगा। इससे ज्ञात होता है कि उस समय जैनोमे स्तूप-पूजाका भी रिवाज चल पडा था, पर यह स्तूप

---

[1] **मथुराका देवनिर्मित कहा जानेवाला स्तूप धर्म-ऋषि और धर्मघोष मुनिकी रुचिके अनुसार कुबेराने बनवाया था। इससे इतना तो निश्चित है कि मुनिवर्ग कलात्मक उपकरणोंके प्रति उदासीन न था। उस समय आजीवक संप्रदाय भी था, जो ज्योतिष् आदिमें प्रवीण माना जाता था। वह शिल्पसे सर्वथा अपरिचित हो, यह तो कम संभव है,**

[2] **दि जैन स्तूप ऐण्ड अदर एण्टीक्विटीज आफ मथुरा, प्रस्तावना, पृ० ३,**

परम्परा चली नहीं[1]। डॉ० आयसवालजीका मानना है कि मोरिसामें भी कायनिसीदी—अर्थात् जैन-स्तूप था, जिसमें अरिहन्तका अस्थि गड़ा हुआ था। बौद्ध-स्तूपके तोरणमें जो अलकरण और भावशिल्पोंके प्रतीक हैं उनमें जिनभक्तिका सम्यक्रूप लक्षित होता है। मन्दिरकी रचना उससमय हो चुकी थी।

तैत्तरीय संहिता[2] में पूर्वकथित वेदीके स्वरूपोका वर्णन है—**चतुरस्रश्येनचित, प्रोणचित, कूर्मचित, समुह्यचित्, प्रौगचित, रथचक्रचित** आदि। इसीका अनुकरण **बौद्धायन** और **आपस्तंभमें** हुआ है। इन वेदियोमें धर्मजनित भेदोको स्थान नही था। अर्थात् हिन्दू, जैन और बौद्ध सभी स्वीकार करते थे। परिवर्तनप्रिय मानवने क्रमशः सशोधन, परिवर्द्धन प्रारभ किये, जिनके फलस्वरूप गुम्बज और शिखर उठ खड़े हुए। मडपोंका विधान भी बढता ही चला। मडपोका विकास समयकी आवश्यकतानुसार होता गया। डा० आचार्यका उपर्युक्त मत समीचीन जान पडता है। वर्णित वेदियोका विकसित रूप ही मन्दिर है। इसके क्रमिक विकासका इतिहास भी बडा मनोरजक और ज्ञान-वर्द्धक है, परन्तु यहाँ इतना स्थान कहाँ कि उनपर समुचित प्रकाश डाला जा सके। इतना अवश्य कहना पडेगा कि मदिरका निर्माण गुफ़ा

---

[1] १३ वीं शतीके जैनोके ऐतिहासिक साहित्यसे ज्ञात होता है कि प्रतिभा संपन्न आचार्योंके दाह-स्थानपर "स्तूप" बना करते थे। ऐसे सैकड़ों स्तूपोंका उल्लेख प्राचीन हिन्दी पद्योंमें भी आता है। १८ वीं शताब्दीतक यह स्तूप परंपरा चलती रही। इसमेंसे आचार्य श्रीजिनदत्तसूरि और श्रीजिनपतिसूरजी तथा श्री जिनकुशलसूरिजी महाराजके स्तूप विशेष उल्लेखनीय हैं। श्रीजिनपतिसूरजी पृथ्वीराज चौहानकी सभाके रत्न थे और अनेकानेक ग्रन्थ रचयिता विद्वानोंके गुरु भी,

[2] खंड ४, ११,

पूर्वका है, जैसा कि **अर्थशास्त्रसे** सिद्ध है। गुफा और मन्दिरका सम्बन्ध गुजरातके कलाकार **श्रीरविशंकर** रावल इतना ही मानते हैं कि "अग्रिम मडप दर्शनार्थी भक्तोके लिए और गर्भगृह देवमूर्तिके लिए होता है।"

'मानसार'में मन्दिरोके भेदोंपर कुछ प्रकाश डाला है, परन्तु कलाकी दृष्टिसे उन भेदोमें विशेष अन्तर नही पडता, न धर्मगत शिल्पकी अपेक्षासे ही। भेद मुख्यत भौगोलिक है। **मय शास्त्र** और **काश्यप शिल्पमें** जैन और बौद्ध-मन्दिरोका उल्लेख है। मानसारमे भी उल्लेख तो है, पर वह इतना अनुदारतापूर्ण है कि उससे उनके रचयिताकी भावनाका पता चलता है। वह लिखता है कि जैन-मन्दिर नगरके बाहर और वैष्णव-मन्दिर नगरके मध्यमे होना चाहिए। मुझे तो ऐसा लगता है कि गुफा-मन्दिर अक्सर पहाडियोमे हुआ करते थे और बहुसख्यक जैनमन्दिर भी स्वाभाविक शान्तिके कारण बाहर बनाये जाते थे। अत उसने लिख दिया कि जैन-मन्दिर बाहर होना चाहिए। पर इतिहास और साहित्यसे मानसारके साम्प्रदायिक उल्लेखकी पुष्टि बिल्कुल नही होती।

शान्तिक, पौष्टिक, जयद, आदि मन्दिरोके नाम **मानसारमे** हैं। प्रत्येकका मान भिन्न-भिन्न है। इन शैलियोसे भी यही ज्ञात होता है कि लेखक पारम्परिक साहित्यसे प्रभावित तो हुआ है, पर इससे भी अधिक सहारा प्रत्यक्ष कृतियोसे लिया है। **नागर, बेसर** और **द्रविड़** तीनो प्रकारका विश्लेषण डा० **प्रसन्नकुमार** आचार्यने **आर्किटेक्चर एकोर्डिंग टू मानसार-शिल्पशास्त्रमे** भली भाँति किया है।

यहाँतक तो मन्दिरकी चर्चा इस प्रकार चली है कि उसमे जैन-मन्दिर बौद्ध-मन्दिर या हिन्दू-मन्दिर जैसी कोई साम्प्रदायिक चीज नही है। यहाँपर मन्दिरोके निर्माणके विषयमे म० म० श्री गौरीशकरजी ओझा का मत जान लेना आवश्यक है। वे लिखते हैं—

"ईस्वी सन्की सातवीं शताब्दीके आसपाससे बारहवीं शताब्दीतकके सैकड़ों जैनों और वेदधर्मावलंबियोंके अर्थात्

> ब्राह्मणोंके मन्दिर अबतक किसी-न-किसी दिशामें विद्यमान हैं। देश-भेदके अनुसार इन मन्दिरोंकी शैलीमें भी अन्तर है। कृष्णानदीके उत्तरसे लेकर सारे उत्तरीय भारतके मन्दिर आर्य शैलीके हैं और उक्त नदीके दक्षिणके द्रविड़ शैलीके। जैनों और ब्राह्मणोंके मंदिरोंकी रचनामें बहुत कुछ साम्य है। अन्तर इतना ही है कि जैन-मन्दिरोंके स्तम्भों, छतों आदिमें बहुधा जैनोंसे संबंध रखनेवाली मूर्तियाँ तथा कथाएँ खुदी हुई पाई जाती हैं और ब्राह्मणोंके मन्दिरोंमें उनके धर्म संबंधी, बहुधा जैनोंके मुख्य मन्दिरके चारों ओर छोटी-छोटी देवकुलिकाएँ बनी रहती हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न तीर्थंकरोंकी प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं। ब्राह्मणोंके मुख्य मन्दिरोंके साथ ही कहीं-कहीं कोनोंमें चार और छोटे-छोटे मन्दिर होते हैं।
>
> "ऐसे मन्दिरोंको पंचायतन मंदिर कहते हैं। ब्राह्मणों-के मंदिरोंमें विशेषकर गर्भगृह रहता है, जहाँ मूर्ति स्थापित होती है और उसके आगे मंडप। जैन-मंदिरोंमें कहीं-कहीं दो मंडप और एक विस्तृत वेदी भी होती है। दोनों शैलियोंके मंदिरोंमें गर्भगृहके ऊपर शिखर और उसके सर्वोच्च भागपर आमलक नामका बड़ा चक्र होता है। आमलकके ऊपर कलश रहता है, और वहीं ध्वजदंड भी होता है[1]।

आर्य और द्रविड़ दोनो शैलियोके जैनमन्दिर पर्याप्त मिलते है। उत्तर भारतीय मन्दिरोकी जिस आर्यशैलीकी चर्चा ओझाजीने की है, उसमे भी प्रान्तीय भेदोको लेकर कई उपशैलियाँ बन गई है। विशेषकर शिखरमें तो बहुत ही परिवर्तन हुए है। कई स्थानोपर एक ही शैलीके

---

[1]मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० १७५, ६,

मन्दिर होते हुए भी उनमें कलात्मक वैभिन्न परिलक्षित होता है। नागर[1], द्राविड, बेसर इन तीन शैलियोंका उल्लेख मानसारमें इसप्रकार आया है—

नागरं द्राविडं चैव वेसरंच त्रिधा मतम् ।
कण्ठादारभ्य वृत्तं यद्वेसरमिति स्मृतम् ॥
ग्रीवमारभ्य चाष्टाश्रं विमानं द्राविडाख्यकम् ।
सर्वं वै चतुरश्रं यत्प्रासादं नागरं त्वदिम् ॥

वास्तुसारमे प्रासाद और शिखरके कई प्रकारोका वर्णन है। **अपराजित, समरांगणसूत्रधार, प्रासादमंडन, दीपार्णव** आदि शिल्प विषयक ग्रन्थोमे भी इसकी विशद् चर्चा है।

यहाँपर सूचित कर देना उचित जान पड़ता है कि मन्दिर-निर्माण विषयक शैलीका सूत्रपात होनेके पूर्व भी जिनमन्दिर बन चुके थे। **भृगुकच्छ**—भडौचके **शकुनिकाविहार**–मुनिसुव्रत तीर्थंकरका मन्दिर इस कोटिमे आता है। वि० स० ४ पूर्व यहाँपर आर्य **खपुटाचार्य**के रहनेका उल्लेख जैन प्रबधोमे आता है। यह विहार प्रथम काष्ठका था, पर चौलुक्योके समयमे **आंबड़भट्ट**ने पाषाणका बनाया। लेकिन **अल्लाउद्दीन**ने गुजरातपर आक्रमण कर भृगुकच्छ सर किया और इतिहास प्रसिद्ध इस सास्कृतिक तीर्थस्वरूप विहारको जामअ-मस्जिदमे बदल दिया। यह घटना ई० स० १२९७की है। इसपर **बर्जेस**ने विशेष विचार किया है[2]। वह इसकी कलाके सम्बन्धमे लिखता है—**"इस स्थानकी प्राचीन कारीगरी, आकृतियोंकी खुदाई और रसिकता, स्थापत्य, शिल्पीकी कलाका रूप और लावण्य**

---

[1] दोनों शैलियोका विवेचन शिल्प-ग्रन्थोंमें तो मिलता ही है। स्व० जायसवालजीने इतिहासके आधारपर "अंधकार युगीन भारत"में भी विचार किया है,

[2] आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया वा० ६,

भारतमें बेजोड़ हूं" । इस विहारपर प्रकाश डालनेवाले संस्कृत, प्राकृत और देश्य भाषामें अनेक उल्लेख—बल्कि स्वतन्त्र ग्रन्थ मिलते हैं। **कच्छ-भद्रेश्वरका** मन्दिर भी सम्प्रतिद्वारा निर्मित, माना जाता है[1]। पश्चिम भारतमें जो प्रान्तीय साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसमे और भी कई प्राचीन मन्दिरोका उल्लेख है, पर आठवी शती पूर्वके ऐसे अवशेष अल्प ही मिले है। सम्भव है उनका उपयोग और कोई कार्यमे हो गया हो, जैसा कि **भद्रेश्वरके** अवशेषोका उपयोग ई० स० १८१०में **मुद्रा** ग्राम बसानेमें हुआ था और शकुनिकाविहारका मस्जिदमे। कलचुरि **बुद्धराजका** पुत्र **शंकरगण जैन** था। कल्याणमे दैवी उपसर्गको शान्त करनेके लिए माणिक-स्वामीकी मूर्ति भी प्रतिष्ठापित की थी। कहा तो यह भी जाता है कि **कुल्पाकक्षेत्र (हैदराबाद)**के मन्दिरमे १२ ग्राम इसने भेट किये थे।

ओझाजीने मन्दिरोके चारो ओर देव कुलिकाओका उल्लेख किया है, वह बावनजिनालयसे सम्बन्ध रखता है। श्रीमान् लोग इस प्रकारके मन्दिर बनवाते थे[2]। **चौलुक्य कुमारपालने** भी **ईडरगढ़**पर ऐसा मन्दिर बनवाया था[3]। नन्दीश्वर द्वीप-रचनाके मन्दिर भी मिलते है।

दशम शती पूर्वके मैने कुछ मन्दिर देखे है, उनमे गर्भगृह और आगे मडप भर रहता है। ज्यो-ज्यो समय बदलता गया और शिल्पकला विकसित होती गई, त्यो-त्यो प्रासाद-रचना शैलीमे भी उत्कर्ष होता गया। कलाकार भी कृतिके निर्माणमे सामयिक अलकरणोका प्रयोग सफलता

---

[1] **आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया वॉ० ६, पृ० २२,**

[2] **चाणक्यने अर्थशास्त्रमें नगरमें भिन्न-भिन्न देवमन्दिर कैसे होने चाहिएँ, इसका विधान किया है,**

[3] **समकालीन आचार्य श्रीजिनपतिसूरिने तीर्थमालामें इसप्रकार उल्लेख किया है—**

ईडर गिरौ निविष्टं चौलुक्याधिपतिकरितं जिनं प्रथमं,

पूर्वक करते रहे। दशम शती बाद तो शिल्प कलापर प्रकाश डालनेवाले ग्रन्थोंका भी सृजन होता गया। जिनमें इनकी निर्माण-शैलीका सम्यक् विवेचन है। कलाकारोंने मौलिक नियमोंका पालन करते हुए कल्पना शक्तिका भी भलीभाँति परिचय दिया। वे कलाकार अर्थके अनुचर न थे, कलाके सच्चे उपासक और कुशलसाधक थे। जब भाव जागृत होते तब ही औज़ारोंको स्पर्श करते। कलाकृतियोंके निर्माणमें कोरे अर्थसे काम नहीं चलता, पर आन्तरिक रुचि भी अपेक्षित है। ऐसे उदाहरण भी किंवदन्तियोंमें हे कि जहाँ उनका अपमान हुआ, या अर्थकी थैलीका मुँह उनके मनके अनुसार न खुला, तो तुरन्त कार्य भी स्थगित हो गया। तात्पर्य कि अर्थकी अपेक्षा श्रमका मूल्य अधिक है।

> **"प्रत्येक मन्दिर और शिल्पकी रूपभावना तथा कारीगरीका श्रेय प्रधानतः तत्कालीन कुशल कलाकारोंको है। उनके प्रेरक भले ही धर्माचार्य, श्रीमान् या और कोई हों, पर कलाका जहाँतक प्रश्न है, यशके अधिकारी तो विश्वकर्माकी संतान ही हैं। उन्होंने अनेक शताब्दियोंतक आश्रयदाताओंका प्रभाव और भावना वैभव-शिल्पकी अशब्द रूपावलीमें अमल किया[1]।"**

उत्तर व पश्चिम भारतके मन्दिरोंके शिखर प्रायः नागर शैलीके हैं, गुप्तकालके बादके मन्दिरोंके शिखर सापेक्षतः अलकरणोंसे भरे मिलते हैं। उनपर जो सुललित अंकन पाया जाता है, वह कल्पना मिश्रित भावोंकी मौलिक देन है। न केवल पत्थरके ही शिखर मिलते हैं, पर ईंटोंके भी पाये गये हैं। शिखरादि मन्दिरके बाह्य अलंकरण और शैली शुष्क धर्ममूलक न होकर, कलामूलक भी रही है। इसे सजानेको कलाचार्योंने भरसक चेष्टा की है। अन्तर केवल इतना ही प्रतीत होता है कि जिस

---

[1] **भारतना जैन-तीर्थो अने तेमनुं शिल्प स्थापत्य, पृ० १०,**

सम्प्रदायका देवायतन होता था, उसपर उस धर्मके विशेष प्रसग या देव-देवियोंका अंकन रहता था। जैसलमेर, राणकपुर, गिरनार, अहमदाबाद, शत्रुंजय, पाटण, खँभायत, आरग, श्रवणबेलगोला, खजुराहो, देवगढ, हलेबीडे, आबू, कुभारियाजी आदि स्थानोके मन्दिरोको जिन्होंने विशुद्ध कलाकी दृष्टि-से देखा है, वे इन पक्तियोंका अनुभव कर सकते है। बाह्यभागोंमे भीट, जगती, अन्तरपत्र, ग्रासपट्टी, नरथर, हसथर, अश्वथर, गजथर, सिंहथरकी खुदाईपर विशेष ध्यान दिया जाता था। ये भारतीय शिल्पकला और जनजीवनके इतिहासकी अनुपम सामग्री है। इनकी कोरनी, सूक्ष्मकल्पना और उदात्त भावना प्रत्येकको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है।

शत्रुंजयका पहाड तो मन्दिरोंका नगर ही कहा जाता है। भिन्न-भिन्न शताब्दियोंकी शिल्प-कलाके उत्कृष्ट प्रतीक आज भी वहाँ सुरक्षित हैं। पश्चिमके कुछेक मन्दिरोपर एक बगाली विद्वान्ने लिखा है—

"The Jainas choose wooded mountains and the most lovely retreats of nature for their places of pilgrimage and cover them with exquisitely carved shrines in white marble or dazzling stucco. Their contribution to Indian Art is of the greatest importance and India is indebted for a number of its most beautiful architectural monuments such as the splendid temples of Abu, Girnar and S'atr-unjaya in Gujrat."[1]

मन्दिरका भीतरी भाग इन उपभागोमें विभक्त रहता है—द्वारमडप 'शृगारचौकी', 'नवचौकी', 'गूढमंडप', 'कोलीमडप' और गर्भगृह", जहाँपर मूर्ति स्थापित की जाती है। गर्भगृह और गूढमडपपर क्रमशः शिखर एवं

---

[1] "डॉन" जुलाई १९०६,

गुम्बज रहते हैं। द्वारमंडप प्राय. सजा हुआ रहता है। दो स्तम्भोंका तोरण भी कहीं-कहीं रखा जाता है। मुख्य द्वारपर मंगलचैत्य या जिनमूर्तिकी आकृतिका रहना आवश्यक है। भीतरी भागोमें भी जो मुख्य मंडप रहता है—जहाँ साधक नर-नारी प्रभु भक्ति करते है, वहाँके सुललित अकनवाले स्तम्भोंपर नृत्य करती हुई, या सगीतके विभिन्न वाद्योको धारण करनेवाली, निर्विकार पुत्तलिकाओकी भाव-सूचक मूर्तियाँ खुदी रहती है। इसे नृत्यमडप भी कह सकते है। स्तम्भोपर आधृत छतोंमे वीतराग परमात्माके समवशरण, या जिस तीर्थंकरका मन्दिर है, उसके जीवनकी विशिष्ट घटनाएँ खुदी हुई पाई जाती है। कही-कही विशेष उत्सवोके भावोका प्रदर्शन भी देखा गया है। मधुच्छत्र इसीपर रहता है। आबूका मधुच्छत्र[1] भारतीय शिल्प-कलाका अनन्य प्रतीक है। लूणिगवसहिके गुम्बजके मध्य भागका लोलक इतना सुन्दर और स्वाभाविक बना है कि इसके सामने इग्लंडके ७वे हेन्री वेस्ट मिनिस्टरके लोलक भाव विहीन जँचते है[2]। ऐसे मधुच्छत्र राणकपुरके मेघनाद मंडपमे भी है। आबूमे तो सोलह विद्यादेवियाँ उत्कीर्णित है। छतका विशेष प्रकारका अकन जैन-मन्दिरोको छोडकर अन्यत्र नही मिलता। नागपाश या एक मुख, या तीन या पाँच देहवाली आकृतियाँ द्वारके ऊपर रहती है। लोगोका ऐसा विश्वास रहा है कि इस प्रकारकी आकृतियाँ बनानेसे कोई भी छत्रपति इसके निम्न भागसे निकल नही सकता। मुगलकालमे भी इन आकृतियोका विशेष प्रचार रहा। मन्दिरका भीतरी भाग प्रायः अलकृत रहता है। जैन-वास्तुशास्त्रका नियम है कि कहीपर भी प्लेइन प्रस्तर न रखा जाय।

---

[1]विमल वसहि वाले मधुच्छत्रके लिए "आर्किटेक्चर ऐट अहमदाबाद" देखना चाहिए,

[2]विशेषके लिए "पिक्चर्स एण्ड इलेस्ट्रेशन्स आफ एन्शेण्ट आर्किटेक्चर इन हिन्दुस्तान" देखें,

गर्भगृहके मुख्य द्वारकी चौखटपर भी कई आकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। चँवरधारिणी नारियोंके अतिरिक्त उभय ओर जिन-प्रतिमाएँ या देव-देवियोंकी मूर्तियाँ तथा जिन-प्रतिमाएँ रहती है। मध्यस्थ स्तम्भ-पर तो निश्चितरूपसे मूर्तियाँ रहती ही हैं। ऐसे दो तोरण मेरे संग्रहमे सुरक्षित है। प्रयाग सग्रहालयमे भी है। राजपूतानामे भी ऐसी आकृतियों-का बाहुल्य है। इन तोरणोमें लोकजीवन भी प्रतिबिम्बित होता है।

कुछ मन्दिर भूमिगत भी हैं। और तीन-चार मजिलके भी। तीर्थ स्थानोपर मन्दिरोकी कला निखर उठती है। जैनोके वे मन्दिर ही मध्यकालीन भारतीयवास्तु कलाकी अमूल्य निधि है। जैनसस्कृतिका त्याग प्रधान रूप, इसके कण-कणमे परिलक्षित होता है। जैन-मन्दिरोको जो लोग केवल धार्मिक स्थान ही समझे हुए हे, उनसे मेरा यही निवेदन है कि, वे एक बार कलात्मतासे परिचित हो जायँ तो उनका मत हीं बदल जायगा। वे मन्दिर न केवल जैनोके लिए ही उपयोगी है, अपितु भारतीय कलाका उच्चतर कलातीर्थ भी।

मुख्यतः मंदिरोंके निर्माणमें पत्थरोका प्रयोग होता था। मुनि श्री पुण्यविजयजी महाराजके संग्रहालयमें एक धातु मंदिर भी है, जिसपर इस प्रकार लेख खुदा है—

॥८०॥ स्वस्ति श्री नृपविक्रम सवत् १४६२ वर्षे मार्ग-वदि ८, रवौ हस्ते साक्षाज्जगच्चन्द्र सदक्षश्चतुर्मुखः प्रासादः श्री संघेन कारितः ॥ साधुधर्म्मकेन सुवर्णरूप्यैरलंकारितः ॥

जगत् सेठकी माता **माणिक** देवाने भी एक रजतमन्दिर अपने गृहके लिए बनवाया था[1]। रजत परिकर तो कई मिलते हैं।

---

[1] **जिन मन्दिर रूपातणो, गृहमें सरस बनाय।**
प्रतिमा सोनी रजतनी, थापी श्रीजिनराय ॥
यति निहाल कृत माणकदेवी रास (रचना सं० १७८९ पोष कृ० १३),

भारतीय कलातीर्थ स्वरूप जैनमन्दिरोंकी कलाका आजतक समुचित मूल्यांकन नहीं हुआ, जैनोंने कभी इन पर ध्यान ही नहीं दिया, जैसे वह हमारी कलात्मक सम्पत्ति ही न हो। कलकत्ता विश्वविद्यालयकी ओरसे **"हिन्दू टेम्पल"** नामक एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसमे दर्जनों चित्र है। एक हगेरियन स्त्री **डा० स्टेला क्रेमरीशने** इसे सश्रम तैयार किया है। मैंने उनसे कहा था कि जैनमन्दिरोके बिना, वह इतिहास और शिल्पका परिचय पूर्ण, हो ही नही सकता। उनने कहा कि मेरा दुर्भाग्य है कि मै जैनाश्रित कलाकृतियोंको श्रम करके भी, प्राप्त न कर सकी। कुछ स्थानोपर मै गई तो चित्र लेने ही नही दिये और शाब्दिक सत्कारकी तो बात ही क्या ! मै तो बहुत ही लज्जित हुआ कि आजके युगमे भी हमारा समाज सशोधकको न जाने क्यों घृणाकी दृष्टिसे देखता है। मेरे लिखनेका तात्पर्य इतना ही है कि हमारी सुस्ती हमे ही बुरी तरह खाये जा रही है, न जाने आगामी सांस्कृतिक निर्माणमें जैनोंका कैसा योगदान रहेगा, वे तो अपने ही इतिहासके साधनोपर उपेक्षित मनोवृत्ति रक्खे हुए हैं।

४ मानस्तम्भ

मध्यकालीन भारतमे जैनमन्दिरके सम्मुख विशाल स्तम्भ बनवानेकी प्रथा, विशेषत. दिगम्बर जैनसमाजमें रही है। दक्षिण भारत और विन्ध्य-प्रान्तमे ऐसे स्तम्भोकी उपलब्धि प्रचुर परिमाणमें हुई है। प्राचीन वास्तु विषयक ग्रन्थोमे कीर्तिस्तम्भोकी आशिक चर्चा अवश्य है, पर मानस्तम्भोंके विषयमे वे मौन हैं। यद्यपि जैन पौराणिक साहित्य तो इसका अस्तित्व बहुत प्राचीन कालसे बताता है, पर उतने प्राचीन या सापेक्षतः अर्वाचीन स्तम्भ उपलब्ध कम हुए है। उपलब्ध साधनोंसे तो यही कहा जा सकता है कि मध्यकालमे जैन-वास्तुकलाका वह एक अग अवश्य बन गया था। यह मानस्तम्भ इन्द्रध्वजका प्रतीक होना अधिक युक्तिसगत जान पड़ता

है, जो भगवान्के विहारके आगे रहता था। देवगढ आदिमें पाये गये मानस्तम्भके अवशेषोंसे यह फलित होता है कि मानस्तम्भोंकी मौलिक परम्परा भले ही एक-सी रही हो, पर प्रान्तीय कला विषयक एव निर्माण शैली सम्बन्धी पार्थक्य उनमें स्पष्ट है। देवगढ़ आदिमें पाये जानेवाले अधिक मानस्तम्भ ऐसे है, जिनके ऊपरके भागमें शिखर-जैसी आकृति है। बघेलखड और महाकोसलके भूभागमें मैंने जितने भी अवशेष देखे, उनके छोरपर चतुर्मुख जिनप्रतिमाएँ खुदी हुई हैं। ये स्तम्भ चपटे और गोल तथा कई कोनोंके बनते थे। एक अवशेष मेरे सग्रहमे सुरक्षित है। मुझे यह **बिलहरी**से प्राप्त हुआ था। कलाकी दृष्टिसे सुन्दर है।

मानस्तम्भपर मूर्तियाँ रखनेका कारण लोग तो यह बताते है कि शूद्र दूरसे ही दर्शन कर सके। इसमें तथ्य कितना है, यह तो वे ही जानें जो ऐसी बाते बताते है। पर जैन-मन्दिरकी सूचना इससे अवश्य मिल जाती है। ये स्तम्भ काष्ठके भी बनते थे, पर बहुत कम। दक्षिणके स्तम्भ कलाकी दृष्टिसे अनुपम हैं। यहाँ मानस्तम्भोपर यक्ष-यक्षिणियोके आकार खुदे हुए पाये जाते है। अभीतक इस मूल्यवान् सामग्रीपर समाजका ध्यान केन्द्रित नही हुआ है।

कुछ मानस्तम्भोपर लेख भी खुदे रहते है। वे जैन-इतिहासकी सामग्री तो प्रस्तुत करते ही है, पर उनका सार्वजनिक इतिहासकी दृष्टिसे भी बहुत बडा महत्त्व है। कभी-कभी सामान्य लेख बहुत ही महत्वकी सूचना दे देता है। **भोजदेव** कालीन एक स्तम्भ लेख उद्धृत करना अनुचित न होगा—

ॐ–[॥] परमभट्टार [क] महाराजाधिराज–परमेश्वर–श्री भोजदेव–महीप्रवर्धमानकल्याणविजयराज्येतन्प्रवत्तपंचमहाशब्द–महासामंत श्रीविष्णु [र] म् परिभुज्यमाके[ने] लुग्रच्छगिरे श्रीशान्त्यायत [न] [सं] निधे श्रीकमलदेवाचार्यशिष्येण श्रीदेवेन कारा[पि] तम् इदम् स्तंभम्॥ सम्वत् ९१९ अस्व[श्व]युजेशुक्लपक्षचतुर्दश्याम् वृ[बृ]हस्पति-

दिनेन उत्तरभाद्रपद [दा] नक्षत्रे इदं स्तम्भ समाप्त इति ॥०॥ वाजुर्भा गगाकेन गोष्ठिकभूतेन इदम् स्तम्भं घटितम इति ॥०॥ शक काल [लाब्द] सप्तशतानि चतुरशीत्य-अधिकानि ॥ ७८४[॥]

एपिग्राफिया इडिका (वो ४, ५, ३१०)

लेख वर्णित भोजदेव, महाराजा 'नगावलोक' (ग्राम)का पौत्र था। नागावलोकने बप्पभट्टसूरिजीके उपदेशसे देवनिर्मित कहे जानेवाले मथुराके जैन-स्तूपका जीर्णोद्धार किया था।

चित्तौड़का कीर्ति-स्तम्भ

कीर्तिस्तम्भोकी भी उपेक्षा नही की जा सकती। जैन-कीर्तिस्तम्भो पर अद्यावधि समुचित प्रकाश नही डाला गया। इसकारण बहुत-से कीर्तिस्तम्भोको लोगोने मानस्तम्भ ही समझ रखा है। चित्तौडका कीर्तिस्तम्भ १६वी शताब्दीकी कलाका भव्य प्रतीक है। उसमे जैनमूर्तियोंका खुदाव आकर्षक बन पडा है। इसका शिल्प भास्कर्य प्रेक्षणीय है। दृष्टि पडते ही कलाकारकी दीर्घकाल व्यापी साधनाका अनुभव होता है। इस स्तम्भके सूक्ष्मतम अलकरणोको शब्दके द्वारा व्यक्त करना तो सर्वथा असभव ही है। इतना कहना उचित होगा कि सम्पूर्ण स्तम्भका एक भाग भी ऐसा नही, जिसपर सफलतापूर्वक सुललित अकन न किया गया हो। सचमुचमे यह श्रमणसस्कृतिका एक गौरव स्तम्भ है।

इसकी ऊँचाई ७५॥। फुट है। ३२ फुटका व्यास है। अभीतक लोग यह मानते आये है कि इसका निर्माण १२वी शती या इसके उत्तरवर्तीकालमे **बघेरवाल** वशीय साह **जीजा**ने करवाया था और कुमारपालने इसका जीर्णोद्धार कराया[1]। एकमत ऐसा भी है कि यह वि० स० ८९५मे बना।[2]

[1] **प्राचीन जैनस्मारक,**

[2] **जैन-सत्य-प्रकाश व० ९, पृ० १९९,**

मेरे खयालसे उपर्युक्त दोनो मत भ्रामक है। आश्चर्य होता है निर्णायकोंपर कि उन्होंने इसकी निर्माणशैलीको तनिक भी समझनेकी चेष्टा न की। अस्तु।

इस गौरव-स्तम्भके निर्माता मध्यप्रदेशान्तर्गत **कारंजा** निवासी **पुनसिंह** है और १५वी शताब्दीमें उनने इसे बनवाया था, जैसा कि **नान्दगाँवके** मन्दिरकी एक धातु प्रतिमाके लेखसे ज्ञात होता है। इस लेखको प्राप्त करनेमें मुझे काफी कठिनाइयोका सामना करना पडा था। लेख इस प्रकार है—

स्वस्ति श्री सवत् १५४१ वर्षे शाके १४९१ (१४०६) प्रवर्त्तमाने कोधीता संवत्सरे उत्तरगणे........मासे शुक्ल पक्षे ६ दिने शुक्रवासरे स्वातिनक्षत्रे......योगे र कणे मि० लग्ने श्रीबराद् (? ड़) देशे कारंजा-नगरे श्री श्रीसुपार्श्वनाथ चैत्यालये श्रीम (? मू) लसंघे सेनगणे पुष्करगच्छे श्रीमत्—वृषसेन—गणधाराचार्य पारपर्योद्गत श्रीदेववीर भट्टाचार्याः॥ तेषां पट्टे श्रीमद्भायराजगुरु वसुन्धराचार्य महावादवादीश्वर रायवादिपिता महासकल विद्वज्जन सार्थ (र्व) भौम साभिमान वादीभसिंहाभिनय—त्रैः.....विश्वसोमसेनभट्टारकाणामुपदेशात् श्रीवघेरवाल जाति खडवाड गोत्रे अष्टोत्तरशतमहोत्तुंगशिखरबद्धप्रासादसमुद्धरणधीरत्रिलोक श्री जिनमहाबिम्बोद्धारक-अष्टोत्तरशत श्रीजिनमहाप्रतिष्ठाकारक अष्टावस-स्थाने अष्टावशकोटि श्रुतभडारसंस्थापक, सवालक्षबन्दीमोक्षकारक, मेवपाट-देशे चित्रकूटनगरे श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्रचैत्यालयस्थाने निजभुजो-पार्जितवित्तबलेन श्रीकीर्तिस्तम्भआरोपक साह जिजा सुत सा० पुन सिहस्य ....साहदेउ तस्यभार्या पुई तुकार तयोः पुत्राश्चत्वारः तेषु प्रथम पुत्र साह लखमण........चैत्यालयोद्धरणधीरेण निजभुजोपार्जितवित्ता-नुसारे महायात्रा प्रतिष्ठा तीर्थ क्षेत्र......... ।

दुर्भाग्यसे यह लेख इतना ही उपलब्ध हुआ है। कारण कि आगेका भाग प्रयत्न करनेपर भी मै न पढ सका, घिस-सा गया है। फिर भी उपलब्ध अंशसे एक चलती हुई भ्रामक परम्पराको प्रकाश मिला।

चित्तौड़में एक और भी कीर्तिस्तम्भ है। आबूमें भी एक जैन-कीर्ति-स्तम्भ पाया गया है।

५ भाव शिल्प

इस भागमें केवल वे ही कृतियाँ नहीं आतीं, जिन्हें कलाकार अपनी स्वतन्त्र कल्पना द्वारा, विभिन्न रेखाओंमें विशिष्ट भावोंको व्यक्त करता है। अपितु उनका भी समावेश होगा जो दृश्यशिल्पसे सम्बद्ध है। शिल्प शब्दका अर्थ बड़ा व्यापक है। वास्तुकला उसका एक भेद है। इसीके द्वारा—कलाकारोंने भारतीयजीवन और संस्कृतिके अमर तत्त्वोंको समुचित रूपसे अंकित किया है। जैनोंने जिनमूर्ति, मन्दिर और तदंगीभूत उपकरणोंका जहाँ निर्माण करवाया, वहाँपर पौराणिक कथा-साहित्य, और जैनधर्मके आचार प्रतिपादक दृश्योंका भी उत्खनन करवाकर, शिल्प-वैविध्यमें अभिवृद्धि की। जैन इतिहासकी विशिष्ट घटनाओंको जिस प्रकार साहित्यकारोंने अपनी शब्दावलियोंमें बाँधा, उसी प्रकार कुशल शिल्पियोंने अपनी छैनीसे, कठोर प्रस्तरपर उकेरकर, उनकी सत्यतापर मुहर लगाई। भारतीय शिल्पकलामें, इस शैलीको श्रमणसंस्कृतिने ही सर्वाधिक प्रश्रय दिया।

प्राचीन मन्दिर और तीर्थस्थानोंमें विशिष्ट भावसूचक शिल्पकी अच्छी सामग्री सुरक्षित रह सकी है, यह समाजका सौभाग्य है। ये हमारी संस्कृतिको तो आलोकित करते ही है, भारतीयजीवनके बहुमूल्य इतिहासपर भी प्रकाश डालते है। भारतीय समाज और लौकिक रीति-रिवाजोंका निदर्शन इन्हींके द्वारा संभव है। साध्यके प्रति साधककी स्वाभाविक भक्तिका सक्रिय रूप ही आचार विषयक परम्पराको अधिक कालतक जीवित रख सकता है।

जैनाश्रित-कलाके परम पुनीत क्षेत्र मथुरामें ऐसी कृतियाँ मिली है। उनसे भगवान् महावीरके जीवन पटपर प्रकाश डालनेवाले साहित्यिक

उल्लेखोकी सत्यता सिद्ध होती है[1]। जैन-गुफाओमे भी अनेक कथा-प्रसंग दृष्टिगोचर होते है।

मध्यकालीन भारतीय शिल्प-स्थापत्य कलाका प्रधान क्षेत्र पश्चिम भारत रहा है। वहाँके राजवश और उनके अधिकारी तथा श्रीमानोने स्वस्थ सौन्दर्यकी उपासनामें सहायक, ऐसे अनेक स्थानोंका निर्माण करवाया। आबूका स्थान इन सबमें प्रथम आता है। जैनाश्रित शिल्पकलाकी अनुपम सामग्री एक ही साथ अन्यत्र दुर्लभ है। **विमलवसहिमें** ऐसे दृश्योका प्राचुर्य्य है। कही साधक वीतराग परमात्माकी श्रद्धापूर्वक आराधना कर रहा है, कही त्यागियोकी वाणी श्रवण कर रहा है और आशीर्वाद प्राप्त कर, अपनेको धन्य मानता है। कही पूजन विधानका दृश्य है, तो कही गंभीरतम भावोका सफल अकन है। तात्पर्य कि जैनोकी प्राथमिक क्रियाओको भी कलाकारने अपनी उच्चतम कल्पना द्वारा व्यक्त कर सामान्य पत्थरोंको भी कलापूर्ण बना दिया है।

पौराणिक-कथा-प्रसंगोंमें **भरत-बाहुबलि-युद्ध, बहन ब्राह्मी और सुन्दरीद्वारा प्रतिबोध, आर्द्रकुमारके** जीवनकी विशिष्ट घटना-हस्ति-तापसबोध, श्रीकृष्णका कालिय-अहिदमन, अश्वावबोधतीर्थ—शमलिका विहारकी घटनाके अतिरिक्त पंचकल्याणक, पार्श्वनाथजीकी कमठवाली घटना—शान्तिनाथजीका प्रसग, नेमिकुमारका सम्पूर्ण चरित्र और श्रेयास-कुमारका दान आदि कई प्रसग उत्कीर्णित है। पश्चिम भारतके प्राचीन मन्दिरोमें इनमेसे कुछेक प्रसग अवश्य ही खुदे हुए मिलेगे। विन्ध्यप्रान्तमें तो जिन प्रतिमाओके परिकरमे ही कुछेक घटनाएँ अंकित रहती है। ऐसी मूर्तियाँ **जसोमें** मैंने देखी है। तोरण-द्वारमे भी भावसूचक शिल्पका अच्छा आभास मिलता है। अपेक्षित ज्ञानकी अपूर्णताके कारण बहुसख्यक लोग इन्हे समझ नही पाते, बल्कि कही-कही तो ये टूटे-फूटे अवशेष निकाल

[1] भारतना जैन तीर्थो अने तेमनुं शिल्प-स्थापत्य प्लेट ८,

बाहर किये जाते है। प्राचीन मन्दिरोके जीर्णोद्धार करवानेवालोको बहुत सावधानीसे काम लेना चाहिए।

यहाँपर मै भावशिल्पकी एक और दिशाकी ओर सकेत कर दूँ कि रेखाओके अतिरिक्त कुछ लेखनकलाकी सामग्री भी शिल्पमें आ जाती है। जैसे कि मन्दिरोमे शतदल या सहस्रदलकमलकी पँखुडियोमें भगवान्की स्तुतियाँ मिलती है। वे भी जैनाश्रित कलाकी गौरव-गरिमामें अभिवृद्धि करती है। स्तम्भोपर ऐसी आकृतियाँ अकसर खुदी रहती है।

राणकपुर और **कुम्भारियाजी**के जिनमन्दिरोमें भी—कई भाव शिल्पके उत्कृष्ट प्रतीक पाये गये है। इस प्रकारकी साधन-सामग्री बहुत-से खडहरोमे भी अनायास उपलब्ध हो जाती है। मन्दिर या धर्म-स्थानसे सम्बद्ध अवशेषोके भाव तो प्रसगको लेकर समझमे आ जाते है, पर एकाकि कोई टुकडा मिल जाय तो उसे समझना कठिन हो जाता है। शास्त्रीय एव अन्यावशेषोके ज्ञान बिना ऐसी समस्या नही सुलझती। मै अपना ही अनुभव दे रहा हूँ। एक दिन मै **रॉयल एसियाटिक सोसाइटी** कलकत्ताके रीडिंगरूममे अपने टेबिलपर बैठा था, इतनेमे मित्रवर्य **श्री अर्द्धेन्दुकुमार** गागुली—जो भारतीय कलाके महान् समीक्षक है और **'रूपम्'**के भूतपूर्व सम्पादक है—मुझे एक नवीन शिल्पाकृतिका फोटू दिया, उनके पास **बड़ौदा** पुरातत्त्व विभागकी ओरसे आया था कि वे इसपर कुछ प्रकाश डालें, मैने उसे बडे ध्यानसे देखा, बात समझमे आई कि यह नेमिनाथजीकी वरयात्रा है। पर वह तो तीन-चार भागोमें विभक्त थी, प्रथम एक तृतीयाशमे नेमिनाथजी विवाहके लिए रथपर आरूढ होकर जा रहे है, पथपर मानव समूह उमडा हुआ है, विशेषता तो यह थी सभीके मुखपर हर्षोल्लासके भाव झलक रहे थे, रथके पास पशु-दल रुद्ध था, आश्चर्यान्वित भावोका व्यतिकरण पशुमुखोपर बहुत अच्छे ढगसे व्यक्त किया गया था, ऊपरके भागमे रथ पर्वतकी ओर प्रस्थित बताया है। इस प्रकारके भावोकी स्थिति अन्यत्र भी मैने देखी है, पर इसमे तो और भी विशिष्ट भाव थे, जो

अन्यत्र शायद अाजतक उपलब्ध नही हुए। यही इनकी विशेषता है। ऊपरके भागमें भगवान्का लोच बताया है, देशना भी है और निर्वाण-महोत्सव भी, दक्षिण कोनेपर राजिमतीकी दीक्षा—गुफामे कपडे सुखानेका दृश्य सुन्दर है, इतने भावोका व्यतिकरण जैनकलाकी दृष्टिसे बहुत महत्त्व रखता है। इसका उदाहरण देनेका एक ही प्रयोजन है कि ऐसे साधन जहाँ कही प्राप्त हों, तुरन्त फोटू तो उतरवा ही लेना चाहिए।

राजगृह-निवासी श्रीयुत बाबू **कनैयालालजी श्रीमाल**के संग्रहमे एक प्रस्तर पट्टिका सुरक्षित है। इसके निम्नभागमे भगवान् महावीरकी प्रतिमा है। ऊपरके भागमें एक भावशिल्प है । इसमें एक महिला चारपाईपर लेटी है। परिचारिकाएँ सेवामें उपस्थित हे। महिलाका उदर कुछ उठा हुआ-सा है और ऊपर भागमें चौदह स्वप्न हैं। इसका सम्बन्ध भगवान् महावीरके चरित्रसे जान पडता है। महिला उनकी माता **त्रिशला** है, गर्भावस्थाका यह दृश्य है। डा० **काशीप्रसाद जायसवाल** और स्व० **बाबू पूर्णचन्द्र** नाहरने इसका समय १० शती स्थिर किया है। **ऑरियण्टल कान्फरेन्स पटना** अधिवेशनसे लौटते समय उन्होने इसे देखा था।

मुगल कालीन जैनमन्दिरोमे जालियोका खुदाव बहुत सूक्ष्म पाया जाता है, और मन्दिरके अग्रभागमे मीनार भी है। मीनारका कारण बताया जाता है कि मुग़लोके आक्रमणसे वह बच जाता था। मस्जिद समझकर मजक आगे बढ जाते हे। जालियोका खुदाव काल विशेषकी देन है। मेने बनारसमें २-३ जालियां देखी है जो **भेलुपुर**की दादावाडीम लगी हुई हे। कलाकी दृष्टिसे ये जालियाँ उत्कृष्ट हे। इसका भास्कर्य इतना सूक्ष्म है कि वेल और पुष्पोकी नसे तथा मध्यभागमे पडनेवाली प्रतिच्छाया तकके भाव सफलतापूर्वक उकेरे गये हे। सभी जालियोका खुदाव बोर्डर्स प्रथक-प्रथक है। इनकी सुकुमार रेखाओंपर कोई भी मुग्ध हा सकता है। इसका रचना-काल **औरंगजेब**के बादका नही हा सकता। इन जालियोको प्राप्त करनेके लिए वहाँके एक कलाप्रेमी सज्जनने

चेष्टा की, पर जैनसमाजने अपने अधिकारमें रखना ही उचित समझा, जब हमारे गुरुमन्दिरमें वह चीज लगी है, तो व्यर्थ ही क्यों निकाली जाय।

जैनाश्रित भावशिल्पकी अखण्ड परम्पराका इतिहास यद्यपि आज हमारे सामने नहीं है, पर एतद्विषयक सामग्री प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध है। मानव समाजको स्थायी शान्तिकी ओर आकृष्ट करना ही इसका विशिष्ट उद्देश्य है। भाव-शिल्पका विषय भले ही जैन हो, पर वह साम्प्रदायिकतासे ऊपर उठी हुई वस्तु है। नैतिकता और परम्पराके ये प्रतीक रस और सौन्दर्यकी सामग्री प्रस्तुत करते है। इनमेंसे प्राप्त होनेवाला आनन्द क्षणिक नही है। वह आत्मिक भावनाओको जागृत करता है, स्वकर्त्तव्यकी ओर उत्प्रेरित करता है। इसलिए कि वह गुणप्रधान है।

भावशिल्पमें भोगासनोका समावेश अनुचित न होगा। कुछ लोगोने यह समझ रखा है कि इसप्रकारकी आकृतियाँ, तान्त्रिक परम्पराकी देन है। पर वास्तविक बात कुछ और ही है। एक समय था, प्रत्येक धर्म-मन्दिर और तीर्थोंमें इसप्रकारकी आकृतियाँ बनाई जाती थी। विचारनेकी बात है कि जिस विकारात्मक दृष्टिकोणसे आजकी जनता उसे देखती है, क्या, वही दृष्टिकोण उन दिनों भी था ? मुझे तो शका ही है। कलाकार अपनी कृतियोके निर्माण-समय कृतिके गुण-दोषपर ध्यान नही देता। पर अपने भावोको—प्रकृतिका बाह्य स्वस्थ—सौन्दर्यको, विविध कल्पनाओ द्वारा, किसी भी प्रकारके माध्यमसे व्यक्त करनेमे, अर्थात्—आनन्दकी सफल सृष्टि करनेमें तल्लीन रहता है, वह अपनी कोई भी कृति जगत्‌को प्रसन्न करनेके लिए नही बनाता। पर आनन्दमें उन्मत्त होकर जब वह सौन्दर्यसे परिप्लावित हो उठता है, तब सहसा अपने आनन्दमे जगत्‌को भी तदनुरूप बनानेकी चेष्टा करता है। वस्तुनिर्माण होनेके बाद आलोचनाका प्रश्न खड़ा होता है।

जैनमन्दिरोंमे उपर्युक्त कोटिकी आकृतियाँ पाई जाती है, वे केवल सामयिक शिल्पकलाकी प्रतिच्छाया नही है। शत्रुजय, आबू, तारगा राणकपुरमे खुले या छिपे तौरपर भोगासन पाये जाते है। आरग (जिला

रायपुर, मध्यप्रदेश)के जैनमन्दिरका पूरा शिखर ऐसे आसनोंसे भरा पड़ा हैं, सभव है इसलिए इसे 'भाण्डदेव'का मन्दिर कहते रहे होंगे। ऐसी स्थितिमें कैसे कहा जा सकता है कि भोगासन प्रतिमाएँ शिल्पियोंने आँख बचाकर बना दी होंगी। लोगोका खयाल रहा है कि इनके रहनेसे दृष्टि-दोष टल जाता हैं। इनके विषयमे अपेक्षित ज्ञानकी अपूर्णताके कारण समालोचकोंने मन्दिर-निर्माता व शिल्पियोको खूब भला-बुरा कहा हैं। पर यथार्थमे इन अश्लील मूर्त्तियोका प्रयोजन मन्दिरोकी वज्रपातादिसे रक्षा करना भी रहा है। इसके समर्थनमें निम्न श्लोक रक्खे जा सकते हें।

वज्रपाताविभीत्यादिवारणार्थं यथोदितम् ।
शिल्पशास्त्रेऽपि मण्याविविन्यासं पौरुषाकृतिम् ॥
(उत्कलखण्ड)

अधःशाखाचतुर्थांशे प्रतीहारौ निवेशयेत् ।
मिथुनं रथवल्लीभिः शाखाशेषं विभूषयेत् ॥
(अग्निपुराण)

मिथुनैः पत्रवल्लीभिः प्रमथं श्चोपशोभयेत्[१] ।
(बृहत् संहिता)

६ लेख

आजके युगमे यह बताना नही पडेगा कि प्राचीन लेखोका क्या महत्त्व है। इतिहास और पुरातत्त्वका विद्वान् शिलोत्कीर्ण लेखोंकी उपेक्षा नहीं कर सकता, कारण कि तात्कालिक घटनावलियोंको जानने-का सर्वाधिक विश्वस्त साधन लेख ही हैं। साहित्यादिमें अतिशयोक्ति-को स्थान मिल सकता है, पर लेखोंमें यह बात संभव ही नही। वहाँ तो सीमित स्थानमे ही सूत्ररूपसे मौलिकवस्तु उपस्थित करनी पड़ती थी।

[१]—"कल्याण—हिन्दू-संस्कृति अंक, पृष्ठ ६६७। भरत "नाट्य शास्त्र," 'राजधर्मकौस्तुभ' आदिग्रन्थोंसे भी ऐसी आकृतियों का समर्थन होता है,

जैन-सस्कृतिका सार्वभौमिक महत्व इन्ही लेखोके गभीर अनुशीलनपर निर्भर है। स्थूल रूपसे उपलब्ध लेखोको दो भागोमे विभाजित किया जा सकता है —

१ शिलोत्कीर्ण लेख

२ प्रतिमापर खुदे लेख

सापेक्षत प्रथम भागके प्राचीन लेख कम मिलत है। पुरातन शिला-लिपिमे सर्वप्रथम जिक्र उस लेखका आता है जो **वीर नि० स० ८४में** लिखा गया था[1]। **महामेघवाहन खारवेलका** लेख भी जैन-इतिहासपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। **उदयगिरि-खडगिरिमे** और भी प्राकृत लेख उपलब्ध हुए है, जिनका सामूहिक प्रकाशन पुरातत्त्वाचार्य मुनि **जिनविजयजीने** किया है। मथुराके जैनलेख ता हमारी अमूल्य सम्पत्ति है। डा० **जाकोबीने** इन्हीके आधारपर जैनागमोकी प्राचीनता स्वीकार की है। भाषाविज्ञान, इतिहास और समाजविज्ञानकी दृष्टिसे भी इनका विशेष महत्त्व है। पर अद्यावधि इनपर जितना भी कार्य हुआ है, वह आग्लभाषामे है और थोडा भ्रमपूर्ण भी। कलकत्ताके स्व० बाबू **पूर्णचन्द्रजी** नाहरने इनका पुर्ननिरीक्षण किया था, तथा **स्मिथकी** भूलोको परिष्कृत कर, समस्त लेखोके पाठोको शुद्ध किया था, पर उनके आकस्मिक निधनसे महान् कार्य स्थगित हो गया। जैनसाहित्यमे मथुरा विषयक जहाँ-कही भी उल्लेख आया है, उन सभीको आपने एकत्र कर, महत्त्वपूर्ण सामग्री सकलित कर रखी थी।

---

[1]—स्व० काशीप्रसाद जायसवालने उसे यों पढ़ा है—

विराय भगवत... ८४ चतुरासितिवसे...

जाये सालिम्मलिनिये र निविय माभिकसि के ॥

भारतका सर्वप्राचीन सवत्-सूचक लेख है। इस लेखसे स्पष्ट है कि उन दिनों राजस्थानमें भगवान्के भक्त विद्यमान थे,

गुप्तकाल भारतमें स्वर्णयुग माना जाता है। जैनसस्कृति और इतिहासपर प्रकाश **डालनेवाले** इस युगके लेख नहीके समान मिलते हैं, उदयगिरि (भेलसा)का लेख अवश्य महत्त्वपूर्ण है, जो ऊपर आ चुका है। कुछेक मूर्तियोपर भी लेख मिले है।

हाँ, इस युगकी विशेष सामग्री **'चूर्णियाँ'** व **"भाष्य"** है, जिनका महत्त्व भारतीय इतिहासकी दृष्टिसे अधिक है, कारण कि उनमें वर्णित अधिकतर घटनाएँ इतिहाससे साम्य रखती है।

गुप्तोत्तरकालीन लेख-सामग्री प्रचुर है। दक्षिण और उत्तर-पश्चिमम जैनोका प्राबल्य था। श्रवणबेल्गोलाकी ओर पाये जानेवाले लेखोकी लिपि कर्णाटकी-कनाडी हैं। दक्षिणभारतके कुछ महत्त्वपूर्ण लेखोका प्रकाशन विस्तृत भूमिका सहित **डॉ० हीरालाल**जी जैनके सम्पादकत्वमें हो चुका है। यद्यपि इसमें केवल श्रवणबेल्गोला एव तत्सन्निकटवर्ती स्थानो का ही समावेश है फिर भी उस ओरके इतिहासपर, इनमे अच्छा प्रकाश पडता है।

दक्षिण भारतके लेखोका सग्रह प्रकाशित करवानेका यश मि० **ई० हुलश, जे० एफ० फ्लीट** व **लूइस राईस** आदि विद्वानोको मिलना चाहिए। इन्होने कठिन श्रमद्वारा, दक्षिणके कोने-कोनेसे सकलन कर **'साउथ इडिया इन्स्क्रिप्शन" इंडियन एन्टीक्वेरी, 'एपिग्राफिया कर्णाटिका'** आदि ग्रन्थोमे प्रकट किये। ये अधिक सस्कृत या पुरानी कन्नड भाषामें थे। कर्णाटकम जैनलेखोकी अधिकता है क्योकि जैनइतिहासकी कुछ घटनाएँ इस भूभाग-पर भी घटी हैं। मेरा तो विश्वास है कि यदि **जैनलेखो**को कर्णाटकीय ऐतिहासिक साधनोसे पृथक् कर दिया जाय, तो वहाँ का इतिहास ही अपूर्ण रहेगा। इसका कारण यह है कि जैनाचार्योंने वहाँपर इतना प्रभाव जमा रखा था, कि जनता उनको अपना ही व्यक्ति मानती थी। मथुराके लेखोपर डॉ० फुहरर व डॉ० बूलरने अच्छा प्रकाश डाला है। जैन-लेखोका वर्गीकरण डॉ० गिरनाटने १९०८में किया था।

पश्चिम भारतकी ओर पाये जानेवाले लेख देवनागरीमें हैं। इनकी संख्या इतनी विस्तृत है कि कई भागोंमें प्रकाशित किये जा सकते हैं। मध्यकालमें **चापोत्कट, चौलुक्य** और **वाघेलाके** राज्यमें जैनोंका स्थान बहुत ऊँचा था। राजा भी जैनधर्मको आदरकी दृष्टिसे देखते थे। **जैसलमेर,**[1] **राजगृह,**[2] **शत्रुंजय,**[3] **राणकपुर,**[4] **गिरनार,**[5] **हथूंडी,**[6] **आबू,**[7] **देवगढ़**[8] आदि स्थानोंपर मूल्यवान् शिलालिपियाँ मिलती हैं। इनमेंसे बहुतोंका प्रकाशन **एपिग्राफिया इंडिका** तथा **इंडियन एण्टीक्वेरी"** तथा पुरातत्त्व विभागकी वार्षिक कार्यवाही **एवं "प्राचीन लेखमाला" हिस्टोरिकल इन्स्क्रिपशन्स ग्राफ गुजरात** भा० १, २, ३में छपे हैं। इनके अतिरिक्त बाबू **पूर्णचन्द्रजी नाहर**[9] राजस्थान पुरातत्त्व विभागके डाइरेक्टर

---

[1]जैन-लेख-संग्रह-जैसलमेर भा० ३,

[2]"महत्तियाण वंश प्रशस्ति"

[3]ई० स० १८८८-८९ में पुरातत्व विभागने यहाँके लेख लिये थे, उनमें से कुछेकका प्रकाशन एपिग्राफिया इंडिका भाग २ में हुआ है,

[4]आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया १८७-८,

[5]रिवाइज्ड लीस्ट्स आफ एन्टीक्वेरीयन रीमेन्स इन दि बाम्बे प्रेसीडेंसी, वा० ८ और आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया वा० २,

[6]एपिग्राफिया इंडिका वा०,

[7]एपिग्राफिया इंडिका वा० ८ और "कलेक्शन आफ प्राकृत एंड संस्कृत इंस्क्रिप्शन्स" तथा "एशियाटिक रिसर्चोज" वा० १६ "अर्बुदाचल जैन लेख संग्रह",

[8]देवगढ़में जैन-पुरातन-अवशेषोंकी प्रचुरता है। यहाँके २०० से ऊपर लेख भारतीय पुरातत्व विभागने लिये हैं,

[9]जैन-लेख-संग्रह भा० १—२—३,

मुनि जिनविजयजी,[1] विजयधर्मसूरि,[2] नन्दलालजी लोढ़ा,[3] डा० भोगीलाल सांडेसरा,[4] मुनि श्री पुण्यविजयजी,[5] श्रीयुत अगरचन्दजी व भँवरलाल नाहटा,[6] आचार्य विजयेन्द्रसूरि,[7] डा० डो० आर० भांडारकर,[8] बुद्धिसागर-सूरि,[9] श्री साराभाई नवाब,[10] बाबू कामताप्रसादजी जैन,[11] जैनाश्रित-कलाके अनन्य उपासक बाबू छोटेलालजी जैन,[12] श्रीप्रियतोष बैनरजी एम० ए०[13] (पटना) आदि विद्वानोंने जैनलेखोको प्रकाशमें लानेका पुनीत कार्य किया है। इन पंक्तियोंके लेखकका "जैनधातुप्रतिमा लेख संग्रह—प्रकाशित हुआ है। जैन-सिद्धान्तभास्कर, अनेकान्त, जैनसत्यप्रकाश आदि पत्रोमे प्रतिमा-लेख प्रकट होते ही रहते हैं।

---

[1]प्राचीन जैन लेख संग्रह भा० १–२,

[2]धातुप्रतिमा लेख संग्रह भा० १,

[3]श्रीजैनसत्यप्रकाशकी फाइलोंमें आपने मालवाके लेख प्रकट करवाये हैं,

[4]फॉर्बस सभाके त्रैमासिकमें धातु मूर्तियोंके लेख छपे हैं,

[5]वैयक्तिक संग्रहमें हैं,

[6]बीकानेरके २५०० लेखोंका संग्रह किया है, जो प्रेसमें हैं,

[7]निजी संग्रहमें काफी लेख हैं,

[8]भारतीय पुरातत्व विभागकी वार्षिक कार्यवाहीमें प्रकाशित,

[9]जैनधातु प्रतिमा लेख संग्रह भाग १–२,

[10]आपने भारतके सभी प्रांतोंके लेखोंका अच्छा संग्रह किया है,

[11]जैन प्रतिमा लेख संग्रह,

[12]जैन प्रतिमा-यंत्र लेख संग्रह,

[13]आपने जैन लेखोंका संग्रह किया है और उनपर विवेचना भी की है, विशेषकर प्राचीन लेखोंपर अपने-अपने महानिबन्ध (थीसिस) में एक प्रकरण ही लिखा है,

प्रतिमा-लेखोंकी चर्चा भी आवश्यक है। इसे भी दो भागोंमे बाँट देना समुचित प्रतीत होता है।

प्रस्तर और धातुप्रतिमा

मौर्यकालीन जैन-प्रतिमाएँ लेख रहित हैं। कुषाण कालीन सलेख हैं। गुप्तकालीन कुछ प्रतिमाओंपर लेख खुदे हुए पाये हैं[1]।

बहुसंख्यक पुरानी प्रस्तरप्रतिमा लेख रहित ही उपलब्ध हुई है, उनकी निर्माणशैलीसे उनका कालनिर्णय किया जा सकता है। १०वी शताब्दीके बादकी मूर्तियाँ प्रायः लेखयुक्त रहती थी। ये लेख मूर्तिके अग्रभागके निम्नभागमें लिखे जाते थे, पर स्थापना करते समय सीमेंट आदि पदार्थ लग जानेसे उनके लेख आधेसे अधिक तो नष्ट हो जाते है। पीछेके लेख अनुभवी ही, दर्पणके सहारे पढ पाते हैं। उस ओर परम्परा और सवत-का ही निर्देश रहता है। हाँ, कुछेक लेख ऐसे भी दृष्टिगोचर हुए है, जिनसे समसामयिक घटनापर भी प्रकाश पड जाता है। पर ऐसे लेख कम है।

प्राप्त लेखोके आधारपर धातुप्रतिमाओंका इतिहास मैने गुप्तकालके लगभगसे माना है। उस युगकी मूर्तियाँ लेखवाली है। गुप्तोत्तरकालीन प्रतिमाएँ दोनो प्रकारकी मिलती हैं। ८वी शतीके बाद तो इनपर लेखका रहना आवश्यक हो गया था। तदनन्तर धातुमूर्तियोका निर्माण काफी हुआ।

धातुप्रतिमाओंपर जो लेख मिल रहे है, उनकी लिपि बहुत ही सुन्दर और ग्रन्थलेखकी स्मृति दिलाती है। भारतीय लिपियोंके क्रमिक विकासके अध्ययनमे इनकी उपयोगिता कम नही है, कारण कि जैनोंको छोड कर भिन्न-भिन्न शताब्दियोंके लेख व्यवस्थित रूपसे अन्यत्र मिलेंगे कहाँ? इन लेखोंकी विशेष उपयोगिता जैन-इतिहासके लिए ही हैं, तथापि कुछ लेख ऐसे मिले है, जो महत्त्वपूर्ण तथ्यको लिये हुए है।

---

[1] "इम्पीरियल गुप्त" और "गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स" श्री राखालदास बैनरजी और फ्लीट,

प्रसगवश एक बातका उल्लेख अवश्य करूगा कि श्वेताम्बर समाजने अपनी मूर्तियोंके लेख लेकर कई संग्रहोंमें प्रकट किये, परन्तु दिगम्बर समाज अभीतक सुसुप्तावस्थामें ही है। आजके युगमें जैन-इतिहासके इस महत्त्वपूर्ण साधनकी ओर उपेक्षा-भाव रखना उचित नही।

चरणपादुका और यत्रोंके लेख सामान्य ही होते है। जैनलेखोंसे अपरिचित विद्वान् अक्सर यह शका उठाते है कि, उनकी उपयोगिता जैन-समाज तक ही सीमित है, परन्तु मै इस बातसे सहमत नही हूँ। मैने पश्चिमभारतके कुछ लेखोका विशेष दृष्टिकोणसे अध्ययन किया है, मै इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि उनमे राजनैतिक और सामाजिक लोक-जीवनकी बहुमूल्य सामग्री है। राजा महाराजाओके नामोंसे ही तो उनकी सीमाका समुचित ज्ञान होता है। किसका अस्तित्व कबतक था, कहाँतक शासनप्रदेश था, कौन मत्री था, वह किस धर्मका था, उसने कौन-कौनसे सुकृत किये, आदि अनेक महत्त्वपूर्ण बातोका पता जैनलेखोंसे ही चलता है। लोकजीवनकी चीजे भी वर्णित है, जैसे कि पायली-प्रादेशिक नाप, प्रचलित सिक्के आदि अनेक व्यवहारिक उल्लेख भी है। **कमरांका बीकानेर**पर आक्रमण किसी भी इतिहाससे सिद्ध नही है, पर जैनप्रतिमा लेखमे यह घटना खुदी है[1]।

अन्वेषण

आज हमारे सम्मुख जैनपुरातत्त्वका प्रामाणिक व शृंखलाबद्ध सविस्तृत इतिहास तैयार नही है। यह बडे खेदकी बात है, परन्तु इसके साधन ही नही है, ऐसा नही कहा जा सकता। यो तो आंग्लशासनकी ओरसे, समुचित रूपसे शासन चलानेके लिए या नवीन आंग्ल अधिकारी शासित प्रदेशसे परिचित हो जाये, इस हेतुसे प्राय भारतके स्वशासित

[1] **राजस्थानी वर्ष १ अं–१–२, पृ० ५४,**

ज़िलोंके **'गज़ेटियर'** तैयार करवाये गये थे। इनमें प्रासंगिक रूपसे कुछ अंशोमें उस ज़िलेके पुरातत्त्वपर, सीमित शब्दावलीमें प्रकाश डाला गया है—जैन-पुरातत्त्वपर बहुत कम। यह कार्य प्रायः अंग्रेजोद्वारा ही सम्पन्न हुआ, जो जैनधर्म व संस्कृतिसे अपरिचित-से थे। ऐसे ही गज़ेटियरोंके आधारपर स्वर्गीय **ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजीने 'प्राचीन जैन-स्मारक'** शीर्षक कुछ भाग प्रकाशित कर, जैनसमाजका ध्यान अपनी कलात्मक विरासतकी ओर आकृष्ट किया था। ब्रह्मचारीजीका यह कार्य अनुवाद मूलक है। उनके अनुभवका समुचित उपयोग, यदि इन अनुवाद परक भागोंमें हुआ होता, तो निस्सन्देह कार्य अति सुन्दर होता और अंग्रेजोकी गलतियोका परिमार्जन भी हो जाता।

पुरातत्त्वका अध्ययन सापेक्षतः अधिक श्रमसाध्य विषय है। चलती भाषामे इसे **'पत्थरोंसे सर फोड़ना' या 'गड़े मुर्दे उखाड़ना'** कहते है। बात ठीक है। जबतक मनुष्य अपना समुचित बौद्धिक विकास नही कर लेता, तबतक वह अतीतकी ओर झाँकनेकी क्षमता नही रखता। अन्वेषक, यदि अध्ययनीय या गवेषकीय विषयकी सार्वभौमिक उपयोगिताको समझले, तो विषय-काठिन्यका प्रश्न ही नही उठता, मुझे तो लगता है कि मानसिक दौर्बल्यजनित वैचारिक परम्परा, अन्वेषणकी ओर, जैनयुवकोको उत्प्रेरित नही कर सकी।'

रूसके सुप्रसिद्ध लेखक **मेक्सिमगोर्की** सोवियत लेखक समुदायके सन्मुख अपने भाषणमे कहता है **"लेखकोंको मै कहता हूँ कि रूसके प्राचीन इतिहासमेंसे युग-युगके स्तरोंको खोजो और मै विश्वास दिलाता हूँ कि इनमेंसे आपको भरपूर लेखन-सामग्री उपलब्ध होगी।" मै** कुछ परिवर्तनके साथ कहना चाहूँगा कि भारतवर्ष हजारो वर्षोंके इतिहास, सभ्यता और सतकृतिका भव्य खडहर है। इसकी खुदाईका, इसकी गवेषणाका अन्त नही है। इसके गर्भमे हमारे पूर्वजोकी कीर्तिको उज्ज्वल करनेवाले प्रेरक व पोषक सांस्कृतिक अवशेष पड़े हुए है। इनपर जमे

हुए मिट्टीके, थरोंको सत्यशोधक वृत्ति द्वारा अलग करनेका प्रयास किया जाय, तो न केवल प्रचुर लेखन सामग्री ही उपलब्ध होगी, अपितु हमारा विमल अतीत भी भविष्योन्नतिका कारण होगा।

जैन-पुरातत्त्वकी सभी शाखाएँ समृद्ध हैं, क्या शिल्प-कृतियाँ, क्या चित्र-कला, क्या मूर्त्ति-कला, क्या शिला व ताम्र-लिपियाँ और क्या ग्रन्थस्थ वाङ्मय आदि अनेक शाखाओंमें प्रचुर अन्वेषणकी उत्साहप्रद सामग्री विद्यमान हैं। इनके अन्वेषणार्थ सम्पूर्ण जीवन समर्पित करनेकी आवश्यकता है। पुरातन वस्तुओंमें फैली हुई उच्च कोटिकी सांस्कृतिक व कलात्मक परम्पराके आन्तरिक मर्मको समझनेके लिए, तदनुकूल जीवन व चित्तवृत्ति अपेक्षित है। विशाल वाचन एवं गम्भीर तुलनात्मक, निष्पक्ष, निर्णायक वृत्तिके बाद ही यह कार्य सम्भव है। पार्थिव आवश्यकताओंमें जन्म लेनेवाली कलाको, भावुक हृदय ही आत्मसात् कर सकता है।

एक विद्वान् लिखते हैं—कि

"इतिहासके सृष्टा तो गये, पर स्रजित इतिहासको एकत्र करनेवाले भी उत्पन्न नहीं होते। अपनी ही मिट्टीमें अपने रत्न दबे पड़े हैं। उनको हमने अपने पैरोंसे रोंदा। इनको चुननेके लिए समुद्रके उस पारसे 'टाड', 'फॉर्ब्स' 'ग्रोस', 'कनिंघाम' आदि आये। वे इतिहास गवेषणाके लिए नियुक्त नहीं हुए थे, पर वे अपने राजकीय-कार्यके बाद अवकाशके समय यहाँकी प्रेम-कथाएँ व शौर्य-कथाओंसे प्रभावित हुए, इनका स्वर उनके कानोंमें पड़ा। उसी पुकारने उनके हृदयमें शोधक बुद्धि उत्पन्न की।"

भा० पुरातत्त्वान्वेषणका इतिहास

वॉरन हेस्टिंग्सके समयसे पुरातत्त्वान्वेषणका इतिहास प्रारम्भ होता है। ईस्ट इंडिया कम्पनीकी सेवाके लिए आनेवाले अंग्रेजोंमें मिस्टर **'विलियम जॉन्स'** भी थे। इनके द्वारा एशियामें सभी प्रकारके अन्वेषणका सूत्रपात हुआ। **शकुन्तला** और **मनुस्मृतिके** अंग्रेजी अनुवादने यूरुपमें

तहलका मचा दिया था। सन् १७८४मे **एशियाटिक सोसायटी**की, इनके सद् प्रयत्नोंसे स्थापना हुई। इसमे चीन, ईरान, जापान, अरबस्तान और भारतके साहित्य स्थापत्य, धर्म, समाज और विज्ञान आदि विषयोंपर प्रकाश डालनेवाले महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोका सकलन कर, नवस्थापित सोसायटीके सदस्योको उन विषयोके अध्ययनके लिए प्रेरित किया। दश वर्षोंका अध्ययन समितिके मुखपत्र **एशियाटिक रिसर्चेस**के १७८८-१७९७ तकके प्रकाशित ५ भागोंमें सुरक्षित है। इस कालमे **चार्ल्स विल्किन्सने** बहुत मदद दी थी। इसीने प्रथम देवनागरी और बँगलाके टाइप बनाये।

सन् १७९४मे **सर विलियम जॉन्स**के अवसानके बाद **हेनरी कॉलब्रुकने** बागडोर सम्हाली। इसने भारतके माप, समाजविज्ञान, धार्मिक परम्परा, भाषा, छद आदि विषयोपर प्रकाश डालकर, यूरोपीय विद्वानोका ध्यान, भारतीय विद्यापर आकृष्ट किया, जब वे लन्दन गये, तब वहाँ भी आपने अपनी ज्ञानोपासना जारी रखी और "**रायल एशियाटिक सोसायटी**"की स्थापना की। इसने जैनधर्मपर भी एक निबन्ध लिखा, जो भ्रामक था।

सन् १८०७मे **मार्किवस वेलस्लि** बगालमे उच्च पदपर नियुक्त हुए, वहाँपर आपने **बिनाजपुर**, **गोरखपुर**, **शाहाबाद**, **भागलपुर**, **पूर्णिया**, **रंगपुर** आदिपर गवेषणा कर, नवीन तथ्य प्रकाशित किये।

पश्चिमीय भारतकी केनेरी व ओरिसाकी हाथी गुफाओका वर्णन "**बोम्बे ट्रान्जेक्शन**"मे, क्रमश. **साल्ट** व **रसकिन** द्वारा लिखित प्रकाशित हुए। दक्षिण भारतपर '**टामस डनियल**'ने कार्य प्रारभ किया, उसी समय वहाँ **कर्नल मेकेन्जी**ने पुरातत्त्वका अध्ययन शुरू किया। ये केवल ग्रंथ व लेखोके सग्राहक ही न थे, पर अध्ययनशील पुरुष थे। अभीतक लेख सग्रहीत तो हुए, पर लिपि विषयक ज्ञान अत्यन्त सीमित था। भारतीय पुरातत्त्वान्वेषणके महत्त्वपूर्ण अध्यायका प्रारभ १८३७ ईस्वीमें हुआ। इस बीच राजस्थान व सौराष्ट्रमे (सन् १८१८-१८२३) **कर्नल जेम्स टाडने** कुछ लेखोंका पता लगाया, जो **खरतरगच्छ**के यशस्वी यति

ज्ञानचन्द्रजीने[1] पढ़े। सन् १८२८में मि० **बी० जी० बॅबींग्टनने** तामिल लेखोंपरसे वर्णमाला तैयार की। १८३४से १८३७ तक **ट्रायर व डामिले** द्वारा क्रमशः समुद्रगुप्त व भिटारीके स्कन्दगुप्तवाले लेख प्रकट हुए। इन दोनोंके श्रमसे गुप्तकालीन वर्णमाला तैयार हुई। १८३५में, बोथने वलभीके दानपत्र पढ़े। **जेम्स प्रिन्सेपने** भी सन् १८३७-३८में गिरिनार दिल्ली, कमाऊँ, अमरावती और साँचीके गुप्त लेख पढे।

सूचित समयके अन्दर अंग्रेजोंने भारतीय स्थापत्य व लेखपर विद्वत्ता-पूर्ण गवेषणाएँ की। कई लेख पढ डाले, जिनमें साँची, प्रयाग, गिरनार, मथिया, धौली, रधिया, आदि मुख्य हैं। इस बीच कुछ स्तूपोंकी खुदाई हो चुकी थी। ब्राह्मी लिपिका ज्ञान भी काफी हो गया था। इस कालमे **जेम्स प्रिन्सेपका** भाग मुख्य रहा। इसके बाद ३० वर्ष तक पुरातत्त्वका पूर्ण सूत्र विख्यात स्थापत्य शोधक व आलोचक **जेम्स फरगुसन, मेजर किट्टो,**

---

[1] ज्ञानचन्द्र जयपुरके खरतरगच्छके यति अमरचंदके शिष्य थे। भाषा-कविताके अच्छे ज्ञाता होनेके अतिरिक्त उन्हें संस्कृतका भी ज्ञान था। इस कारण कर्नल टॉड उनको अपना गुरु मानकर सदा अपने साथ रखते। टॉडके राजस्थान तथा ट्रेवल्स इन वेस्टर्न इंडियामें जितने शिलालेखों और ताम्रपत्रोंका उल्लेख मिलता है, वे सब उन्होंने ही पढ़े थे। वे ई० सन्‌की १० वीं शताब्दीके आसपासके शिलालेखोंको पढ़ लेते थे, परन्तु प्राचीन शिलालेख उनसे ठीक नहीं पढ़े जाते थे। संस्कृतका ज्ञान भी साधारण होनेके कारण कहीं-कहीं उनमें त्रुटियाँ रह गईं, जो टॉडके ग्रंथोंमें ज्यों-की-त्यों पाई जाती हैं। कर्नल टाडने महाराणा भीमसिंहसे सिफारिश कर उनको बहुत-सी जमीन दिलाई। उनका उपासरा मांडल नामक क़स्बे में है, जहाँ टॉडके समयकी कई एक पुस्तकों, चित्रों तथा शिलालेखोंकी नक़लें विद्यमान हैं,

(श्री हरबिलास सारदा "भारतीय अनुशीलन", पृ० ७७)

एडवर्ड टामस, अलेक्झेंडर कनिंघम, वाल्टर इलियट, मेडोज टेलर, डा० भाउ दाजी और डा० भगवान्लाल इन्द्रजी आदि विज्ञोंके हाथमें रहा। भारतीय शिल्प-स्थापत्य-कलाके प्रारंभिक इतिहासमें फरगुसनका नाम बडे आदरके साथ लिया जाता है। आपके ग्रन्थ ही इस विषयपर समुचित प्रकाश डालते हैं। आपने जैनतीर्थों, मन्दिरों व गुफाओंपर भी प्रकाश डाला है. यद्यपि उनके परिचय और समय निश्चित करनेमें उचित साधनोंके अभावमें, कही-कही महत्त्वपूर्ण स्खलनाएँ भी रह गई है, पर इनसे उनके कार्यका महत्त्व लेशमात्र भी कम नही होता। कहा जाता है कि इनका स्थापत्य विषयक ज्ञान इतना बढा-चढा था कि किसी भी इमारतको देखते ही, सामान्यत निश्चयपर पहुँच जाते थे। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी, वेधक व निर्णायक थी। इस महत्त्वपूर्ण और अभूतपूर्व कार्यमे उनको सफलता मिलनेका एकमात्र कारण यही था कि वे चित्रकलाके पडित थे। जन्मजात कलाकार थे। आपने कतिपय स्थानोके चित्र व स्केच अपने हाथों तैयार किये थे। **टामस** व **स्टिवेन्सनने** मुद्राएँ व लेखोपर अपनी दृष्टि केन्द्रित की।

डा० भाउ दाजीने अनेक शिला लिपिएँ पढ़ी, और महत्त्व पूर्णग्रन्थों का सग्रह किया, जो वर्तमानमे **रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बोम्बेमें** उन्हीके नामसे सुरक्षित है। इस सग्रहमें अनेक महत्त्वपूर्ण जैन-ग्रन्थ भी सकलित है। शिलालिपियोके पठनमे आपने **डा० भगवानलाल[1] इन्द्रजीसे** बहुत मदद ली गई थी। यह प्रथम सौराष्ट्री थे, जिनने पुरातत्त्वान्वेषण, विशेषत लिपिशास्त्रमे अद्वितीय प्रतिभा व शोधक बुद्धि प्राप्त की थी।

---

[1] इनकी प्रखर प्रतिभाका लाभ विदेशी विद्वानोंने अधिक उठाया। डा० बूलनर, जेम्स केम्बेल, प्रो० कर्न, और डा० रामकृष्ण भांडारकर जैसे विज्ञोंने इतिहास-संशोधन व लिपिशास्त्रमें अपना गुरु माना था। अपने ग्रन्थोंमें उपकार स्वीकृत किया है। आज गुजरातमें जो एतद् विषयक अन्वेषक है, वे आप ही की परंपराके ज्वलंत प्रतीक है,

खारवेलका जैन लेख इन्होने ही शुद्ध किया था। इस प्रसंगमे डा० **राजेन्द्र-लाल मित्र**को नही भुलाया जा सकता। आपने पुरातत्त्वानुसन्धानके साथ नेपालके साहित्य और इतिहासका विस्तृत ज्ञान कराया।

पुरातत्त्व-विभागकी स्थापना

अभीतक जिन विद्वानोने भारतीय पुरातत्त्व, इतिहास और साहित्य विषयक जितने भी कार्य किये, वे वैयक्तिक शोधकरुचिका सुपरिणाम था। वे भले ही सरकारी अधिकारी रहे हो, पर शासनने कोई उल्लेखनीय सहायता न दी थी, न शासनकी इस ओर खास रुचि ही थी ! क्या स्वतन्त्र भारतके अधिकारियोसे वैसी आशा करूँ ?

सन् १८४४मे लडनकी '**रायल एशियाटिक सोसायटीने ईस्ट इंडिया कम्पनीसे** प्रार्थना की कि वह इस पवित्र कार्यमे मदद करे। पर इस विनतिका तनिक भी प्रभाव न पडा। कुछ काल बाद युक्त प्रान्तके चीफ एञ्जीनियर कर्नल कनिंघमने एक योजना शासनके सम्मुख उपस्थित की, और सूचित किया कि इस कार्यकी ओर शासन लक्ष नही देगा तो वह कार्य **जर्मन** या **फ्रेंच** लोग करने लगेगे, इससे अग्रेजोके यशकी हानि होगी। तब जाकर **आर्कियोलोजिकल सर्वे** डिपार्टमेण्टकी सन् १८६२मे स्थापना हुई। कनिघम साहबको इस विभागका सर्वेसर्वा बनाया गया—२५०) मासिकपर। आपने इस विभागद्वारा भारतीय पुरातत्त्वका जो कार्य किया है, वह अपनी २४ जिल्दोमे प्रकाशित है। १८८५ तक आपने कार्य किया। जैनपुरातत्त्व व मूर्तिकलाकी अत्यन्त महत्वपूर्ण मौलिक सामग्री इन २४ रिपोर्टोंमे भरी पडी है। आपको जैन-बौद्धके भेदोका पता न रहनेसे, जैनपुरातत्त्वके प्रति पूर्णतया न्याय नही दे सके है, जैसा कि डा० **विन्सेन्ट ए० स्मिथके** इन शब्दोसे ध्वनित होता है—

जैन-स्मारकोंमें बौद्ध-स्मारक होनेका भ्रम

"कई उदाहरण इस बातके मिले हैं कि वे इमारतें जो असलमें जैन हैं,

ग़लतीसे बौद्ध मान ली गई थीं। एक कथा है जिसके अनुसार लगभग अठारह सौ वर्ष हुए महाराज कनिष्कने एक बार एक जैन स्तूपको ग़लतीसे बौद्ध स्तूप समझ लिया था और जब वे ऐसी ग़लती कर बैठते थे, तब इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि आजकलके पुरातत्त्ववेत्ता जैन इमारतोंके निर्माणका यश कभी-कभी बौद्धोंको देते हों। मेरा विश्वास है कि सर अलेक्जेंडर कनिंघमने यह कभी नहीं जाना कि जैनोंने भी बौद्धके समान स्वभावतः स्तूप बनाये थे और अपनी पवित्र इमारतोंके चारों ओर पत्थरके घेरे लगाते थे। कनिंघम ऐसे घेरोंको हमेशा "बौद्ध घेरे" कहा करते थे और उन्हें जब कभी किसी टूटे-फूटे स्तूपके चिन्ह मिले तब उन्होंने यही समझा कि उस स्थानका संबंध बौद्धोंसे था। यद्यपि बंबईके विद्वान् पंडित भगवानलाल इन्द्रजीको मालूम था कि जैनोंने स्तूप बनवाये थे और उन्होंने अपने इस मतको सन् १८६५ ईसवीमें प्रकाशित कर दिया था, तो भी पुरातत्त्वान्वेषियोंका ध्यान उस समयतक जैन-स्तूपोंकी खोजकी तरफ न गया जबतक कि ३० वर्ष बाद सन् १८९७ ई० में बुहलरने अपना "मथुराके जैन स्तूपकी एक कथा" शीर्षक निबन्ध प्रकाशित न किया"[1]।

कनिंघम साहबके रक्तशोषक श्रमजनित कार्योंने प्रमाणित कर दिया कि भारत प्राचीनतम कलात्मक प्रतीकोंका देश है और भविष्यमें भी गवेषणा अपेक्षित है। वे केवल खोज करके ही या विवरणात्मक रिपोर्ट लिखकरके ही सतुष्ट न हुए, अपितु महत्त्वपूर्ण स्थानोंकी समुचित रक्षाका भी प्रबन्ध करवाया। मेजर कॉलने इसमें अच्छी मदद की। तीन वर्षके प्रयत्न स्वरूप—

प्रिजर्वेशन ऑफ नेशनल मॉन्युमेण्टस ऑफ इंडिया

नामक तीन रिपोर्टें प्रकाशित हुईं।

कनिंघम साहबने जो कार्य किये, उनके आधार चीनी पर्यटकोंके

---

[1]वर्णी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ २३४-३५,

विवरण थे। पुरातन अवशेषके अतिरिक्त आपने भूगोल व मुद्राओंपर प्रामाणिक और विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखे। **एंश्यंट जिओग्राफी ऑफ इंडिया** और ४ जिल्दे सिक्कोंपर प्रकट हो चुकी है। मथुराके जैन-अवशेषोंकी खुदाई आप व आपके सहयोगी **डा० फुहरर** द्वारा सम्पन्न हुई और स्मिथ द्वारा मूल्यांकन हुआ।

जब सन् १८८९मे वे अवकाशपर गये तब विभागका पूरा भार **डा० बर्जेसके** कंधो पर आ पडा। अब यह कार्य इतना व्यापक हो चुका था कि समुचित सचालनार्थ पाँच भागोंमें विभाजित करना पडा। **डा० बर्जेसने** जैनपुरातत्त्वपर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। कनिघमकी अपेक्षा आपने इस सम्बन्धमे भूलें कम की।

अब सरकारकी इच्छा नही थी कि यह विभाग अधिक दिन चलाया जाय। **डा० बर्जेसके** हटनेके बाद एक कमिशन इसके हिसाब जाँचनेके लिए बैठाया गया, कमिशनने कम व्यय करनेकी सिफारिश की। पाँच वर्ष बडी दीनतापूर्वक बीते। पर लॉर्ड **कर्जनने** पुन इसमे प्राण सचार किया। और १ लाख रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया, अब डाइरेक्टर जनरलके आसनपर **सर जोन मार्शल** आये। १९०२से एक प्रकारसे भारतीय पुरातत्त्वके अन्वेषणमे नया युग प्रारम्भ हुआ, कार्यको गति मिली।

सर जॉन मार्शलने पूर्व गवेषित पुरातन स्थानोका पर्यटन किया, और उनकी तात्कालिक स्थितियोंका अध्ययन किया, जहाँ नवीन अवशेष निकलनेकी सभावना थी, वहाँपर खनन कार्य प्रारभ हुआ। तदनन्तर मेगेस्थनीज और चीनी पर्यटकोके विवरणके आधारपर निर्मित कनिघम साहबकी भूगोलपरसे जैन व बौद्ध तीर्थोका अनुसधान हुआ। राजगृह, मथुरा, सारनाथ, मिरखासपुर, भीटा, खाशिया, आदि नगरोका अन्वेषण हुआ। वैशाली भी अभी ही प्रकाशमें आई। १९२४ तक नालंदा, अमरावती, तक्षशिला आदि पुरातन नगरोका ऐतिहासिक महत्त्व समझा गया। तक्षशिलाके जैनस्तूपोको या मन्दिरोको प्रकाशमे लानेका श्रेय सर जॉन

मार्शलको है। इसी वर्ष **हरप्पा और मोहन-जो-दड़ोके** खननने प्रमाणित कर दिया कि भारतीय सस्कृति और सभ्यताका इतिहास, प्राप्तसाधनोंके आधारपर ५००० वर्ष जाता है। अर्थाभावसे १९२७मे इस कार्यको स्थगित करना पड़ा।

जिन अग्रेजोद्वारा पुरातन गवेषणा विषयक कार्य चालू था, उस समय कुछ रियासतोने भी अपने-अपने भूभागमे खोजका काम प्रारभ किया। कही-कही तो **पुरातत्त्व विभाग** ही खोल डाला गया। ऐसे इतिहास-प्रेमी नरेशोमे सर्वप्रथम नाम भावनगर-नरेश **तख्तसिहजीका** आता है। सौराष्ट्र और राजपूतानाके आपने कई लेख एकत्र करवाये, जो बादमे **"भावनगर प्राचीन शोधसंग्रह" भाग १**में सूर्यवशी राजाओसे सम्बद्ध कई लेख गुजराती व अग्रेजी अनुवाद सहित तथा दूसरे भाग—**"ए कलैक्शन ऑफ प्राकृत एण्ड संस्कृत इन्स्क्रिप्शन्स"** मे सौराष्ट्रके मौर्य, क्षत्रप, गुप्त, वलभी, गुहिल और गुजरातके चौलुक्योके लेख, सानुवाद प्रकाशित हुए।

मायसोर व **ट्रावनकोर** स्टेटका दान भी उल्लेखनीय है। इनकी ओरसे क्रमश. दक्षिण भारतमे बहुत-से लेखो व मूर्तियोपर प्रामाणिक ग्रन्थात्मक सामग्री प्रकाशमे आई। **भोपाल, उदयपुर, ग्वालियर, बड़ौदा, जूनागढ़** और **ईडर** राज्योने भी अपने-अपने भूभागोका, अधिकारी विद्वानोके पास अनुसन्धान करवाकर मूल्यवान् योग दिया। इन राज्योंके पुरातत्त्व-रिपोर्टोंमे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन सामग्री भरी पडी है।

राज्यकी ओरसे तो विद्वान् कार्य करते ही थे, पर, कुछ विद्वान् ऐसे भी उन दिनो थे, जो बिना किसी अपेक्षा रखे, स्वतन्त्र रूपसे अन्वेषण कार्य करते रहे। पुरातत्त्व विभागमे भी बहुत-से ऐसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे, जिनकी खोजोका महत्त्व है। ऐसे विद्वानोमें **ए० सी० एल० कार्लाईल, मि० गैरिक,** डा० **फुहरर व स्पूनर** आदि मुख्य है।

श्रीयुत **रायबहादुर के० एन० दीक्षितके** समयमें प्रागैतिहासिक स्थानों-

का सफलतापूर्वक खनन हुआ। तदनन्तर **ह्वीलर** डाइरेक्टर जनरल हुए और अभी **श्रीमाधवस्वरूपजी वत्स** हैं।

पुरातत्त्व-विभागकी सक्षिप्त कार्यवाही, जैन-अन्वेषणका मार्ग सरल बना देती है। पुरातत्त्व विभागीय रिपोर्टोंके अतिरिक्त **रायल एशियाटिक सोसायटी लंदन और बंगालके जर्नल्स 'रूपम', इंडियन आर्ट ऐंड इण्डस्ट्री, सोसायटी आफ दि इंडियन ओरियेंटल आर्ट, बंबई यूनिवर्सिटी, जर्नल आफ दि अमेरिकन सोसायटी आफ दि आर्ट, भांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, इंडियन कल्चर आदि जर्नल्स भारतीय विद्या श्री जैन-सत्य प्रकाश, जैनसाहित्यसंशोधक, जैनऐंटीक्वेरी, जैनिज्म इन नोदर्न इंडिया एवम् खोज विषयक समितियोंके जर्नल्स** आदिमे जैन इतिहास व पुरातत्त्वकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित है। केवल उपर्युक्त विवेचनात्मक विवरणोके आधारपर जैन-पुरातत्त्वके इतिहासकी भूमिका तैयार की जा सकती है। जिस प्रकार गजेटियरोके आधारसे प्राचीन जैन-स्मारककी सृष्टि हुई, तो क्या इतनी विपुल सामग्रीसे कुछ ग्रन्थ तैयार नही हो सकते ? अवश्य हो सकते है। स्व० **नाथालाल छगनलाल शाहने** जैन-गुफाओपर इस दृष्टिसे कार्य किया था, पर अकालमे ही काल द्वारा कवलित हो गये। साथ ही एक बातकी सूचना दूंगा कि यदि इन साधनोके आधारपर ही जैन-पुरातत्त्वके अतीतको मूर्तरूप देना है तो, पूर्व गवेषित स्थान व निर्दिष्ट कला-कृतियोका पुन निरीक्षण वाछनीय है। कारण कि जिन दिनो कथित अवशेषोंकी गवेषणा हुई, उन दिनो, अपेक्षित ज्ञानकी अपूर्णताके कारण, उनके प्रति न्याय नही हुआ[1]। जिन सामग्रियोंको गवेषकोने बौद्ध घोषित किया था, वे आगे चलकर जैन प्रमाणित हुई। प्रसगत जैनशिल्प व मूर्तिकला आदि ऐतिहासिक

---

[1]आजके युगमें जब कि सभी साधन प्राप्त हैं तो भी विद्वान् लोग प्रमाद कर बैठते हैं तो उन लोगोंकी तो बात ही क्या कही जाय,

साधनोका सकलन तथा प्रकाशन काममे योग देनेवाले प्रमुख विद्वानोंमेसे कुछ एक ये है—

डाक्टर फुहरर, विन्सेन्ट ए०.स्मिथ, डाक्टर भांडारकर (पिता, पुत्र), डाक्टर फ्लीट, डाक्टर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहर, मुनिश्री जिनविजयजी, विजयधर्मसूरिजी, बाबू कामताप्रसादजी जैन, डा० हंसमुखलाल डो० संकलिया, शान्तिलाल उपाध्याय, अशोक भट्टाचार्य, उमाकान्त शाह, प्रिय तोष बनरजी, सी० रामचन्द्रम् और बाबू छोटे-लालजी जैन, अगरचन्द्रजी व भँवरलालजी नाहटा, मुनि कल्याण विजयजी, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ।

आधुनिकतम जैन ऐतिहासिक तथ्योके गवेषियोमे श्री **साराभाई नवाब**का नाम सबसे आगे आता है। आपने स्व० **डा० हीरानन्द शास्त्री** जैसे सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञके सान्निध्यमे पुरातत्त्व विज्ञानकी शिक्षा प्राप्त कर, सम्पूर्ण भारतके कोने-कोनेमें फैले हुए जैन 'प्रतीकों'का निरीक्षण कर अन्वेषणमे प्रवृत्त हुए है। पुरातत्त्वके ऐसे बहुत कम विशेषज्ञ मिलेगे, जो शास्त्रीय अध्ययनके साथ सर्वांगपूर्ण व्यक्तिगत अनुभव भी रखते हो। नवाबने अपने अनुभवोके आधारपर, जैनशिल्पकलाके मुखको उज्ज्वल करनेवाले दर्जनो निबन्ध सामयिक पत्रोमे प्रकाशित तो करवाये ही हैं, साथ ही, **भारतमें जैन तीर्थो अने तेमनुं शिल्प स्थापत्य** और **चित्र कल्पद्रुम** जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोके कलात्मक सस्करण प्रकाशित कर, सिद्ध कर दिया है कि जैनाश्रित तीर्थस्थित शिल्प-स्थापत्यावशेषोकी उपयोगिता धार्मिक दृष्टिसे तो है ही, साथ ही भारतीय लोक-समाज और जन-सस्कृतिके भी परिचायक है। जैनतीर्थोंका शिल्प भास्कर्य कलाकारोको व समीक्षकोको अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। जैनतीर्थ आबूपर **मुनि जयन्तविजयजी**ने अभूतपूर्व प्रकाश डाला है। **मुनिश्री जिनविजयजी**ने जो वर्तमानमे राजस्थान पुरातत्त्व विभागके अवैतनिक प्रधान संचालक है, कलिंगकी गुफाओके व इतर सैकड़ों जैनलेखोपर

ऐतिहासिक समीक्षाएँ लिखी हैं, एवं **सिंघी-जैन-ग्रन्थमालामें**—जिसके वे मुख्य सम्पादक हैं, जैन-इतिहासके सर्वमान्य मौलिक ग्रन्थोंका प्रकाशन कर, जो सेवा की है और कर रहे है, वह राष्ट्रके लिए गौरवकी वस्तु है। उनके तत्त्वावधानमें राजस्थानमें गवेषणा विषयक जो कार्य हो रहे हैं, उनसे बहुत नवीन तथ्य प्रकाशमें आवेगे। मुझे ज्ञात हुआ है कि मुनिश्रीके तत्त्वा नमें, अभी अभी एक समितिद्वारा, आबू पहाड़के ऐतिहासिक स्थानोंकी गवेषणा जोरोंसे हो रही है।

ईस्वी १७८४से आजतक स्वतन्त्र या शासनके आधिपत्यमें पुरातन स्थान व ऐतिहासिक साधनोका अन्वेषण किया गया, तो भी अभी भारतवर्षके जगलोमे और खण्डहरोमे हजारो कलात्मक 'जैन प्रतीक' अरक्षित उपेक्षित दशामें इतस्तत. बिखरे पडे है, जिनपर भारतीय पुरातत्त्व विभागका लेशमात्र भी ध्यान नही है। पुरातन जैन-मन्दिर व तीर्थोंमें आज भी उल्लेखनीय लेख व कलाकी दृष्टिसे अनुपम शिल्प कृतियाँ सुरक्षित हे, जिनका पता पुरातत्त्वज्ञ नही लगा सके थे। इन धार्मिक दृष्टिसे महत्त्व रखनेवाले प्रतीकोका अध्ययनपूर्ण प्रकाशन हो तो सम्भव है भारतीय मूर्त्ति व शिल्पकलापर तथ्यपूर्ण प्रकाश पड सकता है। मूर्त्ति विषयक उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझ सकती है। पर यह तब ही सभव है, जब जैनमूर्तिविधान व तदगीभूत अन्य भावशिल्पोपर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थस्थ उल्लेखोका तलस्पर्शी अध्ययन हो। कभी-कभी देखा जाता है कि अजैन विद्वान् जैन मूर्तिकलापर कलम चला देते है, और उनके द्वारा विद्वज्जगतमे भी ऐसी भ्रान्ति फैल जाती है कि उनको दुरुस्त करना कठिन हो जाता है। ऐसी भूलोमे कुछेक ये हैं—**"जैन आइकोनोग्राफी"** श्री भट्टाचार्य लिखित लाहोरसे प्रकट हुई थी। उसमें ऋषभदेव स्वामीकी मूर्तिका एक ही चित्र दो बार प्रकाशित है, पर नीचे लिखा है "यह महावीर स्वामीकी प्रतिमा है"। जब वृषभ लछन व स्कधपर केशावली भी स्पष्टत. उत्कीर्णित है। लेखकने इनपर ध्यान दिया होता, तो यह भूल न होती।

श्री **सतीशचन्द्र कालाने "प्रयाग' संग्रहालयमें जैनमूर्तियाँ"** शीर्षक एक निबन्धमें लिखा है, कि **"गणपति" भी जैन मूर्तियोंके साथ पूजे जाने लगे।** पर कालाजीने भगवान् पार्श्वनाथके "पार्श्वयक्ष"के **स्वरूप** पर ध्यान दिया होता, तो ज्ञात हो जाता कि वह गणपति नहीं पर, जैनयक्ष है। यदि 'गणपति'का पूजन जैनमूर्तिशास्त्रोंमें हो तो वे प्रकट करे। कालाजीने उसी लेखमे यह भी लिखा है कि **"१२वीं शताब्दीके बाद अधिकतर मूर्तियोंमें लिंगको हाथोंके नीचे छिपानेकी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।"** पर मेरे अवलोकनमें आजतक ऐसी एक भी मूर्ति नही आई। जब प्रतिमामें नग्नत्व प्रदर्शित करना ही है तो फिर ढँकनेकी क्या आवश्यकता? वे आगे कहते हैं कि **"एक तो इसमें तीर्थंकर विशाल जटा पहिने हैं"**[२]। तीर्थंकर जटा नही पहनते थे, वह तो चतुःमुष्टी लौचका रूपक है।

त्रिपुरीमें सयक्ष-यक्षी नेमिनाथकी खंडित प्रतिमाको **ब्यौहार राजेन्द्रसिंहजीने** अशोक-पुत्र महेन्द्र और सघमित्रा मान लिया।[३]

जिसप्रकार सर कनिंघम और सर जान मार्शलने चीनी पर्यटकोके यात्रा-विवरणोको आधारभूत मानकर अपनी गवेषणा प्रारंभ की थी, ठीक उसी प्रकार मध्यकालीन विलुप्त जैनतीर्थोंका अन्वेषण तीर्थमालाओंके आधारपर होना चाहिए, क्योकि सोलहवी-सत्रहवी शताब्दीकी तीर्थमालाओंमें जिन जैन-स्थानोका उल्लेख किया गया है, वे आज अनुपलब्ध हैं। जैसे कि—**मुनिश्री सौभाग्यविजयजी** विक्रम सवत् १७५०मे पूर्व देशकी यात्रा करते हुए बिहार में पहुँचे। आपने अपनी तीर्थमालामे उल्लेख किया है, कि पटनासे ५० कोसपर **'बैकुण्ठपुर'** ग्राम है। वहाँसे १० कोष **वाड़ग्राम** पड़ता है, वहाँके मन्दिरमे रत्नकी प्रतिमा है। गगाजीके

[१] श्रीमहावीर स्मृति ग्रंथ, पृ० १९२,

[२] श्री महावीर स्मृति ग्रंथ, पृ० १९३,

[३] त्रिपुरीका इतिहास, पृ० २६,

मध्यमें एक पहाडीपर देवकुलिकामे भगवान् ऋषभदेवकी प्रतिमा[1] है।"

यही मुनिश्री पटनासे उत्तर दिशामें ५० कोशपर **'सीतामढ़ी'**का उल्लेख करते हैं जहाँ ऋषभदेव, मल्लिनाथ और नेमिनाथकी चरण-पादुका है[2]। **वैकुण्ठपुर** इन पक्तियोका लेखक हो आया है। यहाँसे गगा लगभग २।। मील पडती है। वहाँपर जिनवरकी न तो प्रतिमा है और न देहरी ही। साधारण पहाड़ी व जगल तो है। खास वैकुठपुरमे अभी तो केवल पुरातन शैव मन्दिर है। पर हाँ, बस्तीको देखनेसे वह प्राचीन अवश्य जँचती है। चाडमे कुछ भी दृष्टिगोचर न हुआ, वहाँ मै खास तौरसे गया था। अब रहा प्रश्न दूसरे उल्लेखका। **सीतामढ़ी** तो वर्तमान मिथिलाका ही नाम है। यह दरभगा जकशनसे ८२ मील पश्चिमोत्तरमे है। पर वहाँ उल्लेखानुसार 'चरण' तो नही है। इन दोनो तीर्थोका अन्वेषण अपेक्षित है।

नालदाके विषयमे भी इन तीर्थमालाओके उल्लेखोपर ध्यान देना आवश्यक है। स० १५६१मे यहाँ १६ जैन-मदिर होनेकी सूचना मुनि हससोम देते है। विजयसागर (स० १७१७) २ मदिरका उल्लेख करते है। और सौभाग्यविजय (स० १७५०) एक मदिरका ही निर्देश करते है। पर वे यह भी लिखते हैं कि अन्य मदिर प्रतिमा रहित है। ये सब उल्लेख शोधकके लिए विचारणीय है। पर अभी तो वहाँ एक ही जिन-मदिर है और एक दिगम्बर सम्प्रदायका है। अतिरिक्त मदिर व स्तूपका क्या हुआ, थोडे समयमे इतना परिवर्तन कैसे हो गया[3], यह खोजका विषय है। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते है। क्या पुरातत्त्व विभाग ऐसे प्रत्यक्षदर्शी महात्माओंके उल्लेखोपर ध्यान देगा ?

---

[1] प्राचीन तीर्थमाला-संग्रह, पृ० ८१,

[2] प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, पृ० ९३,

मुझे अपने अनुभवोंके आधारपर सखेद लिखना पड़ रहा है कि आजका पुरातत्त्व-विभाग सापेक्षतः अन्वेषण एवं संरक्षण विषयक कार्यमें उदासीन है। मुझे तो ऐसा लगता है कि पुरातत्त्व विभागका अब एकमात्र यही कार्य रह गया है कि पूर्व संरक्षित अवशेषोंकी येन-केन प्रकारेण रक्षा की जाय। यों तो सामयिक पत्रोंसे सूचना मिलती है कि कहीं-कहीं खनन-कार्य जारी है, पर एक ओर अवशेषोंकी समुचित रक्षातक नहीं हो रही है। मध्यप्रदेशमें मैंने दर्जनों ऐतिहासिक खण्डहर ऐसे देखे जो पुरातत्त्व विभाग द्वारा सुरक्षित स्मारकोंमें घोषित है, पर इन्हीं खण्डहरोंके समीप या कुछ दूर पर सर्वथा अखण्डित सुन्दरतम मूर्त्तियाँ या अवशेष पड़े हैं। उनकी ओर कर्मचारियोंने लेशमात्र भी ध्यान नहीं दिया। क्या सुरक्षित सीमामें इन्हें उठाकर नहीं रखा जा सकता था या सुरक्षित सीमा नहीं बढ़ाई जा सकती थी? इस प्रकारकी असावधानीने, सुरक्षाके लिए स्वतन्त्र विभाग होते हुए भी, अत्यन्त सुन्दर कलाकृतियोंको सुरक्षासे वञ्चित रह जाना पड़ा, क्योंकि ग्रामीण जनता ऐसे अवशेषोंका उपयोग अपनी सुविधानुसार कर लेती है। जबलपुर जिलेमें तो सुरक्षित स्मारकोंके खम्भोंका उपयोग एक परिवारने अपने गृह-निर्माणमें कर लिया है। कटनीमें मुझे एक जैन सज्जनसे भेंट हुई थी, जिनका पेशा ही पुरातन वस्तु-विक्रय है। इन सब बातोंके बावजूद भी जब कोई व्यक्ति सांस्कृतिक व लोककल्याणकी भावनासे उत्प्रेरित होकर यदि वैधानिक रीतिसे, संग्रह करता है, तो पुरातत्त्व-विभाग व प्रान्तीय शासन, शोधका यश किसी व्यक्तिको न मिले, इस नीयतसे, अनुचित व अवैधानिक कार्य करनेमें लेशमात्र भी नहीं हिचकता। किसी भी देशके लिए यह विषय अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। **एक युग था जब इस प्रकारके कार्य-कर्त्ताओंको उत्साहित कर, शासन उनसे सेवा लेता था, पर स्वाधीन भारतमें शायद यह पराधीन भारतकी प्रथाको महत्त्व देना उचित न समझा** गया हो। जहाँतक मैं सोचता हूँ पुरातत्त्वकी खोजका कार्य यदि केवल सरकार ही के भरोसे चलता रहा, तो शताब्दियों तक भी शायद पूर्ण हो

सके; क्योंकि उच्च पदाधिकारी तीन सालमें सरक्षित स्मारक अवलोकनार्थ पर्यटन करते हैं; पर प्रत्येक पुरातन खण्डहरोंके निकटवर्ती प्रदेशोंमे नवीन शोधके लिए रहते कितने दिन है ? ब-मुश्किल एक-दो दिन । अतः जबतक पुरातत्त्व और शोधमें रुचि रखनेवाले प्रान्तीय विद्वानोको शासन वैधानिक रूपसे प्रश्रय नही देगा, तबतक तत्स्थानीय अवशेषोका पता नही लग सकता । बडे-बडे स्थानोपर खुदाई करवाके अवशेषोको निकालना एव निकले हुए अवशेषोकी उपेक्षा करनेकी दुधारी नीति समझमे नही आती । आशा है, पुरातत्त्व-विभागके उच्चतम कर्मचारी इस विषयपर ध्यान देकर अपनी ओरसे होनेवाली भूलोमे, सुधार करनेका कष्ट करेंगे और अपने नैतिक व सास्कृतिक उत्तरदायित्वको समझनेकी चेष्टा करेंगे ।

प्रान्तमे जैन-समाजके इतिहास और पुरातत्त्वमे रुचि रखनेवाले बुद्धिजीवियोसे विनम्र निवेदन है कि वे अपने-अपने प्रदेशमे पाई जाने-वाली उपर्युक्त कोटिकी सामग्रीको अवश्य ही, प्रमुख सामयिक पत्रोमे प्रकाशित कर, पुरातत्त्व-पण्डितोका ध्यान आकृष्ट करें, ताकि सर्वागपूर्ण जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्य-कलाका स्वरूप जनताके सम्मुख आ सके ।

सिवनी म० प्र०
१४ जुलाई १९५२

मध्य प्रदेश के
जैन पुरातत्व
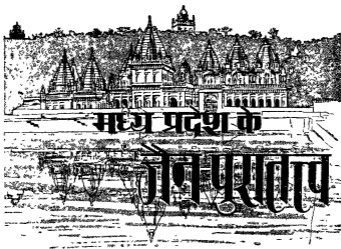
आजके प्रगतिशील युगमें भी प्रान्तीय इतिहास व पुरातत्व-साधनोंके प्रति, जाग्रति नही दीख पड़ती है और सोची जा रही है भारतीय इतिहास लिखनेकी बात। यह इतिहास राजा-महाराजाओं व सामन्तोंका होगा। जबतक हम मानवीय 'नैतिक' इतिहासको ठीकसे न समझेंगे, तबतक भारतीय नैतिकताका इतिहास नही लिखा जा सकता। किसी भी देशकी राजनैतिक उन्नतिकी सूचना, उसके विस्तृत भू-भागसे मिलती है, ठीक उसी प्रकार राष्ट्रके उच्चतम नैतिक स्तरका पुष्ट व प्रामाणिक परिचय, उसके खडहरोमे फैले हुए अवशेष व कलात्मक मूर्त्तियोसे मिलता है। हमारा प्राथमिक कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि भारतके विभिन्न प्रान्तोका, अपने-अपने ढंगसे, राजनैतिक इतिहास तो लिखा गया; पर नैतिक इतिहासके साधन अरण्यमे धूपछाँह सहकर विद्वानोकी प्रतीक्षा ही करते रह गये उन्हे एकत्र करना। कुछेक गिट्टियाँ बनकर सड़कोपर बिछ गये। पुलोमे ओधे-सीधे फिट हो गये। कुछ एक विशालकाय वृक्षोकी जडोमे ऐसे लिपट गये कि उनका सार्वजनिक अस्तित्व ही समाप्त हो गया। कुछ एकका उपयोग गृह-निर्माण-कार्यमे हो गया। कलासाधकोंद्वारा प्रदत्त, जो अमूल्य सम्पत्ति उत्तराधिकारमे मिल गई है या बच गई है, उनकी सुधि लेनेवाला आज कौन है? कहनेके लिए तो **"पुरातत्व विभाग"** बहुत कुछ करता है; पर जो अरण्यमें, खण्डहरोमे पैदल घूमकर अवशेषोसे भेट करता है, वह अनुभव करता है कि उक्त विभागके अधिकारियोका कार्य कागज़के चिथडोंपर या आँकडोसे भले ही अधिक मालूम होता हो, पर वस्तुत. वह लाखोंके व्ययके बाद भी, नगण्य-सा ही हो पाता है। इन पक्तियोको मै अपने अनुभवसे लिख रहा हूँ और विनम्रता पूर्वक कहना चाहता हूँ कि आज भी अनेको ऐसे महत्त्वपूर्ण कलात्मक अवशेष भारतके विभिन्न प्रान्तोमे दैनदिन विनष्ट ही रहे

हैं, जिनकी समुचित रक्षा की जाय, तो हमारे पूर्वजोंके अतीतके उज्ज्वल कीर्ति-स्तम्भ स्वरूप ये प्रतीक राष्ट्रिय अभिमान जाग्रत कर सकते हैं।

इस प्रबन्धमे, मैं केवल मध्यप्रदेशस्थ जैनपुरातत्त्वावशेषोका ही उल्लेख करना उचित समझता हूँ। कारण कि मुझे इस प्रदेशके एक भाग पर बिहार करते हुए, जैनाश्रित कलाकी जो सामग्री उलब्ध हुई, उससे मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा कि वर्तमानमे स्थानीय प्रादेशिक कलाविकासमे सापेक्षत. भले ही जैनोका योग दृष्टिगोचर न होता हो, पर आजसे शताब्दियों पूर्वकी कला-लताको जैनोंने इतना प्रश्रय दिया था कि सम्पूर्ण प्रदेश लता-मडपोसे आच्छादित कर दिया था। प्रचुर अर्थसम्पन्न समाजने उच्चतम कलाकार-साधकोको आर्थिक दृष्टिसे निराकुल बना, कलाकी बहुत उन्नति की। जिसके साक्षी स्वरूप आज सम्पूर्ण हिन्दी-भाषी मध्यप्रदेशके गर्भमेसे, जैनाश्रित शिल्पकलामेके अत्युच्च प्रतीक उपलब्ध होते है।

यह आलोचित प्रान्त कई भागोमे बँटा हुआ था। छठवी शतीके सुप्रसिद्ध विद्वान् **वाराहमिहिर**ने **बृहत्संहिता**मे २८३ राज्योके वर्णन करते समय, आग्नेय दिशाकी ओर जिन राज्योका सूचन किया है उनमे "मध्य-प्रान्त"के तत्कालीन राज्योंके नाम इस प्रकार दिये है—**दक्षिणकोसल (छत्तीसगढ़) मेकल, विदर्भ, चेदि, विध्यान्तवासी, हैहय, दशार्ण, त्रिपुरी और पुरिका।** इन नामोके क्रैमिक विकासको समझनेमे जैन-साहित्य बहुत मदद करता है। विशेषतया तीर्थवदना परक ग्रन्थ। प्रत्येक शताब्दीमे जैनतीर्थोंकी जो 'वदना' निर्मित होती है, उनमे प्राय सभी भू-भागोका भौगोलिक नामोल्लेख रहता है। अस्तु।

साधारणतह मध्यप्रान्तके शिलोत्कीर्ण लिपियोका जहाँ भी उल्लेख होता है, वहाँ **रूपनाथ**-(जबलपुर) स्थित अशोकके लेखका नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। उन दिनो यहाँ जैनसस्कृतिकी क्या दशा थी? यह एक

प्रश्न है। मौर्य-साम्राज्य जब उन्नतिके शिखरपर था, तब जैनधर्म भी पूर्णतया सम्पूर्ण भारतमें फैल चुका था। यद्यपि स्पष्ट प्रमाण नही मिलता कि मध्यप्रान्तमें भी उस समय जैनसंस्कृतिका सूत्रपात हो चुका था, पर मध्यप्रान्तके निकटवर्ती **वितीदिश-वइदिश-विदिशामें** उन दिनो जैन सस्कृतिका व्यापक प्रभाव था। बल्कि बड़े-बड़े प्रभावक जैनाचार्योंकी वह विहारभूमि था। वहाँपर बड़ी-बडी जिनयात्राएँ निकला करती थी, जिनका उल्लेख **आवश्यक व निशीथ चूर्णियों**मे मिलता है।

इस उल्लेखसे मुझे तो ऐसा लगता है कि तब जैनधर्मका अस्तित्व इस भूमिपर था। इसके प्रमाणस्वरूप **रामगढ़ पर्वतकी** गुफाके चित्रको उपस्थित किया जा सकता है। इसका समय और **आर्यसुहस्तिका** समय लगभग एक ही है। यद्यपि उपर्युक्त अशोकके समयकी नही है, पर यह तो समझनेकी बात है कि **कुणालके** समय जब **विदिशा** जैनोका केन्द्र था, तो क्या दस-पाँच वर्षमे ही उन्नत हो गया? उससे पूर्व भी तो श्रमण परम्पराके अनुयायियोका अस्तित्व अवश्य रहा होगा। अशोकके पौत्र सम्राट् **सम्प्रतिने** विदेशोतकमे जैनधर्म फैलाकर, अपने पितामहका अनुकरण किया। वह बौद्ध था, **सम्प्रति** जैन।

मध्यप्रदेशमे जैनसस्कृतिका क्रमिक विकास कैसे हुआ, इसकी सूचना तो हमे पुरातन अवशेषोसे मिल जाती है, परन्तु प्राथमिक स्वरूपको स्पष्ट करनेवाले साधन बहुत स्पष्ट नही है। अनुमानसे काम लेना पड रहा है। प्रमाण न मिलनेका एक कारण, मेरी समझमे यह आता है कि जिन नामोसे मध्यप्रदेशके भाग आज पहचाने जाते है, वे नाम उन दिनो नही थे। प्राचीन जो नाम मिलते है, उन प्रदेशोमे आज इतना प्रान्तीय विभाजन हो गया है कि जबतक हम समीपवर्ती भूभागस्थ अवशेषो व सामाजिक रीति-रिवाज व साहित्यिक परम्पराका गहन अध्ययन न कर ले, तबतक निश्चित तथ्य तक पहुँचना अति कठिन हो जाता है। मेरा तो निश्चित विश्वास है कि जबतक प्रान्तीय विद्वान् **मालव, विन्ध्य, महाराष्ट्र,**

ओरिसा और मद्रास प्रान्तके, मध्यप्रदेशसे सम्बन्धित भूसंस्कृति और ऐतिहासिक साधनोका समुचित अध्ययन नही कर लेते, तबतक प्रान्तीय इतिहासका तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त नही कर सकेंगे। जैसा कि मै ऊपर सूचित कर चुका हूँ कि हमारा कर्तव्य है मानवोन्नायक इतिहासकी गवेषणाका, नैतिकता और परम्पराका। शासन अपनी राजकीय सुविधाके लिए भले ही प्रदेशोका विभाजन कर डाले, पर सांस्कृतिक विभाजन कठिन ही नही, असभव है।

आज हम जिस भू-भागको मध्यप्रदेशके नामसे पहचानते है, वह पूर्वकालमे कई भागोंमे कई नामोसे विभाजित था। यह नाम तो आग्ल शासनकी देन है। आज भी **महाकोसल** और **विदर्भ** दो भाग है। महाकोशलको प्राचीन साहित्यमे **उत्तरकोसल** कहा गया है। **रामायण, महाभारत** और पुराणादि ग्रन्थोमे इस प्रान्तके विभिन्न राज्योके विवरण प्राप्त होते है। जैन-कथात्मक व आगमिक साहित्यमें कोसलदेशका महत्त्व व उसकी प्रगतिपर प्रकाश डालनेवाले उल्लेख उपलब्ध होते है। ये उल्लेख उस समयके है, जब 'कोसल' अविभाजित था। बादमे उत्तरकोसल और दक्षिणकोसल, दो भाग हो गये। उत्तरकी राजधानी अयोध्या और दक्षिणकी राजधानी मध्यप्रदेशमे थी। गुप्तताम्रपत्रोसे इसका समर्थन होता है।

मौर्यकालके बाद शुगकालमे श्रमण परम्पराकी दोनों शाखाओका विकास सीमित हो गया था, इसका प्रभाव मध्यप्रदेशपर भी पड़ा। वाकाटक शैव थे। उनके शासनकालमे शैव-सम्प्रदायके विभिन्न स्वरूपोंको मूर्त-रूप मिला। उनका शासन आधुनिक मध्यप्रान्त तक था, परन्तु विपक्षित विषयपर प्रकाश डालनेवाले साधन, इस युगके नही मिलते। हाँ, गुप्तकालीन अवशेषोपर उनका कला-प्रभाव स्पष्ट है, जो स्वाभाविक है।

गुप्तकाल भारतका स्वर्ण युग माना जाता है। पर मध्यप्रान्तमे इसकी कलाके प्रतीक अल्प मिलते हैं। जबलपुर जिलेके **'तिगवाँ'** ग्राममें एक मन्दिर है, जिसे वास्तुशास्त्रके सिद्धान्तोंके आधारपर हम गुप्तकालीन

कह सकते हैं। इस मंदिरकी दीवालपर भगवान् पार्श्वनाथकी मूर्ति उत्कीर्णित है। ८वीं सदीके लगभग कन्नोजका एक यात्री **'उमदेव'** नामक आया उसने मंदिर बनवाया, जैसा शिलोत्कीर्ण लिपिसे अवगत होता है। मध्यप्रान्तीय इतिहास शोधक श्री **प्रयागदत्त**जी शुक्लका मानना है कि पूर्व यह जैनमंदिर था, पर बादमें सनातनी मदिर बनाया गया[1]। आज भी तिगवाँमें कई जैनमूर्तियाँ पाई जाती हैं। गुप्तकालमे विन्ध्यप्रान्तमें भी जैनधर्मकी स्थिति अच्छी थी। **ओरिसा** व **मालवमें** भी जैनश्रमणोंका अप्रतिबद्ध विहार जारी था। **उदयगिरि** (भेलसा)की एक गुफामें पार्श्वनाथकी एक मूर्ति उत्कीर्णित थी, पर अब फन भर है। यह गुप्तयुगीन व लेखयुक्त है[2]। इस कालमें बुदेलखडमे जैन-आचार्य **हरिगुप्त** हुए, जो हूण नेता **तोरमाण**के गुरु थे।

वाकाटकोका शासन बुंदेलखडसे खानदेशतक था। चौलुक्योंने इनकी जड़ साफ की। वे इतने प्रबल थे कि **पुलकेशी** (चौलुक्य)ने हर्षको पराजित कर, नर्मदाके दक्षिणमें आनेसे रोका था। चौलुक्योंपर जैनसस्कृति-का प्रभाव था। इसका समर्थन तात्कालिक साहित्य व लिपियाँ करती है। आगे चलकर चौलुक्य और कलचुरियोका पारिवारिक सम्बन्ध भी हो गया था।

भद्रावतीका पाडु-सोमवश बौद्ध था, उस समय वहाँ जैन-धर्मका अस्तित्व निश्चित रूपसे था। वहाँ बौद्धमूर्तियोके साथ जैन प्रतिमाएँ भी उसी समयकी अनेक पाई जाती है। उनमेसे कुछेकपर "देव-धर्मोयं" व बौद्धमुद्रालेख उसी लिपिमें पाया जाता है। इस ओर लिंगायत पर्याप्त पाये जाते हैं, जो जैनके अवशेष है। शैवोंके अत्याचारोने इन्हे धर्मपरिवर्तनार्थ बाध्य किया था।

---

[1] "मध्यप्रान्तके भिन्न-भिन्न शासकोंका शिल्पकला विषयक प्रेम" शीर्षक निबंध, [2] डा० फ्लीट कार्पस इन्स्क्रिप्सन इंडिकेरम् भा० ३,

ई० सन् आठवी शतीके बादकी जैनपुरातत्वकी पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती हैं। इतनेमे कलचुरि वंशका उदय होता है। इस समय शिला व मूर्तिकला उत्कर्षपर थी। वे इसके न केवल प्रेमी ही रहे, पर उन्नायक भी थे। इस कालकी जैन-प्रतिमाएँ आज भी दर्शनों पायी जाती हैं, और खंडहर भी। इसपर मे अन्यत्र विचार कर चुका हूँ। अत यहाँ पिष्टपेषण व्यर्थ है।

कलचुरि कालमें महाकोसलका पूरा भू-भाग जैन-संस्कृतिसे परिव्याप्त था। विदर्भमे भी यही उत्कर्ष था। यहाँ तक कि गुजरात जैसे दूर प्रातके जैनाचार्योको मूर्ति व मन्दिर प्रतिष्ठार्थ वहाँ आना पड़ता था। नवागी-वृत्तिकारसे भिन्न, मलधारी **श्रीअभयदेवसूरिने** विदर्भमे आकर अंतरिक्षपार्श्वनाथकी प्रतिष्ठा वि० स० ११४२ माघ शुदि ५ रविवारको की। **अचलपुरके** राजा **ईल**[1] या **एल** जैन-धर्मानुयायी था। उसने पूजार्थ **श्रीपुर-सिरपुर** गाँव भी चढाया था। अचलपुर उन दिनो जैन संस्कृतिका केन्द्र था। धनपालने अपनी **"धम्मपरिक्खा"** यहाँपर वि० स० १०४४ में समाप्त की। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने भी अपने व्याकरणमें 'अचलपुर'का प्रासगिक उल्लेख इस प्रकार किया है, जो इसकी प्रान्त-प्रान्तीय प्रतिष्ठाका सूचक है--

"अचलपुरे चलोः अचलपुरे चकारलकारयोर्व्यत्ययो भवति अचलपुरं॥
२, ११८।

आचार्य जयसिंहसूरि (९१५) ने अपनी **"धर्मोपदेशमाला"** वृत्तिमें अयलपुर-अचलपुरमे अरिकेसरी राजाका उल्लेख इसप्रकार किया है।

"अयलपुरे दिगम्बरभत्तो 'अरिकेसरी' राया। तेणय काराविओ महा-

---

[1] **ईल राजाने अभयदेवसूरि द्वारा मुक्तागिरि तीर्थपर भी पार्श्वनाथ स्वामीकी मूर्तिकी प्रतिष्ठा करवायी थी, शीलविजयजीने इस तीर्थकी यात्रा की थी,**

पासाओं परट्ठावियाणि तित्थयर-बिम्बाणि ॥ (पृ० १७७)। अरिकेसरी राजा कौन थे और कब हुए ? अज्ञात है। विदर्भके इतिहासमें अभीतक तो ईल राजाका ही पता चला है, जो परम जैन था। अरिकेसरीका काल अज्ञात होते हुए भी, इतना कहा जा सकता है कि ९१५ पूर्व ही हुआ है इसी समयमे शिला हार वंशमें भी इसी नामका राजा हुआ है।[1] अचलपुर सातवी शताब्दीका एक ताम्रपत्र भी उपलब्ध हो चुका है। मुझे तो ऐसा लगता है कि अरिकेसरी नाम न होकर, विशेषण मात्र है, और यह राजा पौराणिक नही हो सकता, क्योकि यदि ऐसा होता तो सम्प्रदाय सूचक विशेषण मिलता।

१२ वी शताब्दीके पूर्व समीपवर्ती प्रदेशोमे, मुझे 'विन्ध्य' का ही निजी अनुभव है, कि वह जैन-स्थापत्यसे समृद्ध था। इन दोनोका तुलनात्मक अध्ययन करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि उभयप्रान्तीय कलाकृतियाँ पारस्परिक इतनी प्रभावित है कि उनका पार्थक्य ठिन है।

कलचुरि व गोडवश कालीन जैन-अवशेष मध्यप्रदेशमे बिखरे पडे है, जिनके सरक्षणकी कुछ भी व्यवस्था नही है। कहाँ-कहाँपर है, इसका पता, पुरातत्त्व विभागको भी शायद ही हो, ऐसी स्थितिमें उनके अध्ययन पर कौन ध्यान दे ? पर अब समय आ गया है कि इन समुचित अन्वेषण व सरक्षणका, शासनकी ओरसे प्रबध होना चाहिए, क्योकि यदि कोई सास्कृतिक भावनासे प्रेरित होकर कार्य करता भी है, तो शासन ो इस पवित्रतम कार्यमे भी 'राजनीति' की गध आती है।

प्रस्तुत प्रबधमे मैने, अपनी पैदल-यात्रा-विहारमे जिन जैन-अवशेषोको देखा, यथामति उनका अध्ययन कर सका, उन्हीका उल्लेख करना समुचित समझा, पर यह प्रयत्न भी अपूर्ण ही है, कारण कि अभी भी बहुत-से खँडहर

---

[1] डॉ० बी० ए० सालेत्तोरे०, दि डेट ऑफ दि कथाकोष, जैन-एण्टिक्वेरी वॉ० ४-अं० ३,

हैं, जहाँ जैन-पुरातनावशेष विद्यमान हैं, कइयोंके वैयक्तिक अधिकारमें भी हैं, उनका उल्लेख मैंने इसमे नहीं किया है। कुछेक अवशेषोंका परिचय या सूचनात्मक उल्लेख प्रान्तके प्रतिष्ठित विद्वान् स्व० **डॉ० हीरालाल** व स्व० **गोकुलप्रसाद** और उनकी **परम्पराके** अनुसार, हिन्दी गजेटियर तैयार करनेवाले महानुभावोंने अपने-अपने ग्रन्थों[1]में किये हैं। पर अब उनका पुर्नानिरीक्षण वाञ्छनीय है। क्या मालूम वे अवशेष आज वहाँ है या नही।

रोहणखेड़

यह ग्राम विदर्भान्तर्गत धामणगाँवसे खामगाँवके मार्गपर ८ वे मीलपर अवस्थित है। तत्रस्थ अवशेषावलोकनसे ज्ञात होता है कि किसी समय यह उन्नतिशील नगर रहा होगा। संस्कृत साहित्य व भारतीय ज्योतिषशास्त्रके रचयिता, कुछ विद्वानोंको जन्म देनेका सौभाग्य इसे प्राप्त था। अपभ्रंश साहित्यके महान कवि **पुष्पदन्त** इसी नगरके, होनेकी कल्पना **श्री नाथूरामजी प्रेमीने** की है। महिम्न[2] स्तोत्रके निर्माता और अपभ्रंश भाषाके महाकवि

---

[1] वे ग्रन्थ ये हैं—दमोह-दीपक, जबलपुर-ज्योति, सागर-सरोज, दुर्ग-दर्पण, नरसिंह-नयन, निमाड़-निशाकर, बिलासपुर-वैभव, चांदा-चन्द्रिका, सिवनी-सरोजिनी, मंडला-मयूख, झाड़खंड-झनकार, अष्टराज-अंभोज, होशंगाबाद-हुंकार, इन ग्रन्थोंमें मध्यप्रान्तके इतिहासकी सामग्री भरी पड़ी है। पर अब ये ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। निर्देशित पुरातत्त्व-सामग्रीका पुर्नानिरीक्षण अपेक्षित है,

[2] जैन-साहित्यके प्रणेताओंने भारतीय साहित्यके विकासमें जिस उदारताका परिचय दिया है, वह उल्लेखनीय है। वे जन-विषयक उत्प्रेरक सक्रीय योजनाओंमें सर्वाग्र स्थान रखते थे। जैनेतर उच्चतम सभी विषयोंके मूल्यवान् ग्रन्थोंपर अपनी आलोचनात्मक वृत्तियाँ व व्याख्याएँ निर्माण कर, मानव समुदायके सांस्कृतिक स्तर परिपोषणार्थ और उच्च भावनाओंसे अनु-

पुष्पदन्त एक ही व्यक्ति माने जाते है। एतदर्थ प्रबल व पुष्ट प्रमाण अपेक्षित है।

यहाँके बालाजीके नवीन मन्दिरके सामने रामा पटेलके खेतमें कुछ पुरातन भग्नावशेष है, जिनमें एक पद्मासनस्थ, ३ फीट ऊँची जिन प्रतिमा भी है। सौभाग्यसे यह अखडित है। कलाकी दृष्टिसे अत्यत महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी, वहाँ जैनधर्मके अस्तित्वकी दृष्टिसे काफी महत्त्वपूर्ण है। पार्श्ववर्ती पुरातन स्तूपाकार कतिपय स्तंभोपर भी जैनप्रतिमाएँ खुदी हुई हैं। कुम्भकलश, नन्द्यावर्त आदि चिह्नोंसे विदित होता है कि निस्संदेह तथाकथित सभी अवशेष जैनमंदिरके ही है। तन्निकटवर्ती शैव-मदिरमें अम्बिका, चक्रेश्वरी आदि जैनदेवियोंकी प्रतिमाएँ बहुत ही सुन्दर, किन्तु अत्यत अरक्षित अवस्थामे विद्यमान हैं। इनकी रचना-शैलीसे जान पडता है कि वे बारहवी शदीके अवशेष हैं। नगरके दक्षिण और पश्चिमकी ओर कुछ जैन-मूर्तियोंके अवशेष दृष्टिगोचर होते है। इनका खण्डन साम्प्रदायिक विद्वेषजनित वृत्तिसे प्रेरित हुआ है। मेरे सम्मुख ही एक सन्यासीने, जो वहाँके बालाजीके मन्दिरमे रहते थे और मुझे पुरातनावशेष बतानेके लिए मेरे साथ चले थे, लट्ठसे दक्षिणकी खडगासन जैनप्रतिमाके मस्तकको धडसे अलग कर, प्रसन्न हुए। यहाँपर मुझे अनुभव हुआ कि मूर्ति-भजन या रातन आर्य-कला-कृतियोके खडित होनेकी कल्पना जब हम करते है; तब अक्सर सभी लोग मुसलमानोको बदनाम करते है, परन्तु यह तो भुला ही दिया जाता है कि हमारी कलात्मक सम्पत्तिका नाश जितना म्लेच्छोद्वारा नही हुआ, उससे भी कही अधिक हमारी ही धार्मिक असहिष्णुवृत्तिद्वारा हुआ है।

प्रमाणित कर जैनधर्मकी महती उदारताका परिचय दिया है। अन्य स्तुति, स्तोत्रोंकी भांति महिम्न स्तोत्रकी पाद पूर्ति जैनाचार्योंने विभिन्न प्रकार करके भारतीय पादपूर्ति विषयक साहित्य में अभिवृद्धि की है। साथ हो ऋषभदेव

कारंजा

अकोला जिलेमें है। श्वेताम्बर जैन तीर्थमालाओंमें इसका उल्लेख बडे गौरवके साथ किया गया है। यहाँसे कुछ दूर एक देवी-मंदिरके पास गाडीवानोका पडाव है, वहाँ जो स्तभांश बिखरे पडे है, उनपर खड्गासन व पद्मासनमें बहुत सी दिगम्बर-जैन-मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। कुछ स्तंभोको तो लोगोने मन्दिरकी पैडीमे लगा दिया है।

महिम्न' और महावीर महिम्न स्तोत्रोंकी स्वतन्त्र रचना कर उनपर वृत्तियाँ भी निर्मित कर, मानव हृदयको भक्तिसिक्त बनानेका प्रयास किया है। इन टीकाओंमें अञ्चलगच्छीय श्री ऋषिवर्द्धनसूरि निर्मित टीका अत्यंत मूल्यवान है, इसकी सुन्दर प्रति जर्मनस्थित बर्लिन विश्वविद्यालयमें सुरक्षित थी,

'एलजपुरि कारंजा नयर धनवन्त लोक वसि तिहां सभर,
जिनमंदिर ज्योति जागतां देव दिगंबर करो राजता ॥२१॥
तिहां गच्छनायक दीगम्बरा छत्र सुखासन चामरधरा,
श्रावक ते शुद्धधरमीं वसिं बहुधन अगणित तेहनि अछिं ॥२२॥
वघेरवालवंशि सिणगार नामि संघवी भोज उदार,
समकितधारी जिननि नमि अवर धरम स्यूं मन नवि रमि ॥२३॥
तेहनें कुले उत्तम आचार रात्रि भोजन नो परिहार,
नित्यइं पूजा महोच्छव करि मोती चोक जिन आगलि भरि ॥२४॥
पंचामृत अभिषेक घणीं नयणे दीठी ते म्हि भणी'
गुरु साहमी पुस्तक भंडार तेहनी पूजा करि उदार ॥२५॥
संघ प्रतिष्ठा नि प्रासाद बहु तीरथ ते करे आल्हाद'
करणाटक कुंकण गुजराति पूरब मालव नि मेवाति ॥२६॥
द्रव्यतणा मोटा व्यापार सदावर्त पूजा विवहार,
तप जप करिया महोच्छव घणा करि जिनशासन सोहामणा ॥२७॥
संबल सालि सतरि सही गढ़ गिरिनारि जात्रा कही,
लाष एक तिहांवावरी ने धन मनाथनी पूजा करी ॥२८॥

नांदगांव

यह अमरावतीसे नागपुर जानेवाले मार्ग पर १० वें मील पर, मार्गमें कुछ दूर अवस्थित है। यहाँ दिगम्बर-जैन-मन्दिर स्थित धातु प्रतिमाओंके लेख लेते समय एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण लेख दृष्टिगोचर हुआ जो कारंजाके इतिहासपर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है, जो इस प्रकार है।

स्वस्ति श्री संवत् १५४१ वर्षे शाके १४९१ (१४०६) प्रवर्त्तमाने कोधीता संवत्सरे उत्तरगणे .... मासे शुक्ल पक्षे ६ दिने शुक्रवासरे स्वाति-नक्षत्रे.....योगे र कणे मि० लग्ने श्रीबराट् (? ड्) देशे कारंजानगरे श्री श्रीसुपार्श्वनाथ चैत्यालये श्रीम (? मू) लसंघे सेनगणे पुष्करगच्छे श्रीमत्—वृषसेन—गणधराचार्य पारंपर्यागत श्रीदेववीर भट्टाचार्याः॥ तेषां पट्टे श्रीमद्भाय राजगुरु वसुन्धराचार्य महावादवादीश्वर रायवादिपिता महासकलविद्वज्जन सार्ध (र्व) भौम साभिमान वादीभसिंहाभिनय-त्रैः.......विश्वसोमसेनभट्टार्काणामुपदेशात् श्रीबघेरवाल जाति खडवाड गोत्रे अष्टोत्तरशतमहोत्तंगशिखरबद्धप्रासादसमुद्धरणधीर त्रिलोक श्री जिन महाबिम्बोद्धारक-अष्टोत्तरशत श्रीजिनमहाप्रतिष्ठाकारक अष्टा-दशस्थाने अष्टादशकोटिश्रुतभंडारसंस्थापक, सवालक्षबन्दीमोक्षकारक, मेदपादेशे चित्रकूटनगरे श्रीचन्द्रप्रभजिनेन्द्रचैत्यालयस्थाने निजभुजो पार्जितवित्तवलेन श्रीकीर्तिस्तंभ आरोपक साह जिजा सुत सा० पुन सिंहस्य ....साहदेउ तस्यभार्या पुई तुकार तयोः पुत्राश्चत्वारः तेषु प्रथम पुत्र

हेममुद्रा संघवच्छल कीओ लाछितणो लाहो तिहां लीधो,
परबि पाई सीआलि दूध ईषुरस ऊंनालि सुद्ध ॥२९॥
एलाफूलि वास्यां नीर पंथीजननि पाई धीर,
पंचामृत पकवाने भरी पोषि पात्रज भगति करी ॥३०॥
भोज संघवी सुत सोहांमणा दाता विनइ ज्ञानी घणा,
अर्जुन संघवी पदारथनाथ 'शीतल संघवी करि शुभ काम॥३१॥
प्राचीन तीर्थमाला-संग्रह भाग १ पृ० ११४-११५,

साहु लखमण......चैत्यालयोद्धरणधीरेण निजभुजोपार्जितवित्तानुसारे महायात्रा प्रतिष्ठा तीर्थ क्षेत्र....... ।

प्राचीन दिगंबर जैन-साहित्यमें कारंजाका स्थान अत्यंत उच्च है। सत्रहवी सदीमें आर्थिक दृष्टिसे बरारमें कारंजाका स्थान प्रधान माना जाता था। उपर्युक्त प्रतिमा-लेखसे स्पष्ट है कि उस समय बड़े-बडे विद्वान् वहाँपर निवास करते थे। भट्टारक विश्वसोमसेन उस समयके जैन-समाजमें काफ़ी प्रसिद्ध व्यक्ति मालूम पडते है, क्योकि उनकी प्रतिष्ठाके दो लेख नागराकी दिगम्बर जैन-मूर्तियोपर उत्कीर्णित है। सभव है, उस समय उनका आगमन वहाँपर हुआ हो, क्योंकि उन्होंने १०८ प्रतिष्ठाएँ भिन्न-भिन्न स्थानोंपर करवाई थी। आपके ऐतिहासिक जीवन पटपर प्रकाश डालनेवाली 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' और करकण्डु-चरित्र'की हस्तलिखित प्रतियोकी पुष्पिकाएँ हमारे सग्रहमे है। प्रशस्तिसे मालूम होता है कि आप प्रतिभासपन्न ग्रन्थकार भी थे। आपने स्वामी कुदकन्दाचार्य-विरचित समय सार'पर वृत्ति एव 'अमरकोष'की हिन्दीमे टीकाएँ की थी।

आरवीके सैतवालोंके जैन-मन्दिरमे एक अत्यत कलापूर्ण और मध्य कालीन धातु-प्रतिमा अवस्थित है। समस्त प्रान्तमें उपलब्ध जैन-धातु-प्रतिमाओमे इसका बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी कला अपने ढगकी और सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए भी चित्ताकर्षक ही नही, विचारोत्तेजक भी है। मूल प्रतिमा अर्द्ध-पद्मासन लगाये, कमलासन-स्थित है। पश्चात् भागमे स्पष्टरूपेण तकिया बनाया गया है। जैन-मूर्तिमे तकिएका होना एक आश्चर्य है, क्योकि इसप्रकारके उपकरणके उल्लेख एव उदाहरण हमारे देखनेमे नही आये। बौद्धोंमें इसकी प्रथा थी। मूर्तिका मुखमडल सुन्दर एवं सजीवताका परिचायक है। स्कन्ध-प्रदेश एवं शरीर-विन्यास तो उत्तम कलाकारकी कलाके शुद्धतम भावोंका ही ज्वलन्त प्रतीक है। कलाकारका हृदय और मस्तिष्क दोनो ही इस अनुपम कृतिके निर्माणमें पूर्णत. संलग्न थे।

तकिएके उभय पक्षमें खड़े ग्रास बहुत ही सुन्दर व्यक्त किए गए हैं, जो अवान्तर प्रतिमाओंके स्कन्धपर पंजा जमाए हुए हैं। ऊपर मगरमच्छकी मुखाकृतियाँ इतने सुन्दर ढंगसे अंकित हैं कि एक-एक दाँत और जिह्वाकी रेखाएँ एवं चक्षु स्थानपर पड़ी हुई सिकुड़न स्पष्ट है। मूल प्रतिमाके ऊपरी भागमे छत्र-त्रय उल्लिखित है। इनके चारों ओर पीपलकी पत्तियाँ स्पष्ट अकित है। छत्र कमलपुष्पकी याद दिलाये बिना नही रहते। प्रतिमामें चौबीस तीर्थंकरोंकी लघु प्रतिमाएँ पायी जाती हैं, जो सभी अर्द्ध-पद्मासनस्थ है। मूल प्रतिमा के स्कन्ध-प्रदेशके ऊपरी भागमे चामरयुक्त उभय परिचारक विशेष प्रकारकी भावभगिमा व्यक्त करते हुए खड़े है। मुखमडल भिन्न-भिन्न भावोका व्यक्तिकरण करता है। मस्तकपर मुकुट इतना सुन्दर और छविका द्योतक है, मानो अजन्ताके ही देव यहाँ अवतीर्ण हो गये हों। अँगुलियोका विन्यास अतीव आकर्षक है। गन्धर्वके चरण-भाग यद्यपि अग्र भागसे दबे हुए है, पर प्रतिमाके पश्चात् भागसे विदित होता है कि कदली वृक्षतुल्य चरण-रचना इतनी सूक्ष्मतासे की गई है कि रोमराजिके छिद्र तकका आभास मिले बिना नही रहता। मूल प्रतिमाके उभय चरण-भागमे क्रमशः दाहिने देव और बाएँ देव और देवीकी प्रतिमाएँ बनी हुई है, जो दोनो चतुर्भुज एव अर्द्धपद्मासनस्थ है। देवके चारों हाथोमे आयुध आदिका बाहुल्य है। विविध प्रकारके आभूषणोसे विभूषित होते हुए भी मुखमण्डलपर वृद्धत्वसूचक एव घृणाके भाव न-जाने क्यो व्यक्त किये गये है। मस्तिष्क पटलपर भृकुटी चढ़ी हुई है। देवके चरण शरीरकी अपेक्षा काफी छोटे और स्थूल हैं। देवीकी चतुर्भुजी प्रतिमा अर्द्ध-पद्मासनस्थ है। दाहिने हाथमे बीजपूरक बिजौरा एव उरमे संखाकृतिवत् आयुधका आभास मिलता है। बाएँ हाथसे गदाका चिह्न और दूसरा हाथ आशीर्वादात्मक मुद्रा व्यक्त कर रहा है। देवीके विभिन्न अगोपर आवश्यक आभूषण और भी शोभामे अभिवृद्धि कर रहे है। इस प्रकारकी चतुर्भुजी देवीकी प्रतिमा देखकर मूर्ति-विज्ञानके कुछ हमारे परिचित विद्वानोने धारणा बना ली थी

कि इस प्रतिमाको तारादेवीकी प्रतिमा ही क्यों न माना जाय, परन्तु गवेषणा करनेपर विदित हुआ कि बौद्ध-तान्त्रिक-साहित्यमे तारादेवीका जैसा वर्णन उल्लिखित है, उस वर्णनका आशिक रूप भी प्रस्तुत प्रतिमामे चरितार्थ नही होता। प्रज्ञापारमिताकी एक प्रतिमा हमारे अवलोकनमें अवश्य आई है, पर उसका इससे कोई सबध नही। दूसरे जैन-परिकरमे इस देवीको कही भी कोई स्थान नही मिला है। प्रतिमाके निम्न भागमे चारो ओर ग्रास बने है। **सारी प्रतिमा चार** खम्भोंपर स्थित है। सम्पूर्ण प्रतिमाका, ढाचा एक मन्दिरके शिखरको दृष्टिमे ला देता है। उपर्युक्त विभागमे भिन्न-भिन्न प्रकारकी आकृतियाँ उत्कीर्णित है, जो तत्कालीन भारतीय सस्कृतिके विशुद्धत्तम स्वरूपको बड़े ही सुन्दर ढगसे व्यक्त करती है। यद्यपि प्रतिमाका निर्माण-काल स्पष्टरूपसे व्यक्त करनेवाला कोई लेख विद्यमान नही है; पर इस मूर्तिकी कलासे हम निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि ये सभवत: १०वीसे १२वी शतीकी निर्मित है। मूर्त्ति उत्तर-भारतीय मूर्त्तिकलासे प्रभावित होते हुए भी मध्यप्रान्तीय विशेषताओसे युक्त है।

भद्रावतीका मध्यप्रान्तके इतिहासमे बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। पुराणादि प्राचीन साहित्यमे इसकी बडी महिमा गाई गई है। यहाँके बहुसंख्यक भग्नावशेषोको देखनेसे मालूम होता है कि जैनों और बौद्धोका यहाँपर एक समय पूर्ण प्रभाव था। यहाके क्षत्रिय[1] राजा बौद्ध धर्मको मानते थे, जैसा कि तत्रस्थ **बीजासन-गुफाके** लेखसे विदित होता है। यहाँपर जैन-धर्मके प्राचीन अवशेष भी प्रचुर परिमाणमे उपलब्ध होते हैं। इस समय मन्दिरमे मूलनायक पार्श्वनाथ प्रभुकी जो प्रतिमा है, वह भी यहीसे प्राप्त हुई है। सुना जाता है कि एक अंग्रेजको स्वप्नमें यह मूर्ति दिखी और बादमे प्रकट हुई। उस अंगरेजको उपर्युक्त

---

[1] **विशेषके लिए देखें "बौद्ध पुरातत्त्व" शीर्षक मेरा निबंध,**

मूर्तिपर अत्यंत श्रद्धा थी[1]। यहाँके अम्बिकादेवीके मन्दिरमें अनेक जैन प्रतिमाएँ और पुरातन जैन-मन्दिरोंके त्रुटित स्तम्भ अस्तव्यस्त पड़े हैं। कहा जाता है कि ये मूर्तियाँ वहाँसे चार फर्लांग दूर एक टीलेसे लाकर यहाँ रखी गई हैं। सूक्ष्म रीतिसे देखा जाय तो स्पष्ट मालूम होगा कि पहले यह जैन-मन्दिर था। मन्दिरके तोरणमें १४ महास्वप्न और कुम्भ कलशादि बने हुए हैं। भद्रावतीसे १॥ मील दूर जो बिजासन गुफा है, उसके बरामदेमें भी चार प्राचीन जैन-मूर्तियाँ और एक सरस्वतीकी मूर्ति अवस्थित है। भद्रनागके मन्दिरके स्तम्भोंपर भी जैन-मूर्तियाँ बनी हुई हैं। इस प्रकार भद्रावतीमें ५० से ऊपर १० वीसे लेकर १३ वी शतीकी मूर्तियाँ उपलब्ध है, जिनका मूर्ति विज्ञानशास्त्रकी दृष्टिसे विशेष महत्व है।

पौनार

यह ग्राम वर्धासे नागपुर जानेवाली सडकपर, आठवे मीलपर है। यह वही ग्राम है, जहाँ सर्वप्रथम आचार्य **विनोबा** भावेने **महात्मा गांधी** द्वारा प्रचारित व्यक्तिगत सत्याग्रह किया था। एक समय यह ग्राम वाकाटक-साम्राज्यकी राजधानी था। कहा जाता है कि महाराज प्रवरसेनका बसाया हुआ प्रवरपुर, यही पवनार है। ऐतिहासिक दृष्टिसे इस कथामें आंशिक सत्य अवश्य है, क्योंकि महाराज प्रवरसेनका जो दानपत्र यहाँ प्राप्त हुआ है, उसके अनुसार यहाँके पुरातन भग्नावशेषोंमे वाकाटक-साम्राज्यका कुछ असर अवश्य रहा है। वहाँपर चार विशालकाय जैन-प्रतिमाएँ एव खण्डहरोंमे जैन-धर्मोपयोगी पट्टक हमने स्वय देखे है। साथ ही नदीके तीर-पर कुछ ऐसे स्तम्भ भी पाये गये हैं, जिनपर कलश व स्वस्तिक उत्कीर्णित

[1] O, Middletom-Stewart, "The Dream God" The Times of India illustrated weekly, July 6, 1924, p. 10-12,

है। यहाँपर १४ वीं शताब्दीका एक लेख भी मिला है, जो दिगम्बर जैन-इतिहासकी दृष्टिसे मूल्यवान् है। भट्टारक पद्मनाभका उल्लेख इसी लेखमें है। ई० स० १९४५में जब हमारा चातुर्मास रायपुरमें था, तब उस मूल लेखको प्राप्त करनेका प्रयास हमने किया था। पर मालूम हुआ कि अनेक पाषाणोके साथ वह भी किसी मकानकी दीवारमे लगा दिया गया है। इसकी एक प्रतिलिपि अवश्य हमारे पास सुरक्षित है। अब भी कभी-कभी यहाँपर प्राचीन सिक्के मिल जाते है।

केलभर—पौनारसे १० मील दूर नागपुरकी ओर है। प्राचीन गणपति मन्दिर होनेसे यह एक छोटा-सा तीर्थस्थान-सा हो गया है। कहा जाता है कि यह वही मन्दिर है जिसकी पूजा नागपुरके भोंसले जब यहाँ रहते थे, किया करते थे। यह मन्दिर किलेमे ही है। किलेमे वापिकाके पास दिगम्बर-श्वेताम्बर-प्रतिमाएँ उत्कीर्णित है। कलाकी दृष्टिसे अत्यन्त साधारण हैं। तत्रस्थित कतिपय स्तम्भोमेसे एक स्तम्भपर भगवान्का समवशरण बहुत ही सुन्दर कलात्मक ढगसे खुदा हुआ है। हमने पुरातत्त्व-अवशेषोमें स्तम्भोपर कही भी इतना सुन्दर समवशरण खुदा नही देखा। स्तम्भोके खण्डित होते हुए भी मूल वस्तु यथावत् सुरक्षित है। अफसोस इसी बातका है कि इन स्तम्भोपर गोबरके कण्डे सुखाये जाते है।

सिन्दी—केलभरसे ७ मील दूर है। यहाँ दिगम्बर जैन-मन्दिरमें ३६ इच ऊँची पद्मावतीदेवीकी एक सुन्दर मनोहर प्राचीन प्रतिमा सुरक्षित है। मूर्ति सर्वथा अखण्डित है। मस्तकपर भगवान् पार्श्वनाथकी प्रतिमा विराजमान है। इस मूर्तिकी कला असामान्य है। शरीरका कोई भी अवयव ऐसा नही, जहाँपर सूक्ष्म कोरणी न की गई हो। प्राचीन आभूषणोकी दृष्टिसे इस मूर्तिका विशेष महत्व है। पूरे प्रान्तके भ्रमणमें ऐसी मनोहर देवीकी मूर्त्ति हमारे अवलोकनमे नही आई।

नागपुरके अद्‌भुतालयमें प्राचीन जैन-तीर्थंकर और देव-देवियोकी सुन्दर मूर्तियाँ सुरक्षित है। अधिकतर प्रतिमाएँ कलचुरि-कलासे प्रभावित

मालूम होती है। सिवनीके दिगम्बर-जैन मन्दिरमें १३ वीं शतीकी लगभग ७ मूर्त्तियाँ है। ये घुनसौरसे लाई गई है दलसागरके घाटोंमें भी सुन्दर जैनमूर्तियाँ जड़ दी गई है। यहाँके प्रसिद्ध मुत्सद्दी श्रावक लक्ष्मीचन्द्रजी भूराके पौत्रके सग्रहमे एक खडित स्फटिक रत्नकी जैन-प्रतिमा हैं। सिवनीसे जबलपूर-रोडपर २० वे मीलपर छपराके दिगम्बर जैन-मन्दिरमें ११वी शतीकी एक जैन मूर्ति विराजमान है। इस मूर्तिको देखकर हठात् कहना पड़ता है, मानो कला ही मूर्ति-रूपमे अवतरित हुई है। मूर्त्तिका परिकर अतीव आकर्षक है। दोनो ओर खड्गासनस्थ कर्ण-निकटवर्ती देवियाँ और निम्न भागमे कुछ परिचारिकाएँ उत्कीर्णित है। मूर्तिका सिंहासन खडित है। श्याम पाषाणपर इस प्रकारकी मूर्त्तियाँ प्रान्तमे बहुत कम पाई जाती है। कहा जाता है कि यह मूर्त्ति किसी समय घुसनौरसे लाई गई थी।

जबलपुरका मध्य-प्रदेशके इतिहासमे विशिष्ट स्थान है। शिलान्तर्गत लेखोमे इसका 'जावालिपत्तन' नाम प्रसिद्ध है। प्राचीन राजधानी गढ़ा या कर्णवेल थी। यहाँ ९०० वर्ष पूर्वके खण्डहर वर्त्तमान है। कर्णदेव कलचुरिने इसे बसाया था। ११ वी शताब्दीमे मध्यप्रान्तान्तर्गत महाकोसलके अधिपति कलचुरि एव गुजरातके चालुक्य थे। उभय राजवशोके आराध्यदेव शिव थे। दोनोने शिवके विशाल मन्दिर निर्माणकर योग्य महन्त रखे थे। जैन-धर्मका आदर यो तो दोनो ही करते थे, पर चालुक्य राजवश विशेष रूपसे करता था। शिल्प-स्थापत्य-कलाका प्रेम दोनो ही राजवशोंको था। शिल्पकलाकी दृष्टिसे बगालके पालवशीय नरेशोंकी तुलना हम उपर्युक्त उभय वशोके साथ आसानीसे कर सकते है। सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कोरणी, आभूषणोमें वैविध्य, पाषाणकी सफाई, चेहरोपर सजीवता आदि इन राजवशो द्वारा प्रचारित कलाओके प्रधान गुण है। महाकोसलके कर्णदेवने जिसप्रकार अपने पुत्रको राजगद्दीपर आसीनकर स्वनिवासार्थ **कर्णवेल** नामक नूतन नगरी बसायी, ठीक उसी प्रकार गुजरातके चालुक्य कर्णदेवने स्वपुत्र सिद्धराजको राज्यपदपर अधिष्ठितकर अपने लिए कर्णावती नगरी

बसाई । जबलपुरमे जैनोके उभय संप्रदायोंके पर्याप्त मन्दिर है, जिनमें अनेक कलापूर्ण जैन-प्रतिमाएँ सुरक्षित हैं। प्रान्तीय खडहरोमे उपलब्ध सभी प्रतिमाओमे **हनुमानताल दिगम्बरजैन-मन्दिरमें** सुरक्षित प्रतिमाका स्थान बहुत ऊँचा है। कलाकी सजीवता तो प्रतिमाके अग-प्रत्यगपर तादृशरूपेण अकित है। यह प्रतिमा एक बन्द **कमरेमें रखी** हुई पद्मासनपर विराजमान है। इसकी लबाई-चौड़ाई ७ × ४॥ फीट है। स्वाभाविक उत्फुल्ल वदनपर अपूर्व शान्ति, प्रभा, कोमलता और महान् गभीरताके दर्शन होते हैं। मस्तक-पर केश-विन्यास तो नही है, पर तत्तुल्याकृति (घूंघरवाले बाल-जैसी) आकर्षक है। लम्बे कर्ण और कलायुक्त सौन्दर्य वृद्धि करनेवाले है। उभय स्कन्ध केशावलिसे सुशोभित है।

परिकर

सापेक्षत. इसका परिकर स्वतन्त्र जैन-कलाकृतिका स्वरूप होते हुए भी, बाह्य अलकरण बौद्ध परिकरमें व्यवहृत कलासे संबध रखते है। अष्ट-प्रतिहार्यमे भामण्डल प्रभावलिकी गणना की गई है। सामान्यत समस्त जैन-प्रतिमाओमे इसका रहना अनिवार्य माना गया है, परन्तु इस प्रतिमाकी प्रभावलिमे जितनी बारीकसे बारीक रेखाए अकित है एवं जितनी पारदर्शिता परिलक्षित होती है एव निकटवर्ती वेलबूटोका सुकुमार अकन पाया जाता है, नि सदेह अद्यावधि अन्यत्र दृष्टिगोचर नही हुआ। प्रभावलिकी रेखाएँ इतनी सूक्ष्म है कि एक रेखापर सरलतापूर्वक छेनी नही चलाई जा सकती। २½″ × २½″से कम प्रभावलिका भाग न होगा, जितनी महत्वपूर्ण प्रभावलि-की कोरणी है, उतनी ही सुन्दर, आकर्षक खुदाई छत्रकी है। जैनमूर्तिमें पाये जानेवाले प्राय ऊपरी तीन भागोमे विभाजित रहते है एव दण्डका सर्वथा अभाव रहता है, पर प्रस्तुत प्रतिमा इसका अपवाद है, कारण कि जिसप्रकार प्राचीन यक्ष प्रतिमाओमे छत्रको थामनेके लिए दण्डकी अपेक्षा रहती है, ठीक उसी प्रकार यह छत्र भी है। प्रभावलीके ठीक मध्य भागमे छत्र-दण्ड है जो

ऊपर जाकर क्रमशः तीन ओर गोलाईको लिये हुए है। छत्रमें यक्ष छत्रोंके समान इसप्रकार सूक्ष्म खनन किया गया है कि बादमें हो ही नही सकता। छत्रके मध्य भागमें कमल कर्णिकाएँ है। तदुपरि विशाल छत्र Squire पौने तीन फीटसे कम न होगा। सामान्यत जैन-मूर्तियोमें पाये जानेवाले छत्रोकी अपेक्षा कुछ वैभिन्य है जैसे यक्ष-मूर्तियोमे विवर्तित छत्रोमे अग्र-भागके मुक्ताकी लडे अर्धगोलाकार रहती है वैसा ही अकन यहाँ है। तदुपरि सिकुडनको लिये हुए वस्त्रकी झालरके समान रेखाएँ है, तदुपरि प्रभावलिमें विवर्तित बेलबूटोसे भिन्न आकृतियाँ खचित है। तदुपरि उल्टी अर्थात् घटाकृति सूचक कमल कर्णिकाये है। सर्वोच्च भागमे दो हाथी सूड मिलाये हुए उभय ओर इस प्रकार उत्कीर्णित है, मानो वे छत्रको थामे हुए है। कानके उठे हुए भाग गलेकी तनी हुई रेखाएँ एव आँखोके ऊपरके चमडेका खिचाव इस बातके द्योतक है कि वे अपने कर्तव्य पालनमे उत्सुकतापूर्वक नियुक्त है। आवश्यक आभूषणोसे वे भी बच नही पाये। ऊपर कुछ आकृतियाँ अंकित है। हाथीके ऊपर छोटी-सी झूल पडी है। हौदा कसा हुआ है, एवम् पीठसे कटि प्रदेशतक किंकिणीसे सुशोभित है। हाथियोके इसप्रकारके गठनसे अनुमान किया जा सकता है कि इस वैज्ञानिक युगमे भी हाथीपर बैठनेकी शैलीमे कोई खास परिवर्त्तन नही हुआ। धर्ममूलक-कलाकृतियोमे भी जन-जीवनकी उपेक्षा उन दिनोके कलाकारो द्वारा न होती थी, परिकरमे हाथी कमलपर आधृत है। तन्निम्न भागमे अर्थात् छत्रके ठीक नीचे उभय ओर दो यक्ष एव चार नारियाँ गगन विचरण करती बनाई गई है। गन्धर्वके हाथमे पडी हुई मालाये गुथी हुईके समान—चढानेको उत्सुक हों। सापेक्षतः पुरुषोकी मुखमुद्रापर सुकुमार और स्वस्थ्य सौन्दर्यकी रेखाएँ प्रतिस्फुटित हुई है। मस्तकपर किरीट मुकुट पहिना है। इस प्रकारके किरीट मुकुटोका व्यवहार **गढ़वाके** अवशेषोमे भलीभाति पाया जाता है। **कटनीसे** प्राप्त दशा-वतारी विष्णु-प्रतिमाके मस्तकपर भी इसी प्रकारकी मुकुटाकृति है। तात्पर्य कि किरीट मुकुट का व्यवहार श्रेष्ट कलाकार प्राय ११वी शतीतक तो

सफलतापूर्वक करते रहे है। इस प्रतिमामे निम्न भागमें दो यक्षोंके मस्तकपर भी किरीट मुकुट हैं। ये अभीतक पाये जानेवाले मुकुटोमें, निर्माणकी दृष्टिसे एव सूक्ष्म रेखाओंके लिहाजसे अनुपम है। यक्ष एवं परिचारकोंके मुकुट एव मुख-मुद्राकी भाव-भंगिमा जिस रूपमें व्यक्त की गई है, उसे देखकर तो यही मानना पड़ता है कि इसके कलाकारोने अजन्ताकी रेखाओंसे प्रेरणा लेकर इस सफल कृतिका निर्माण किया। तत्कालीन पाये जानेवाले बौद्ध शिल्पावशेषोंसे ये कल्पना सहज ही समझमें आती है कि उन दिनों बौद्धोंका शिल्प-कलामे प्रभुत्व था, ऐसी स्थितिमे अजन्ता या गुप्तकालीन मूर्त्ति और चित्रकलाकी रेखाओंका विस्मरण कैसे हो सकता था। परिचारकोंमे भी बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है। दाँये-बाँये हाथोमे कमल दण्ड लिपटे हुए है। जैन मूर्तियोमें यह रूप कम मिलता है, बौद्धोमे अधिक। सिरपुरकी धातु मूर्तियाँ इसके उदाहरण स्वरूप रखी जा सकती है। नि संदेह परिचारकोके अकनमे जो स्वाभाविकता एव सजगता है, वह अन्यत्र कम ही मिलती है। दाये परिचारकके बायें हाथका अधखिला कमल, पकड़नेवाली मूर्त्तियाँ कितनी स्वाभाविक है, शब्दोंका काम नही, नेत्रो द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। परिचारकके नीचे उभयओर नारी खड़ी हुई है। हाथमें माला तो है ही, परन्तु कोहनीतक फूल रखनेकी टोकनी पहुँच गई है। नारीपर अधिक आभूषण लादकर सम्भ्रान्त परिवारकी अपेक्षा वह जनताकी प्रतिनिधिनी लगती हैं।

महाकोसलकी मूर्तियोंके पृष्ठभागमें प्राय. साँचीके तोरणका अनुसरण करनेवाले Horizontal pillars मिलते है, परन्तु प्रस्तुत प्रतिमाका निर्माता केवल कोरा कलाकार न होकर जैन-प्रतिमा-विधानकी सूक्ष्म बातोका ज्ञाता भी जान पडता है। उसने दोनो ओर दो स्तम्भ तो जरूर खुदवाये, पर दोनोकी मिलानेवाली मध्यवर्त्ती पट्टिका न बनने दी। कारण कि वह स्थान प्रभावलिसे व्याप्त है। मूल प्रतिमाके निम्न भागमें आकृतियाँ खिची हुई हैं। यद्यपि इसका निर्माणकाल वर्णमालाके अक्षरोंमे

नही है। परन्तु कलाकारकी आत्मा या उसके द्वारा खिंची हुई रेखायें मौनवाणीमे अपना निर्माणकाल स्वयं कह रही है। १० वी शतीकी पूर्वकी और ११ वी की बादकी यह कृति नही हो सकती, कारण स्पष्ट है। वस्त्रोंकी शलें एव नारियोंके मुख तत्कालीन एव तत्परवर्त्ती विकसित शिल्पकलासे मेल रखते हैं। होठोंकी मुटाई, कर्णफूल एव नासिका ये विशुद्ध महाकोसलीय उपकरण है। पुरुषोकी नाक Pointed है, वही कृत्रिमता है। अवशिष्ट स्वाभाविक एवं जनजीवनसे सबधित है।

उपर्युक्त विशाल मंदिरमे तेवरसे लाई हुई कुछ और जैन-मूर्तियाँ एवं जैनमन्दिरके स्तम्भ-खण्ड विराजमान है। एक प्रतिमा, यद्यपि अपरिकर है, तथापि उसकी मुखाकृति एव शारीरिक अगोपागोका गठन प्रेक्षणीय है। परिकर विहीन मूर्तियोमे यही मूर्ति मुझे सर्वश्रेष्ठ जची।

इस मदिरमे मराठा क़लमके कुछ भित्ति चित्र पाये जाते है। जैनधर्म एव तदाश्रित कथाओके प्रसगके अतिरिक्त १४ राजलोक २१/२ द्वीप आदिके नक्शे भी हैं। पूरे मदिरमे एक छतकी रेखाएँ एव इन चित्रोके अतिरिक्त प्राचीनताका आभास दे सकनेके योग्य सामग्री नही है।

जबलपुरसे चार मीलपर छोटी-सी पहाड़ी के ऊपर एक स्थान बना हुआ है, जिसे लोग पिसनहारीकी मढ़िया कहते है। इसका वास्तविक इतिहास अप्राप्य है, किंतु किवदन्तीके आधारपर कहा जा सकता है कि दुर्गावतीकी पिसनहारी श्राविका थी। उसीने इसका निर्माण करवाया। गुम्बजके ऊपर अभी भी चक्कीके दो पाट लगे हुए है। उपर्युक्त कल्पना पुष्ट हो जाती है।

त्रिपुरी

त्रिपुरीका जितना ऐतिहासिक महत्व है, उससे भी कही अधिक महत्व महाकोसलीय पुरातत्त्वकी दृष्टिसे है। कलचुरि वास्तुकलापर प्रकाश डाल सकें, ऐसी सामग्री तो त्रिपुरीमें उपलब्ध नही होती, पर हाँ महाकोसलीय

मूर्तिविज्ञानके क्रमिक विकासपर व कलचुरिकालीन मूर्तिकलाको आलोकित करनेवाले अगणित सौदर्यपुंज सम प्रतीक तत्रस्थ खंडहर, वृक्षतल एव सरोवर-के किनारोंपर अरक्षित-उपेक्षित दशामें पड़े है । बेचारे कतिपय प्रतीक तो वृक्षोकी जड़ोंमें इस प्रकार लिपट गये है कि उनका सकेतात्मक अस्तित्वमात्र ही रह गया है। महाकोसलकी यह राजधानी जैनपुरातन अवशेषोकी भी राजधानी है । यहाँसे उच्चकोटिकी कलापूर्ण जैन-मूर्तियाँ तो कलकत्ता वगैरह स्थानोके **म्यूजियम** व जैन-मन्दिरोमे चली गई । बहुत बडा भाग लढियो द्वारा पथरी व कुडियोंके रूपमें परिणित हो चुका है, कुछ अवशेष मिर्जापुरकी सडकोपर गिट्टियाँ बनकर बिछ चुके और पुलोमें तो आज भी लगे हुए है । कुछ भाग जनताने अपनी दीवालोंको खडी करनेमे लगा दिया, या गृह-द्वारमें फिट कर दिया । इस प्रकार क्रमश जैन-अवशेषोका त्रिपुरीमे जितना ह्रास और भ्रश हुआ है, उतना अन्यत्र कम हुआ होगा। जब मे त्रिपुरी पहुँचा, तब मुझे भी कतिपय जैनशिलावशेष जैसे भी प्राप्त हुए, वे महाकोसलकी जैनाश्रित मूर्तिकलाका, प्रतिनिधित्व सम्यक् रीत्या कर सकते हैं। इनमें-से कतिपय प्रतीकोका परिचय **'महाकोसलका जैन पुरातत्त्व'** शीर्षक निबन्धमे दे चुका हूँ। त्रिपुरीमे आज भी जैनाश्रित शिल्पकलाकी ठोस सामग्री उपलब्ध हैं । **बालसागर** सरोवर तटपर जो **शैव**-मन्दिर बना हुआ है, उसकी दीवालोके बाह्य भागोमे जैन-चक्रेश्वरी देवीकी आधे दर्जनसे भी अधिक मूर्तियाँ लगी हुई है । सरोवरके बीचोबीच जो मन्दिर है, उसमे भी कतिपय जैन मूर्तियाँ लगी हुई है। खेरमाईके स्थानके पीछे, जो पुरातन वापिकाके निकट है, अवशेषोका ढेर पडा है, उसमे व बड़ी खैरमाई जाते हुए मार्गमें जो थोड़ा-सा जगल व गड्ढे पडते है, उनमे जैनमूर्तियाँ व ऐसे स्तम्भ पाये जाते है, जिनपर मीन-युगल दर्पण, स्वस्तिक और नन्द्यावर्त आदि चिह्न उत्कीर्णित हैं। यहाँसे हमे जितनी भी जैनाश्रित शिल्पकलाकी सामग्री उपलब्ध हुई है, उनपरसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि किसी समय त्रिपुरीमें न केवल जैनोका

ही निवास रहा होगा, अपितु कही श्रमणसंस्कृतिके केन्द्रके सौभाग्यसे भी मडित रहा होगा।

बहुरीबन्द

जबलपुरसे उत्तर ४२ मीलपर यह ग्राम है। कनिंघम इसे 'टोलेमीका 'थोलावन' मानते है। पुरातत्त्वज्ञोके लिए यहाँ भी पर्याप्त सामग्री, बहुत ही उपेक्षित दशामें पड़ी हुई है। पर हमे तो यहाँ "खनुवादेव" का ही उल्लेख करना है। पाठक आश्चर्यमे पडेगे कि **"खनुवादेव"** क्या बला है? वस्तुत यह भगवान् शान्तिनाथकी प्रतिमा है। इसकी ऊचाई १३ फीट है। पाषाण श्याम है। इसके नीचेवाले भागमे एक लेख खुदा है,। इसकी लिपि बारहवी सदीकी जान पडती है। जो लेख है उसका साराश यह निकलता है—**"महासामन्ताधिपति "गोल्हणदेव" (राष्ट्रकूट) राठौरके समयमें बनी, जो कलचुरि राजा गयकर्णदेवके अधीन वहाँका शासक था'[1]।** यह मूर्तिकलाकी दृष्टिसे अत्यत महत्वपूर्ण है। परन्तु इस ओर जैन और हिन्दू दोनो उपेक्षित वृत्तिसे काम ले रहे है। हिन्दू लोग इसकी पूजा जूतोसे करते है। उनका विश्वास हैं कि जूतोके डरसे देव हमारी सुविधाओका पूरा-पूरा ध्यान रखेगा। जैनोने कुछ समय पूर्व इसे प्राप्त करनेके लिए आन्दोलन भी किया था, पर पाना तो रहा दूर, वहाँपर व्यवस्थातक न हो सकी, न आशातना ही मिटा सके। आश्चर्य तो इस बातका है कि पुरातत्त्व विभागके उच्च कर्मचारियोका पुन: पुन. ध्यान आकृष्ट करनेके बाद भी वे किसी भी प्रकारकी समुचित कार्यवाही न कर सके। स्वाधीन भारतमे इस प्रकारकी अपमानजनक पूजा प्रद्धति पर, शासनका पूर्णतया मौन बहुत अखरता है।

बहुरीबदसे १॥ मीलपर **"तिगवाँ"** पडता है। यहाँके पुरातन मदिरकी दीवालपर भगवान् पार्श्वनाथकी मूर्ति उत्कीर्णित् है।[2]

---

[1] प्रोग्रेस रिपोर्ट (कजिन्सकी) भा० ४. और आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट भा० ४, [2] जबलपुर-ज्योति, पृ० १४०,

पनागर

किसी समय पनागरकी जाहो-जलाली जबलपुरसे भी बढ़कर थी। आज तो उसकी प्रसिद्धि केवल 'पान' के कारण ही रह गई है। पुरातत्वकी दृष्टिसे पनागर उपेक्षणीय नही। यहाँपर कलचुरि शिल्पके सुन्दरतम प्रतीक पर्याप्त प्रमाणमे उपलब्ध होते है। कुछेक तो "बलैहा" तालाबके किनारेपर वृक्षोके निम्न भागमें व कतिपय गाँवके बीचोबीच वराहकी खडित मूर्ति जिस चोतरेपर रखी है, वहाँपर अरक्षितावस्थामे विद्यमान है। कथित चोतरेके आगे ही एक मजबूत जैनमंदिर है, चारो ओर सुदृढ दुर्गसे घिरा यह मंदिर किसी भट्टारकका बनवाया हुआ है। वहाँ उनकी गद्दी भी रही है। मंदिरमे एक विशाल पुरातन प्रतिमाका होना, बतलाया जाता है।

थानेके सम्मुख एक गली गाँवमें प्रवेश करती है। थोड़ी दूर जानेपर "खैरदय्या" का स्थान आता है। यहाँ भी बहुतसे अवशेष पडे है। जनता जिसे "खैरमाई" या "खैरदय्या" नामसे संबोधित करती है, वस्तुत वह जैनोकी अबिका देवी है। २॥ फिटसे अधिक ऊँची अम्बिका बैठी प्रतिमा है, आम्र लूब बालक वगैरह लक्षण स्पष्टत लक्षित होते है। देवीके मस्तकपर भगवान् नेमिनाथकी पद्मासनस्थ व पार्श्वमे अन्य खड्गासनस्थ जिन-मूर्तियाँ हैं। पृष्ठ भागमे विस्तृत आम्रवृक्ष खोदा गया है। इस समूहमे यही मूर्ति प्रधान है। खैरमाईके अनुरूप पूजा होती है। यहाँ अबिका, पद्मावती व ज्वालामालिनीकी मूर्तियाँ पड़ी है, उनके मस्तकपर क्रमश. नेमिनाथ, पार्श्वनाथ व चन्द्रप्रभुकी प्रतिमाएँ उत्कीर्णित है।

ऐसे ग्राममे कई समूह पाये जाते है, जिनमें जैन-अवशेष भी मिल जाते है।

स्लीमनाबाद

जबलपुरसे कटनी जानेवाले मार्गपर ३९×५ मीलपर अवस्थित है। "इस गाँवको सन् १८३२के लगभग कर्नलस्लीमनने, कोहका नामक गाँवकी

ज़मीन लेकर बसाया था।"[1] यहाँपर एक महादेव-मदिरसे मुझे जिन-मूर्तिका सुन्दर मस्तक प्राप्त हुआ था। नवग्रह युक्त जिन प्रतिमावाला एक शिलापट्टक मुझे यहींपर प्राप्त हुआ था, जिसका परिचय **"महाकोसलका जैन पुरातत्त्व"** शीर्षक निबधमे आ गया है।

लखनादौन

सिवनीसे जबलपुर जानेवाले मार्गपर उत्तरकी ओर ३८ मील है। इस ग्राममें प्रवेश करते ही दो-एक ऐसे मदिर बायी ओर पड़ेंगे, जिनमें पुरातन अवशेष व मूर्तियाँ लगी है। उन्हीसे इसकी पुरातनता सिद्ध हो जाती है। आगे चलनेपर जैनमदिर है, इनमेंसे मुझे कुछ धातुमूर्ति-लेख प्राप्त हुए, जिनमे "गाडरवाडा" और 'नरसिहपुर' का उल्लेख है। लेखोका १७०३-५-८ है। यहाँपर अंतिम जैनमदिरके पास ही **श्री बलदेवप्रसादजी कायस्थके** घरमे अत्यत मनोहर जिन-प्रतिमा भीतमें चिपकी है। इसपर गेरू पुता है। कहते है कि यहाँपर चातुर्मासके बाद कभी-कभी खुदाई करनेपर मूर्तियाँ निकलती है। यहाँके **विक्रमसेनके** खडित लेखसे ज्ञात होता है कि उसने जैन-तीर्थंकरका मदिर बनवाया था।

नागरा

यह गाव भडारा-जिलेमे, गोदियासे ४ मील दूर है। पुरातत्त्वकी दृष्टिसे इसका महत्त्व है। यहाँपर जैनमंदिरोंके ध्वसावशेष व मूर्ति खड पाये जाते हैं—जिनमेसे कुछेकपर वि० सं० १२०३, १५४३, और शकाब्द १८०६ लेख पाये जाते है। सबसे बड़ा लेख १५ पंक्तियोंमे था, पर अज्ञानियो द्वारा शस्त्र तेज करनेसे मिट गया है। इन अवशेषोको मैंने सन् १९४२ मे तो देखा था, पर जब १९५१मे गया तब गायब थे। पूछनेपर ज्ञात हुआ कि एक महन्तकी समाधिमे वे सब अवशेष काम आ गये

---

[1] जबलपुर-ज्योति, पृ० १७७,

पद्मपुर

यह ग्राम गोंदिया तहसीलमें आमगाँवसे १॥ मील दूर है। **महा-महोपाध्याय वा० वि० मिराशीजी**का मानना है कि महाकवि भवभूति यहाँके निवासी थे। यहाँपर ग्रामके खेतोमें भगवान् पार्श्वनाथ व ऋषभदेव तथा महावीर स्वामीकी मूर्तियाँ पाई जाती है। इन मूर्तियोंका महत्त्व कलाकी दृष्टिसे बहुत है। वे खडित है पर किसी समझदारने गारेसे ठीक कर जमा दी है।

आम गाँव

गाधी चौकमे पीपल-वृक्षके निम्न भागमे जैन-मदिरके एक स्तम्भका अवशेष पडा है। इसके चारों ओर खडी जिनमूर्तियाँ खदी हुई है। यह अवशेष यहाँ क्यो और कैसे आया ! यह एक प्रश्न है। उत्तर भी सरल है। उपर्युक्त पद्मपुर भले ही आज यहाँसे १॥ मील दूर हो, पर जिन दिनों वह उन्नतिशील नगर था, उस समय इतना भी दूरत्व न रहा होगा। कुछ अवशेष आमगाँवमे ऐसे भी पाये गये है, जिनकी ममता पद्मपुरीय कृतियोमे की जा सकती है।

कामठा

युद्धसमयमे यहाँ वायुयानका केन्द्र था। यो तो कामठा दुर्ग भारतीय क्रातिके इतिहासमे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, परन्तु बहुत कम लोग जानते होगे कि इतिहास और पुरातत्त्वकी दृष्टिसे भी कामठाका महत्त्व है। किसी समय यह बहुत बडा नगर था। यहाँके लोधी (भूतपूर्व) जमीदारका दुर्ग २०० वर्षसे भी प्राचीन है। कुछ वर्ष पूर्व दुर्गका एक हिस्सा परिवर्तनार्थ तुडवाना पडा था। उस समय बडे गड्ढेमे--जिसपर दुर्गकी सुदृढ दीवाल बनी हुई थी--शिखराकृति दिखलाई पडी थी। कुछ अधिक खुदाई करनेपर ऐसा ज्ञात हुआ कि जिसप्रकार इस मदिरके ऊपर किला बना हुआ है, ठीक उसीप्रकार मदिर

भी किसी अवशेषके ऊपर बना प्रतीत होता है। जागीरदारीके प्रबन्धक बाबू **तारासिंहजी**ने इसकी सूचना नागपुर अद्‌भुतालयके प्रधानको दी। जाँच करनेपर कुछ ताम्र-मुद्राएँ प्राप्त हुई, पर खेद है कि पुरातत्त्व विभागके उस अफसरने हफ्तोतक जमीदारके आतिथ्यसे लाभ उठाकर भी यथार्थतः अपने कर्त्तव्यका लेशमात्र भी पालन न किया। यदि मंदिरके नीचे और खुदाई की जाती—जैसा कि जमीदार साहब वैसा करवानेको तय्यार थे—तो कुछ नवीन तथ्य प्रकाशमें आता। जितना भाग खोदा गया था, उसमे आधे दर्जनसे अधिक जैन-मूर्तियाँ प्राप्त हुई थी। कुछ एक तो नीवमें पुन' भर दी गई। केवल एक प्रतिमा नमूनेके लिए दुर्गद्वारके अग्रभागमे विराजमान हैं। समीप ही दशावतारी विष्णुकी अत्यन्त प्रभावोत्पादक मूर्ति अवस्थित है। **बाबू तारासिंह**से पता लगा कि मैंने जिस जगहपर खुदाई-कार्य किया था, वहाँ भी जैन मूर्तियाँ निकली थी। इसमें कोई सशय नही कि कामठाके लोग शिल्प-कलाके उन्नायक रहे थे।

बालाघाट अपने जिलेका प्रमुख स्थान है। इसका इतिहास वाकाटक काल तक जाता है। सरकारी अफसरोके आमोद-प्रमोदके लिए एक क्लब बना हुआ है। ठीक इसके पीछे एव न्यायालयवाले मार्गपर छत-विहीन साधारण कमानके सहारे कुछ जैन-मूर्तियाँ टिकी हुई है। जिस रूपमें इन्हे मैंने उन्नीस सौ बयालीसके पराधीन भारतमे देखा था, ठीक उसी रूपमे उन्नीस सौ बावन अप्रैलके स्वाधीन भारतमे भी देखा। बड़ा आश्चर्य है कि इतने वर्षोंके बाद भी हमारे शिक्षित-दीक्षित अफसर व मन्त्रियोका ध्यान इस ओर न जाने क्यो नही गया। अब भी जाय तो कम-से-कम नष्ट होने वाली कलात्मक सम्पत्ति तो बचाई जा सकती है।

डोंगरगढ़—का नाम अत्यन्त सार्थक है। सचमुच यह पहाड़ियोका दुर्गम दुर्ग ही है। जब इस नामसे अभिषिक्त किया गया होगा, उस समय इसकी दुर्गमता कितनी दुर्बोध रही होगी, चतुर्दिक् सघन अटवियोसे यह भू-

भाग कितना आच्छादित रहा होगा, इसकी कल्पना प्रत्यक्षदर्शी कलाकार ही कर सकता है। प्रकृतिके अवशेष-स्वरूप आंशिक सौन्दर्य आज भी यहाँ सुरक्षित है। कलाकारके मनका न केवल उन्नयन होता है, अपितु महत्त्वपूर्ण उदात्त भावनाका सूत्रपात भी होता है। अग्रसोची शासकोने भले ही इसे सुरक्षाकी दृष्टिसे बसाया हो, पर आज यह संस्कृति और सौन्दर्यकी साधनाके केन्द्रस्थानके रूपमे प्रसिद्ध है। लाखो जनपदोंकी हार्दिक भावनाका यह केन्द्र स्थान है। यहाँ शाक्त और वैष्णवोका किसी समय अवश्य ही समन्वयात्मक अस्तित्व रहा होगा। पहाड़ीके ऊपर बमलाईका शक्तिपीठ है, तो ठीक उसके पीछेके नगमूलमें वैष्णव साधनाका स्थान बना हुआ है, परन्तु बहुत कम लोग जानते है कि यहाँपर किसी समय श्रमण परम्परामें विश्वास करनेवालोंका भी साधनास्थान था, जैसा कि तत्रस्थित विशृंखलित अवशेषोसे फलित होता है।

यो तो मुझे उन्नीस सौ तेतालीस और उन्नीस सौ इक्कावनमे डोंगरगढमे विहार करते हुए ठहरनेका अवसर मिला था। इच्छा रहते हुए भी पहाड़ीपर न जा सका, एवं न वहाँके अवशेषोका ही पता लगा सका, बल्कि मुझे ज्ञात ही न था कि बमलाई देवीको छोडकर और किसी दृष्टिसे डोंगरगढका सांस्कृतिक व ऐतिहासिक महत्त्व भी है।

जैन-अवशेष

२३ मार्च १९५२को अपनी शोध विषयक आवश्यक सामग्रीके साथ पहाड़ीपर चढा; यों तो ऊपर जानेके दो मार्ग है—एक **तपसीतालसे** एव दूसरा श्मशान घाटसे। हमारे लिए दूसरा मार्ग ही उपयुक्त था। पहाडीपर चढ़ते हुए मार्गमे कही-कही अवशेष दिखलाई पड़े। उनमेसे कुछ एक जैनपरम्परासे सम्बद्धित भी ज्ञात हुए, जिनका उल्लेख मे आगे करूँगा। पहाड़ीसे नीचे उतरनेपर मेरा इरादा तो यही था कि अभी तो निवासस्थानपर चलकर कुछ विश्राम किया जाय, क्योंकि पहाड़ी-

की चढाईकी अपेक्षा उतराई अधिक महँगी पडती है। मेरे साथी पंडित **राजूलालजी** (राजनांदगाव) शर्मा व मुनि श्री **मंगलसागरजी**का आग्रह हुआ है कि **टोन्ही-बमलाई व तपसीताल**को देखकर ही निवास स्थानपर जाना अधिक उचित होगा; क्योंकि २४ मार्चको हमे प्रस्थान करना था। अनिच्छासे मै इन लोगोंके साथ आगे बढ़ा। मै सोचता था कि दुपहरको अवशिष्ट स्थानोंको आरामके साथ देखना ठीक रहेगा; क्योंकि हमारा इसप्रकार भटकना केवल देखनेके लिए न था, अपितु उन-उन स्थानो व तत्र स्थित अवशेषोंसे बातचीतका सिलसिला भी चलाना था। मेरा विश्वास रहा है कि कलाकार खडहरमे प्रवेश करता है, तब वहाँका एक-एक पत्थर उससे बाते करनेको मानो लालायित रहता है, ऐसा आभास होता है। कलाकार अवशेषोको सहानुभूतिपूर्वक अन्तरमनसे देखता है, पर्यवेक्षण करता है, उनमे एकाकार होनेकी चेष्टा करता है, तभी तो वह टूटे-फूटे पत्थरके टुकडोमे बिखरे हुए सस्कृति और सभ्यताके बीजोको एकत्र कर उनका नवीन सामयिक स्फूर्तिदायक सस्करण तैयार करता है।

आगे चलकर हम लोग शिव-मन्दिरके निकट रुके। एक पडा भी हमारे पीछे पड़ गया। लगा वहाँकी किवदन्तियाँ सुनाने। एक किवदन्ती हमारे कामकी मिल गई। शकरजीका मदिर चबूतरेपर बना हुआ है; ज्यो ही उसपर हम चढे, त्यो ही हमारी दृष्टि दाई ओर पडी हुई पद्मासनस्थ जिनप्रतिमापर केन्द्रित हो गई। इसी प्रतिमापर **श्रीयुत महाजन साहब**ने मेरा ध्यान आकृष्ट किया था। यह प्रतिमा भगवान् ऋषभदेव स्वामीकी है, यद्यपि प्रतिमाकी निर्माण-शैलीको देखते हुए कहना पडेगा कि—इसके परिकर-निर्माणमे व्यवहृत कलात्मक उपकरण तो विशुद्ध महाकोसलीय ही है। इस प्रकारकी प्रतिमाएँ सम्पूर्ण महाकोसलमे पायी जाती हैं, सापेक्षत मुझे इसमे एक नावीन्य दृष्टिगोचर हुआ। वह यह कि प्रान्तमें जितनी भी जैनमूर्तियाँ अद्यावधि मैंने देखी हैं, उनमे निम्न भागमे नवग्रहोंके स्थानपर केवल नव आकृतियाँ ही उत्कीर्णित रहती है, पर इसके परिकरमें नवग्रहोका

अंकन सशरीर व सायुध है। मुझे ऐसा लगता है कि यह छत्तीसगढ़ प्रान्त स्थित जैनमूर्ति-निर्माण-विषयक कला परम्पराका अनुकरण है। यों तो छत्तीसगढ महाकोसलमें अन्तर्भुक्त हो जाता है, पर मूर्ति-निर्माणकलामें उत्तर और दक्षिण कोसलमें अन्तर है, उत्तर कोसलमें ऐसी जिनमूर्तियाँ अत्यल्प उपलब्ध हुई हैं, जिनमे गृहांकन सशरीर या सायुध हो, जब कि दक्षिण कोसलकी अधिकाश मूर्तियाँ उपर्युक्त परम्पराका अपवाद है। परिकरमे साँचीके तोरणकी आकृतिके चिह्न अवश्य ही मिलेगे। छत्तीसगढकी जैनधातु-प्रतिमा मुझे सिरपुरसे उपलब्ध हुई थी; उसमें भी नवग्रहोका सशरीर सायुध अकन था। यह प्रतिमा नवम शताब्दीथी। अधिष्ठाताके स्थानपर कुबेर एव अधिष्ठातृके स्थानपर अम्बिका विराजमान हैं। डोंगरगढकी यह ऋषभदेवकी प्रतिमा उपर्युक्त धातु मूर्तिके अनुकरणात्मक स्वरूपमे दिखती है। अन्तर इतना ही है कि कुबेर और अबिकाके स्थानपर, गोमेध यक्ष एव यक्षिणी चक्रेश्वरी है।

उपासक व उपासिकाओका स्थान जैन-परिकरमे आवश्यक माना गया है। यहाँपर भी ये दोनों स्पष्ट हैं; बल्कि पूजनकी सामग्री भी कलाकारने अकित कर, अतिम गुप्तकालीन मूर्ति निर्माण कलाकी आभा बता दी है। सूचित समयकी जैन-बौद्ध-सपरिकर मूर्तियाँ मन्दिरके आकारकी दीखती थी। धूपदान, आरती, कलश एव पुष्पपात्र भी अकित रहते थे। इस परम्पराका विकास सिरपुरस्थ धातुप्रतिमामे स्पष्टत. परिलक्षित होता है। प्रस्तुत ऋषभदेव प्रतिमाके परिकरमे विवर्तित किरीट मुकुट बहुत ही आकर्षक बने है। मूर्ति सपरिकर चालीस इच ऊँची छब्बीस इच चौडी है। निस्सन्देह प्रतिमा किसी समय मदिरके मुख्य गर्भद्वारकी रही होगी। अभी तो इसपर खूब तैल-युक्त सिन्दूर पोता जाता है, और आध्यात्मिक भावोकी साकार आकृति द्वारपालका काम करती है।

इसी मन्दिरके निकट और भी नागचूर्णसे अभिषिक्त कतिपय अवशेष

पड़े हुए हैं। इनमें कुंभ, कलश, मीन युगल व दर्पणकी आकृतियाँ, उनके जैनधर्मसे सम्बन्धित होनेके प्रमाण है। यहाँसे एक पडेके साथ हम लोग **टोन्हीबमलाईकी** ओर चले । यह स्थान सापेक्षतः कुछ विकट और दुर्गम है। बिना मार्ग-दर्शकके वहाँ पहुँचना सर्वथा असभव है। कारण कि इस ओर ले जानेवाली न तो कोई निश्चित पगडडी है एव न ऐसे कोई चरणचिह्न ही दिखलाई पडते है, जिनके सहारे यात्री सुगमतापूर्वक वहाँ पहुँच सके। यह स्थान विकट चट्टानोके बीच पडता है। बडी-बडी आडी टेढी और फिसलनेवाली चट्टानोको पार कर जाना पडता है। यहाँकी बमलाईकी पूजा केवल नवरात्रिके दिनो होती है। बली भी खूब जमकर होती है, पाठकोको पढकर आश्चर्य होगा कि आजके युगमे भी यहाँ पूजाके दिनोमे एक बकरेका जीवित बच्चा ज़मीनमे गाड़ा जाता है।

उपर्युक्त जर्जरित टोन्ही बमलाईके स्थानमे ही सिन्दूरसे पोती हुई भगवान् पार्श्वनाथ स्वामीकी एक प्रतिमा विराजमान है, कलाकी दृष्टिसे अति सामान्य है। ठीक इस स्थानके कुछ दूर जानेपर बहु-सख्यक अवशेष घनी झाडीमे फैले हुए है। तीन स्तम्भ छ फुटसे भी अधिक लबे व ढाई फुटसे अधिक चौडे है, जो नीचेसे चतुष्कोण कुछ ऊपर षट्कोण एव मध्यमे अष्ट कोणमे विभाजित है। सर्वोच्च भागमे दोनो ओर सुन्दर डिज़ाइन व एक भागमे खड्गासनमे जिनमूर्तियाँ खुदी हुई है, जो नग्न है। पासमे पडे हुए चौखटके मध्यभागमे उत्कीर्णित कलशाकृति इस बातकी सूचना देती है कि असभव नही ये सभी अवशेष ध्वस्त जैनमदिर के ही हो। इन सब अवशेषोको देखते हुए करीब बारह बजनेका समय हो रहा था, अत हम लोग तपसीताल नामक स्थानको सामान्य रूपसे देखकर ही स्वनिवासस्थानको लौटना चाहते थे; पर वहाँके सुयोग्य वैष्णव महत श्री **मथुरादासजीने** पहाड़ीके दुर्गम गन्तव्य स्थानोंकी चर्चा की। उन्हे दुपहरके बाद हमने देखना तय किया।

प्रायः चार बजे पुन. मैं **और बिहारीलाल अहीर तपसीताल** पहुँचे। उपर्युक्त पंक्तियोंमे मैंने पहाड़ीपर चढनेके दो मार्गोंका उल्लेख किया है। घने जगल एव टेढ़ी-मेढी चट्टानोवाला एक मार्ग तपसीतालसे फूटता है। आगे चलकर जगलोमे विभाजित हो जाता है। समय अधिक हो जानेके कारण हम डेढ मीलसे अधिक आगे न जा सके, पर जितना मार्ग तय किया, उस बीच मुझे दर्जनो गढे-गढाये पत्थर, आकृतियाँ खचित स्तम्भ, मूर्त्ति अवशेष व कही-कही भूमिस्थ डेढ फ़ीटसे अधिक लम्बी ईट दिखलाई पडी; यद्यपि यहाँ जैन-अवशेष तो दिखाई नही पडे, परन्तु इतना निश्चित ज्ञात हुआ कि किसी समय इस पहाडीमें विस्तृत जनावास व देवमदिरोका समूह रहा होगा।

उपर्युक्त पक्तियोमे मैंने एक कामकी किवदन्तीका सूचन किया है, वह इस प्रकार है। कहा जाता है कि इस पहाडीपर किसी समय बडा दुर्ग था; एव उसमे **कामकन्दला** नामक एक विख्यात गणिका रहती थी, यहीपर माधवानलके साथ उसकी प्रथम भेट हुई थी। पडेसे यह ज्ञात हुआ कि यह गणिका माधावानलकी पुन प्राप्तिके लिए नग्न मूर्त्तियोका पूजन करती थी। उसीने उपर्युक्त दोनो मूर्त्तियोका निर्माण करवाया। इस किवदन्तीमे विशेष तथ्य तो मालूम नही पडता, कारण कि उपर्युक्त पक्तियोका आशिक समर्थन भी साहित्य एव अन्य ऐतिहासिक साधनोंसे नही होता, बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो डोगरगढके भूभागपर प्रकाश डालनेवाले साधन ही अधकारके गर्भमे है। दूसरी बात यह भी है कि जबलपुर जिलेके बिलहरी ग्राममे एक शैव-मदिरका खडहर मैंने देखा है, उसके साथ भी कामकन्दलाका सम्बन्ध जुडा हुआ है। लोग मानते है कि वह उसका महल है। **माधवानलकामकन्दलाके** आख्यानोमे शैव-मदिरका उल्लेख पुन पुनः आया है। छत्तीसगढमे भी यह आख्यान बडा प्रसिद्ध रहा है; जहाँ पुरातन शैवमदिर दिखे, वहाँ कामकन्दलाके सम्बन्धकी कल्पना निरर्थक है। किवदन्तीमे वर्णित नग्न मूर्त्तिके स्थानपर शिवलिग-

को थोडी देरके लिए मान लिया जाय तो कलचुरि या उसके बादके भोसले आदि शासक इसका जीर्णोद्धार कराये बिना न रहते, जैसा कि **रत्नपुर** व **श्रीपुर**—सीरपुरके शैवमन्दिरोका कराया था।

अब प्रश्न रहजाता है गणिका द्वारा निर्मापित मन्दिर एव मूर्त्तियोंका। यह प्रश्न जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना कठिन भी, पर उपेक्षणीय नही। इसे सुलझानेका न कोई साहित्यिक प्रमाण है न शिलालिपि ही, केवल प्रतिमा एव मन्दिर-अवशेषोकी रचनाशैलीके आधारपर ही कुछ प्रकाश पड सकता है। जो दो मूर्त्तियाँ विभिन्न स्थानोपर विराजमान कर दी गई है, उनकी रचनाशैलीमे पर्याप्त साम्य है। भले ही वे दोनो विभिन्न कलाकारोकी कृति ज्ञात होती हो, पर टेकनिक एक है, पाषाण एक है। स्तम्भो एव मदिरके गवाक्षोमे खचित आकृतियोपर कलचुरि कलाका प्रभाव स्पष्टत परिलक्षित होता है, बल्कि कहना चाहिए कि स्थपतिने अपने पूर्वजो द्वारा व्यवहृत शैलीको सुरक्षित रखनेका साधारण प्रयास किया है, पर सफलता नही मिली। जिन्होने कलचुरिकलाके प्रधान केन्द्र त्रिपुरी और बिलहरीकी गृह-निर्माण-कला एव उनके विभिन्न उपकरणोका **अध्ययन** किया है, वे ही उपर्युक्त अवशेषोकी अनुकरण-शैलीको समझ सकते है। मदिरोके चौखट विन्ध्यप्रदेशके सुन्दर बनते थे। कलचुरि कलाकारोंने कुछ परिवर्तनके साथ इस शैलीको अपनाया। उसी शैलीका साधारण अनुकरण दक्षिण-कोसल-छत्तीसगढमे किया गया। ऐसी स्थितिमें उत्तर भारतीय द्वार-निर्माण-शैलीका प्रभाव बना रहना स्वाभाविक ही है।

डोगरगढकी पहाडीके अवशेषोको मै कलचुरि कालमें नही रखना चाहता, कारण कि उपासक, उपासिका तथा पार्श्वदोके तनपर पडे हुए वस्त्रोपर गोड प्रभाव स्पष्ट है। आभूषण भी गोड और कलचुरि कलामें व्यवहृत अलकारोसे कुछ मेल रखते है। ओठ भी मोटे है, मस्तकके बाल कुछ लम्बे बँधे हुए है, इन सब बातोसे यह ज्ञात होता है कि इसकी रचना पन्द्रहवी

या सोलहवी सदीके बीच कभी हुई होगी। उन दिनो भंडारा जिलेमे जैनोंका अच्छा स्थान था, कारंजाके भट्टारकका दौरा **नागरा** तक हुआ था, साथ ही इस शताब्दीकी कुछ मूर्तियाँ लाजी, बालाघाट, पद्मपुर, आमगाँव, कामठा और किरनापुरमें पाई जाती है, यद्यपि इन स्थानोंमेसे कुछ एक तो डोंगरगढसे काफी दूर पडते है, पर लाजी वगैरह दूर होते हुए भी, कलचुरियों द्वारा शासित प्रदेश था, अर्थात् शासनकी दृष्टिसे दूरत्व नहीके बराबर था। इसी समयकी **गंडई**मे भी कुछ एक मूर्तियाँ पाई जाती हैं। डोंगरगढसे बारहवे मीलपर **बोरतालाब** रेल्वे स्टेशन पडता है। यहाँपर आज भी इतना बीहड जगल है कि रात्रिको ग्रामकी सीमातक जाना असम्भव है। यो तो यह किसी समय विशेष रूपसे सुरक्षित जगल माना जाता था, पर आज वहाँ एक शेरने ऐसा उपद्रव मचा रखा है कि दो वर्षमे १५५ व्यक्ति स्वाहा करनेके बाद भी वह मस्तीमे घूमता है, इसी जगलके द्वार-पर एक जलाशय बना हुआ है। जलाशयसे ठीक उत्तर चार फर्लाग घनघोर जगलमे प्रवेश करनेपर खडित मूर्तियोंके एक दर्जनसे कुछ अधिक अवशेष दिख पडेंगे, इसमे मस्तक-विहीन एक ऋषभदेवकी प्रतिमा है, जिसपर **"संवत् १५४८. . .जोवरा . डुंगराख्यनगरे. . नित्यं प्रणमंति।"**

यह लेख भी उपर्युक्त मदिर व मूर्तियोंके निर्माण कालीन परिस्थितिपर कुछ प्रकाश डालता है। जीवराज पापडीवालद्वारा सारे भारतमे मूर्तियाँ स्थापित करवानेकी न केवल किवदन्तियाँ ही प्रचलित है अपितु कई प्रातोंमे मूर्तियाँ भी उपलब्ध होती है। लेखान्तरित **"जीवरा"** शब्दसे मै **जीवराज पापड़ीवाल**का ही सम्बन्ध मानता हूँ और डुगराख्य नगरसे डोंगरगढ। यदि लेखकी मिती मिल जाती तो अन्य मूर्तियोंकी मितियोसे तुलना करते तो अवश्य ही नवीन तथ्य प्रकाशमे आता। सूचित समयमे निस्सन्देह डोंगरगढमें जैनोका प्राबल्य रहा होगा। उसी समय जैनसमाजकी किसी प्रतिष्ठित नारीद्वारा डोंगरगढका उपर्युक्त मदिर बना होगा। कुछ समय

बाद जब जैनोंका प्राबल्य घटा या जैनधर्मका आचरण करनेवाली जातिमेसे आचार-विषयक परम्परा लुप्त हुई, तब कामकन्दलावाली किंवदन्तीमे इस मंदिरको भी लपेट लिया गया हो तो इसमे आश्चर्य नही है। भारतमे बहुतसे ऐसे धार्मिक स्थान हैं, जिनकी ख्यातिके पीछे नारियोंका नाम जुडा हुआ है। उदाहरणार्थ-पिसनहारीकी मढिया।

प्रसगत. एक बातका उल्लेख अत्यावश्यक जान पडता है कि उन दिनो डोंगरगढ़के निकटवर्ती भू-भागोपर जैनकलाकारो और जैनकलारोकी बस्ती पर्याप्त प्रमाणमे रही होगी। सभव है उस समयकी बहुत-सी मूर्तियाँ इन्ही लोगो द्वारा बनवाई गई हो। भडारा जिलेमे जैनकलारोकी बस्ती प्राय हर एक गाँवमें मिलेगी। ये जैनकलार कलचुरियोके अवशेष है। इनके नामके आगे जुडा हुआ जैन शब्द इस बातका सूचक है कि कुछ समय पूर्व निश्चित रूपसे वे जैनधर्मका पूर्णतया आचरण करते रहे होगे। इस जातिके कुछ शिक्षित भाई मुझे कामठामे मिले थे। वे स्वय बोले कि किसी समय हमारे पूर्वज जैन थे; पर ज्यो-ज्यो हमारा सम्बन्ध परिस्थिति-जन्य विषमताओके कारण, धार्मिक सिद्धान्तोसे हटता गया; त्यो-त्यो हम इतने धर्मभ्रष्ट हो गये कि अहिंसाकी सुगन्ध भी आज हममे न रही।

अधिक अवकाश न मिलनेके कारण मे पहाडीकी पूर्णत छानबीन तो नही कर सका, पर जितने भागको देखकर समझ सका, उससे मनमे कौतूहल हुआ कि डोंगरगढ-जैसा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान विद्वानोकी दृष्टिसे ओझल क्योकर रहा—यहाँतक कि स्वर्गीय डाक्टर हीरालालजीने भी इसे उपेक्षित रखा।

आरंग

रायपुरसे २२ मील दूर बसे आरगमे एक प्राचीन जैनमन्दिर है, जिसका एक भाग जीर्ण होने व गिरनेके भयसे सरकारने दुरुस्त करवा दिया है। यहाँके मन्दिरका शिखर अत्यन्त सूक्ष्म नक्काशीदार कोरणियोसे आच्छादित होनेसे बहुत ही कलापूर्ण एव मनोज्ञ है। शिखरके चारो ओर देव-देवियों-

की प्रतिमाएँ उत्कीर्णित है, जिनका सम्बन्ध शायद दिगम्बर-सम्प्रदायसे है। उनमे आभूषणोंका बाहुल्य है। इसका प्रधान कारण कलचुरि-कलाका असर जान पडता है। मन्दिरके गर्भगृहमे तीन दिगम्बर जैन मूर्त्तियाँ हरापन लिये हुए श्याम पाषाणपर उत्कीर्णित है। कलाकी दृष्टिसे मूर्त्तियोसे भी बढकर परिकर सुन्दर है। इस मन्दिरके निर्माण-कालके विषयमें वहाँपर कोई लेख उत्कीर्णित न होनेसे निश्चित समय स्थिर करना जरा कठिन है, कलाके आधारपर ही समय निर्धारित करना होगा। मध्य-प्रान्तके **छत्तीसगढ-डिवीजनमे** रत्नपुरके पास **पाली** नामक एक ग्राम है, जहाँका शिव-मन्दिर प्रान्तमे प्राचीनतम माना जाता है। इसका नक्काशी-का काम आबूकी याद दिलाता है। इस मन्दिरका निर्माण **बाण-वंशीय राजा विक्रमादित्यने** सन् ८७०-८९५के बीच कराया और कलचुरिवंशीय **जाजल्लदेव** (राज्यकाल १०९५-११२०)ने जीर्णोद्धार कराया, जैसा कि **'जाजल्लदेवस्य कीर्त्तिरियम'** वाक्यसे प्रकट होता है, जो वहाँके मन्दिरके स्तम्भोपर उत्कीर्णित है। आरगका जैन-मन्दिर ठीक इससे सौ या कुछ अधिक वर्ष बाद बनवाया गया मालूम देता है, क्योकि इसमे शैव मन्दिरकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोरणीका अनुकरण किया गया है। इससे सिद्ध है कि **आरंग**का जैन-मन्दिर ११वी शतीके उत्तरार्द्धमें बना होगा।

महामायाके प्राचीन मन्दिरमे, जो सघन वनमें है, एकाधिक जैन-मूर्त्तियाँ अवस्थित है। एक पाषाणकी विशाल चट्टानपर चौबीस तीर्थंकरो-की एक साथ चौबीस मूर्त्तियाँ उत्कीर्णित है। यह चतुर्विशतिपट्ट महा-मायाके मूलमन्दिरमे सुरक्षित और अखण्डित है। आरगमे दो मील दूर एक जलाशयपर कुछ ऐतिहासिक खण्डहरोका हमे पता लगा था। पर परिस्थितिकी प्रतिकूलतावश वहाँ जाना न हो सका। एक केवटको भी रत्नोकी मूर्तियाँ प्राप्त हुई थी, जो **रायपुरके** दिगम्बर जैनमन्दिरमे सुरक्षित हैं। कहा जाता है कि किसी समय यह नगर जैन-संस्कृतिका प्रधान केन्द्र था। प्रान्तके प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डा० **हीरालालने** 'मध्य-

प्रदेशका इतिहास'में लिखा है—"**रायपुर जिलेके आरंग-स्थानमें एक प्राचीन वंशके राज्यका पता चलता है, जिसे राजर्षि तुल्य-कुल कहा करते थे। यदि इसका संबंध खारवेलसे रहा हो, तो समझना चाहिए कि खारवेलका वंश सैकड़ों वर्षोंतक चला होगा।**" इस अनुमानकी पुष्टि तत्रस्थ प्राप्त जैन-अवशेषोसे नही होती, क्योकि वे बहुत प्राचीन नही है।

रायपुरके अजायबघरमे भगवान् ऋषभदेव स्वामीकी एक प्राचीन प्रतिमा सुरक्षित है। कलाकी दृष्टिसे यह मूर्ति बडी सुन्दर, पर खण्डित है। स्थानीय प्राचीन दुर्गस्थ महामायाके मन्दिरमे दीवारपर **ऋषभदेव** भगवान्की एक प्रतिमा किसी सनातनीने जान-बूझकर चिपका दी है। इसका परिकर बडा सुन्दर है, पर अब तो इसका कुछ अश ही सुरक्षित रह सका है। **धमतरी**के इतिहास-प्रेमी **श्री विसाहुराव बाबर** द्वारा हमे ज्ञात हुआ कि **सिहावा**के आसपास भी जैन-धर्मसे सम्बन्धित लेख और अवशेष मिले है। ऐसे तीन लेखोकी प्रतिलिपियाँ भी आपने हमे लाकर दी थी। लेख **विश्वसोमसेन**के है। इसमे कोई शक नही कि सिहावा-इलाका इतिहास और अनुसन्धानकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। तन्निकटवर्ती कॉकेर-स्टेटमे अनेक जैन-स्तम्भ और विभिन्न जैन-अवशेष मिले है। तात्कालिक वहाँके दौरा-जज श्री **एम० बी० भादुड़ी**ने हमे दो ताम्रपत्र भिजवाये थे, जिनका सम्बन्ध **बल्लालदेव**से था। ये आजतक अप्रकाशित है।

बिलासपुर-कालेजके भूतपूर्व प्रिंसिपल **डा० बलदेवप्रसादजी** मिश्रसे विदित हुआ कि **सकती-स्टेट**के जगलमे एक विशालकाय जैनप्रतिमा है, जो वहाँके आदिवासियो द्वारा पूजित है। उन लोगोकी मान्यता है कि यही उनके आराध्यदेव हैं। वे लोग प्रतिमाके समक्ष बलि भी चढाते है। डा० साहबने प्रतिमा प्राप्त करनेके लिए वहाँके राजा साहबसे अनुरोध किया। पर प्रजा एकदम बिगड खडी हुई कि वह अपनी जान रहते किसीको भी, अपने आराध्यदेवको यहाँसे नही ले जाने देगे। बात वही समाप्त हो गई।

श्रीपुर अथवा **सिरपुरके** अध्ययनके बिना मध्य-प्रान्तके पुरातत्त्वका अध्ययन सर्वथा अपूर्ण रहेगा। यहाँका **गन्धेश्वर महादेवका** मन्दिर प्राचीन माना जाता है। अर्वाचीन कालमे भी वहाँकी अवस्था और व्यवस्था बड़ी सुन्दर है। इसमें सिरपुरके त्रुटित अवशेष लाकर, बड़े यत्नके साथ रखे गये है। मन्दिरके मुख्य द्वारके समक्ष विशालस्तम्भोपरि चार दिगम्बर जैन-प्रतिमाएँ उत्कीर्णित है, जो खड्गासनस्थ हैं। प्रस्तुत स्तम्भपर जो लेख खुदा है, वह इस प्रकार है—"**सं० ११६९ वैशाख...सा... समधर धारू तत् भार्या रूपी....सपरिवार युतेन....धर्मनाथ चतुर्मुख. ...नित्यं प्रणमंति।**" इस स्तम्भसे मालूम होता है कि ऊपरके भागमे भी मूर्तियाँ थी, जिनका चरण-भाग स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मूर्तिकी सुन्दरताके लिए, इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि उसके मुख-कमलसे जो वीतराग-भाव प्रस्फुटित होता है, शान्तिका वैसा प्रवाह अन्यत्र कम ही देखनेमे आता है। लक्ष्मणदेवालयके पास एक छोटा-सा अजायबघर-सा किसी समय बना था। पर आज वह अतीव दुरअवस्थामे है। ऊपरकी छत टूट गई है। उसमे अनेक प्रतिमाएँ, स्तम्भ व शिखरके त्रुटित भाग पडे है। इनमेसे एक साढे चार फुट ऊँची पद्मासनस्थ विशाल प्रतिमा है। एक स्तम्भपर अष्टमगल उत्कीर्णित है।

एक महत्वपूर्ण धातु-प्रतिमा

यो तो प्रान्तमे अनेक स्थानोंपर प्राचीन धातु-प्रतिमाएँ सुरक्षित है (जिनका सामूहिक निर्माण-काल विक्रमकी बारहवी शतीसे प्रारम्भ होता है); परन्तु यहाँपर जिस मूर्तिके विषयमे पुरातत्त्व-प्रेमियोका ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है, वह कलाकी दृष्टिसे अपना अलग ही स्थान रखती है। इसकी रचना-शैली स्वतन्त्र, स्वच्छ और उत्कृष्ट कलाभिव्यक्तिकी परिचायक है। मूल प्रतिमा पद्मासन लगाये है। निम्नभागमे वृषभ-चिह्न स्पष्ट है एवं स्कन्ध-प्रदेशपर अतीव सुन्दर केशावलि प्रसरित है। दोनो लक्षणोसे

इतना तो बिना किसी सकोच कहा जाता है कि प्रतिमा आदिनाथस्वामीकी है। दाहिनी ओर अम्बिकाकी एक मूर्ति है, जिसके बाएँ चरणपर लघु बालक, गलेमें हँसली पहने बैठा है। दाहिने चरणकी ओर बालक दाहिने हाथमें सम्भवतः मोदक एव बाएँ हाथमे उत्थित सर्प लिये खड़ा है। प्रश्न होता है कि आदिनाथस्वामीके परिकरसे अम्बिकादेवीका सम्बन्ध ही क्या? जब कि उनकी अधिष्ठात्री अम्बादेवी न होकर चक्रेश्वरी है। परन्तु जाँच-पडताल करनेपर मालूम हुआ कि प्राचीन जैन-मूर्त्तियोमें अम्बिकादेवीकी प्रतिमा स्पष्टोत्कीर्णित पाई जाती है। मथुरा और लखनऊके अद्भुतालयोमे बहुसख्यक प्राचीन जैन-प्रतिमाएँ, ऐसी प्राप्त हुई है, जिनके साथ अम्बिकादेवीकी प्रतिमा है। ये अवशेष ईस्वी सन् पूर्वके सिद्ध किये जा चुके है। सौराष्ट्र-देशान्तर्गत ढाकमे, जहाँके सिद्ध नागार्जुन थे, दसवी शतीकी ऐसी ही जैन-प्रतिमाएँ प्राप्त हुई है। पश्चात् १२ वी शताब्दीकी अर्बुदाचल-स्थापित प्रतिमाओमे भी अम्बिकाका बाहुल्य है। साथ ही कतिपय प्राचीन साहित्यिक उल्लेख भी हमारे अवलोकनमे आये है, जिनसे जाना जाता है कि पन्द्रहवी शतीतक उपर्युक्त मान्यता थी, जैसा कि स० १४९३ की एक स्वाध्याय पुस्तिकामे उल्लिखित है —

"बारइ नेमीसर तणइ ए थप्पिय राय सुसम्मि।
आदिनाह अंबिक सहिय कंगड़कोट सिरम्मि॥'

श्री साराभाई नवाबके संग्रहमे भी अबिका-सहित आदिनाथजीकी प्रतिमाएं सुरक्षित है। ऋषभदेवकी प्रतिमाके दाहिनी ओर जो देवीकी प्रतिमा है, उसे हम तादृश रूपसे तो चक्रेश्वरी माननेमे पश्चात्पद हुए बिना न रहेगे; क्योकि आयुधादिका जैसा वर्णन जैन-शिल्पकलात्मक शास्त्रोमें आया है, वह प्रस्तुत प्रतिमामे आशिक रूपमे भी नही घटता है। देवीके आभूषणोको हम सामाजिक उत्कृष्टताकी कोटिमे न रख सके, तथापि सामान्यत. उसका ऐतिहासिक मूल्य एवं महत्व तो है ही। केश-विन्यास बड़ा

ही आकर्षक है । मूल स्थानपर भगवान्‌की प्रतिमा उलटे कमल-पुष्पासनपर विराजित है, जिसके चारों ओर गोल कगूरे स्पष्ट है । मस्तक-पर जटा-सा केशगुच्छक अलकृत है । पश्चात् भागमे प्रभावली (भामण्डल) है, जिसे गुप्तकालीन कलाका आशिक प्रतीक माना जा सकता है ।

प्रतिमाके निम्न भागमे आठ लघु प्रतिमाएँ, विविध प्रकारके आयुधोसे सुसज्जित है । बाजूमे उच्चासनपर एक प्रतिमा बनी हुई है । यहाँपर स्मरण रखना चाहिए कि **'वास्तुसार-प्रकरण'**मे राहु व केतुको एक ही ग्रह माना गया है । बडी उदरवाली प्रतिमा देखनेमे कुबेर-तुल्य लगती है, पर वस्तुत: है वह यक्षराजकी, जैसा कि तत्कालीन जैन-शिल्पोसे विदित होता है । यद्यपि इस मूर्तिका निर्माण-काल-सूचक कोई लेख उत्कीर्णित नही, पर अनुमानत यह ९ वी शताब्दीकी होनी चाहिए । इस प्रतिमाकी कलामे भी उत्कृष्ट कलात्मक बौद्ध और सनातनधर्मान्तर्गत सूर्य आदिकी मूर्त्तियाँ इसी नगरमे प्राप्त हुई है, जिनपर **पौनार** तथा **भद्रावती**मे प्राप्त अवशेषोकी कलाका आशिक प्रभाव है । उस समय मध्य-प्रान्तमे बौद्धाश्रित कलाका प्रचार था । जहाँपर जिस कला-शैलीका विकास हो, वहाँके सभी सम्प्रदाय उक्त कलासे प्रभावित हुए बिना नही रह सकते । इसीका उदाहरण प्रस्तुत प्रतिमा है । बौद्ध तत्त्वज्ञोने इसे तत्त्वज्ञानका रूप देकर कलामे समाविष्ट किया है । कहना न होगा कि ८ वी सदी मे यह रूप सार्वत्रिक था । इस प्रतिमाका महत्व इसलिए भी है कि प्रान्तके किसी भी भू-भागमे इस प्रकारकी जैन-प्रतिमा उपलब्ध नही हुई है ।

इस प्रतिमाकी प्राप्तिका इतिहास भी मनोरजक है । यद्यपि हमे यह **सिरपुरस्थ गन्धेश्वरमहादेव** मठके महन्त **मंगलगिरिजीसे** प्राप्त हुई है, पर वे बताते है कि **भीखमदास** नामक पुजारीको कही खोदते समय बहुसख्यक कलापूर्ण बौद्धप्रतिमाएँ एक विस्तृत पिटारेमे प्राप्त हुई थी ।

उपसंहार—

उपर्युक्त पक्तियोके अतिरिक्त रीठी, घन्सौर, सिहोरा, नरसिहपुर, बरहेठा, एलिचपुर, आदि कई स्थान है, जहाँ जैन-मूर्त्तियाँ आज भी प्राप्त होती है। **"मध्यप्रदेशका इतिहास"**के लेखक **श्री योगेन्द्रनाथ** सीलकी डायरियाँ-दैनदिनियाँ उनके पुत्र **श्री नित्येन्द्रनाथ** सीलके पास आज भी सुरक्षित है। मध्यप्रदेश और विशेषकर महाकोसलके जैन-पुरातत्त्वकी कौन-सी सामग्री कहाँ, किस रूपमे पायी जाती है, आदि अनेक महत्वपूर्ण ज्ञातव्य, उनमे सगृहीत है। मुझे आपने कुछ भाग बताया था, उसमे उल्लेख था कि आजसे ५० वर्ष पूर्व घन्सौरमे २५ से अधिक जैनमदिर, सामान्यत ठीक हालतमे थे। पर अब तो वहाँ केवल कुछ भागोमे खडहर ही दिखाई पडते है। यदि सील साहबकी डायरियाँ न होती तो आज उन्हे पहचानना कठिन ही था। ऐसी ही एक दैनदिनी मुझे आजसे ११ वर्ष पूर्व, नागपुर जैनमदिर स्थित हस्तलिखित ग्रन्थोके अन्वेषण करते समय प्राप्त हुई थी, जिसमे सिद्धक्षेत्र-पादलिप्तपुरके सत्रहवी शतीसे २०-शतीतक के महत्वपूर्ण लेख सग्रहीत है। इनमे मध्यप्रदेश स्थित एलिचपुरके लेख भी है। यह सग्रह नागपुरके एक यति द्वारा २० शतीके आदि चरणमे किया गया था। मुझे बिना किसी सकोचके कहना पडता है कि जैन-मुनियोने म० प्र०के इतिहासके साधन बहुत कुछ अशोमे सँभाल रखे है, इस प्रकारके अनेक साधन इधर-उधर बिखरे पडे है, जिन्हे एकत्र करना होगा।

पुरातत्त्वान्वेषणमे छोटी-छोटी वस्तुएँ भी, किसी घटना विशेषके साथ सबध निकल आनेपर, महत्वकी सिद्ध हो सकती है। कभी-कभी ऐसे साधनसे बडे-बडे तद्विदोको अपना मत परिवर्त्तन करना पडता है। अत हमारा प्राथमिक कर्तव्य होना चाहिए कि ऐसे साधनोका सार्वजनिक दृष्टिसे सग्रह करे, और अन्वेषको द्वारा प्रकाश डलवावे। ऐसे कार्योकी प्रगतिके लिये शासनका मुँह ताके बैठे रहना व्यर्थ है।

१ अगस्त १९५२]

महाकोसल का जैन-पुरातत्त्व

महाकोसल मध्य-प्रदेशका एक विभाग है। इसमे हिंदी-भाषी जिले सम्मिलित है। छत्तीसगढ डिवीजनका समावेश भी इसीके अन्तर्गत है। मध्य-प्रदेशके प्राचीन इतिहासकी दृष्टिसे महाकोसलका विशेष महत्त्व है, सापेक्षत प्राचीन ऐतिहासिक घटनाये निर्दिष्ट भू-भागपर ही घटी है। एतद्विषयक ऐतिहासिक साधन इसी भू-भागसे प्राप्त हुए है। आज भी महाकोसलके वन एवं गिरिकदरा तथा खण्डहरोमे, भारतीय शिल्पस्थापत्य एव मूर्त्तिकलाके मुखको उज्ज्वल करनेवाली व इनके क्रमिक विकासपर कलाकी दृष्टिसे—प्रकाश डालनेवाली मौलिक कलाकृतियाँ प्रचुर परिमाणमे उपलब्ध होती ही रहती है। मुझे विशेष रूपसे यहाँकी मूर्त्तिकलाका अध्ययन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मै इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ, जब १२ वी शताब्दीमे अन्य प्रान्तोके कलाकार मूर्त्तिनिर्माणमे शिथिल पड़ गये थे, उन दिनो यहाँके कलाकार अपनी शिल्प-साधनामे पूर्णत अनुरक्त थे।

अन्य प्रान्तोकी अपेक्षा महाकोसलमे शिल्पकलाकी दृष्टिसे अनुसन्धान कार्य बहुत ही कम हुआ है। जो हुआ है वह नहीके बराबर है। जनरल **कनिंहाम**[1] और **राखालदास**[2] बनर्जी आदि पुरातत्त्वविदोने अवश्य ही प्रमुख स्थानोका निरीक्षण कर इतिवृत्तकी खानापूर्ति की है। परन्तु जितने खानोका विवरण प्रकाशित किया गया है, उनसे भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान एव अवशेष आज भी उपेक्षित पडे हुए है, जिनकी ओर केन्द्रीय पुरातत्त्व-विभाग एव प्रान्तीय शासनने आजतक ध्यान नही दिया, न देनेवाले सास्कृतिक कार्यकर्त्ताओको प्रोत्साहित ही किया, बल्कि तथाकथित व्यक्तियोके प्रति अभद्र व्यवहार किया गया। उचित अनुसन्धानके अभावमे महत्वपूर्ण जैन

---

[1] **आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ् इंडिया, पुस्तक १७**

[2] **हैहयाज् ऑफ त्रिपुरी एण्ड देअर मान्यूमेण्ट्स**

कलाकृतियोका प्रकाशमें न आना सर्वथा स्वाभाविक है। जहाँ बिखरे हुए जैन-अवशेषोंको देखकर तो ऐसा ही लगता है कि किसी समय महा-कोसल जैन-संस्कृतिका प्रधान केन्द्र रहा होगा। जैन-पुरातत्त्वके अवशेषोंको समझनेमे शुरूसे विद्वानोने बडी भूल की है। जैन-बौद्ध-मूर्त्तिकलामे जो अंतर है, वे समझ नही पाते, इसी कारण महाकोसलकी अधिकतर जैन-कला-कृतियाँ बौद्धसे पहचानी जाती है।

सरगुजा राज्यमे लक्ष्मणपुरसे १२ वे मीलपर **रामगिरि** पर्वतपर जो गुफाएँ उत्कीर्णित है, उनमे कुछ भित्तिचित्र भी पाये गये है। **रायकृष्णदासजी**-का मत है, इनमेंसे "कुछ चित्रोका विषय जैन था"।[1] कारण कि पद्मासन लगाए एक व्यक्तिका चित्र पाया जाता है। इस गुफामे एक लेख भी उपलब्ध हुआ है। भाषा प्राकृत है। डा० ब्लाखके मतसे इसका काल ईसवी पूर्व ३ शती जान पडता है। इस प्रमाणसे तो यही प्रमाणित होता है कि उन दिनो श्रमणसस्कृतिका प्रभाव इस भूभागपर अवश्य ही रहा होगा। पद्मासन[2] जैनतीर्थंकरकी ही विशेष मुद्रा है। बौद्धोंमे इस मुद्राका विकास बहुत काल बादमे हुआ है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि अशोकका एक स्तभ भी रूपनाथमे मिला है, जिसपर उनकी आज्ञाएँ खोदी गई है। तो बौद्धसस्कृतिका प्रतीक रूपनाथ और जैन-सस्कृतिका रामगिरि[3] (रामटेक नही जैसा कि

---

[1]**भारतकी चित्रकला, पृ० २**

चित्रके लिये देखें आ० स० इं० १९०३-४, पृ० १२३

[2]**केटलाग आफ दि आर्कियोलॉजिकल म्यूजियम** at Mathura by J. **वोगल** Ph. D. Allahabad.

[3]**श्री उग्रादित्याचार्यने अपना कल्याणकारक नामक वैद्यक ग्रन्थ भी शायद इसी रामगिरिपर रचा था**

वेंगीशत्रिकलिगदेशजननप्रस्तुत्यसानूत्कटः

प्रोद्यद्वृक्षलतावितानविरतैः सिद्धैश्च विद्याधरैः

मिराशीजी मानते है) अत. ईसवीपूर्व ३री शतीमें जैन-प्रभाव महा-कोसलमें था।

शिल्प-स्थापत्य कलाकी विकसित परपराको समझनेके लिए मूर्तिकी अपेक्षा स्थापत्य अधिक सहायक हो सकते है। सम-सामयिक कलात्मक उपकरणोका प्रभाव स्थापत्यपर अधिक पडता है। महाकोसलमे प्राचीन जैन-स्थापत्य बच ही नही[1] पाये, केवल आरंगका एक जैनमदिर बच गया

सर्वे मंदिरकंदरोपमगुहाचैत्यालंकृते
रम्ये राम गिराविदं विरचितं शास्त्रं हितं प्राणिनाम् ॥

इसमें रामगिरिके लिए जो विशेषण दिये गये हैं, गुहा मंदिर चैत्यालयों-की जो बात कही है, वह भी इस रामगिरिके विषयमें ठीक जान पड़ती है। कुलभूषण और देशभूषण मुनिका निर्वाणस्थान भी यही रायगढ़ है या उसके आसपास कहीं महाकोसल ही में होगा।

जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २१२

प्रेमीजीको उपर्युक्त कल्पनासे मै भी सहमत हूँ, कारण कि कालीदास वर्णित यही रामगिरि है। वाल्मीकि रामायणके किष्किन्धाकांडमें शिला-चित्र एवं उसके खास शब्दोंका उल्लेख आया है। ऊपरके सभी उल्लेख इसी स्थानपर चरितार्थ होते है। रामटेकमें उल्लेखनीय शिलाचित्रण उपलब्ध नहीं होते। यदि रामटेक ही रामगिरि होता तो मध्यकालीन जैन-यात्री या साहित्यिक इसका उल्लेख अवश्य ही करते। इतना निश्चित है कि उपर्युक्त मुनियोंका निर्वाणस्थान महाकोसलमें ही था,

[1]महाकोसलमें बहुत-से ऐसे जैन-मंदिरके अवशेष व पूरे मंदिर पाये जाते है, जो अजैनोके अधिकारमें है। कुछ ऐसे भी मंदिर है जो अद्यावधि पहिचाने नहीं गये। उदाहरणार्थ—रायबहादुर डा० हीरालालने मंडला-मयूख पृ० ७९ मे कुकर्रा मठकी चर्चा करते हुए लिखा है कि "इस मंदिरकी कारीगरी नवीं या १० वीं शताब्दीकी जान पड़ती है। पुरातत्त्वज्ञ इस मंदिरको जैनी बतलाते है।" बरेठा, बिलहरी और बड़गांवमें ऐसे मंदिर व अवशेषोंकी कमी नहीं है,

है, वह भी इसलिए कि उसमें जैन मूर्ति रह गई है। यदि प्रतिमा न रहती तो इस जैन-प्रासादका कभीका रूपान्तर हो चुका होता। इस मंदिरकी आयु भी उतनी नही है कि जो उपर्युक्त विशृंखलित परपराकी एक कड़ी भी बन सके। तात्पर्य कि यह १० वी शतीके पूर्वका नहीं है। यहाँपर जैन-अवशेष प्रचुर परिमाणमे बिखरे पडे है। परन्तु जैन तीर्थमाला या किसी भी ऐतिहासिक ग्रन्थमे **आरंग**की चर्चातक नही है। हाँ, ९ शती पूर्व वहाँ जैन सस्कृतिका प्रभाव अधिक था, पुष्टि स्वरूप अवशेष तो है ही। एक और भी प्रमाण उपलब्ध है। यह वह कि आरगसे **श्रीपुर-सिरपुर** जगली रास्तेसे समीप पडता है। वहाँपर भी जैन-अवशेष बहुत बड़ी संख्यामे मिलते है। इनकी आयु भी मदिरकी आयुसे कम नही है। ९ वी शताब्दीकी एक धातु मूर्ति-भगवान् ऋषभदेव–मुझे यहीसे प्राप्त हुई थी। श्रीपुर इत.पूर्व बौद्ध सस्कृतिका केन्द्र था। मुझे ऐसा लगता है जहाँ बौद्ध लोग फैले वहाँ जैन भी पहुँच गये। यह पक्ति महाकोसलको लक्ष्य करके ही लिख रहा हूँ। आरगके मंदिरको देखकर रायबहादुर डा० **हीरालाल-**जीने कल्पनाकी है कि यहाँपर **महामेघवाहन खारवेल**के वशजोंका राज्य रहा होगा। इससे फलित होता है कि ९वी शताब्दीतक तो जैनसस्कृतिका इतिहास मिलता है, जो निर्विवाद है। परन्तु भित्तचित्रसे लगाकर ८ वी सदीके इतिहास साधन नही मिलते। भारतीय इतिहासके गुप्तकालमें महाकोसल काफी ख्याति अर्जित कर चुका था। **इलाहाबाद**का लेख और **एरण**के अवशेष इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

उपलब्ध शिल्पकलाके आधारपर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ८ और ९वी शताब्दीसे जैन शिल्पकलाका इतिहास प्रारभ होता है। गुफाचित्रोंसे लगाकर आठवी शतीतकका भाग अन्धकारपूर्ण है। इसका कारण भी केवल उचित अन्वेषणका अभाव ही जान पडता है।

कलचुरियोंके समय जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्य-कलाका अच्छा विकास हुआ। वे शैव होते हुए भी परमतसहिष्णु थे। जैनधर्मको विशेष आदरकी

दृष्टिसे देखते थे । कलचुरि **शंकरगण** तो जैनधर्मके अनुयायी थे, इनने **कल्याकक्षेत्रमे** १२ गाँव भी भेट चढाये थे । इनका काल ई० सं० सातवीं शती पड़ता है । महाकोसलमें सर्वप्रथम **कोक्कल्लने** अपना राज्य जमाया । **त्रिपुरी-तेवर**-इनकी राजधानी थी । कलचुरियोका पारिवारिक संबंध दक्षिणी राष्ट्रकूट शासकोंके साथ था । राष्ट्रकूटोपर जैनोका न केवल प्रभाव ही था, बल्कि उनकी सभामे जैन विद्वान् भी रहा करते थे । महाकवि **पुष्पदंत** राष्ट्रकूटो द्वारा ही आश्रित थे । **अमोघवर्षने** तो जैन-धर्मके अनुसार मुनित्व भी अंगीकार किया था, ऐसा कहा जाता है । यद्यपि **बहुरीबंद** आदि कुछेक स्थानोकी जैन-मूर्त्तियोको छोडकर कलचुरि-कालके लेख नही पाये जाते, बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो कलचुरिकालीन जैन शिल्प-कृतियोको छोडकर, शिलोत्कीर्णित लेख अत्यल्प ही पाये गये हैं, परन्तु लेखोके अभावमे भी उस समयकी उन्नतिशील जैन-सस्कृतिके व्यापक प्रचारके प्रमाण काफ़ी है । जैन-मूर्तियोके परिकर एव तोरण तथा कतिपय स्तभोपर खुदे हुए अलकरणोके गभीर अनुशीलनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनपर कलचुरिकालमे विकसित, तक्षणकलाका खूब ही प्रभाव पड़ा है, कुछेक अवशेष तो विशुद्ध महाकोसलके ही हैं । कृतियाँ भिन्न भले ही हो, पर कलाकार तो वे ही थे या उनकी परपराके अनुगामी थे । निर्माण-शैली और व्यवहृत पाषाण ही हमारे कथनकी सार्थकता प्रमाणित कर देते हैं । यहाँके इस कालके जैन, बौद्ध और वैदिक अवशेषोको देखनेसे ज्ञात होता है कि यहाँके कलाकार स्थानीय पाषाणोका उपयोग तो कलाकृतियोके निर्माणमे करते ही थे, पर कभी-कभी युक्त प्रान्तसे भी पत्थर मँगवाते थे। कलचुरिकालके पत्थरकी मूर्तियाँ अलगसे ही पहचानी जाती हैं ।

९ से १३वी शती तकके जितने भी जैन-अवशेष प्राप्त हुए है, उनमेसे बहुतोका निर्माण **त्रिपुरी और बिलहरीमे** हुआ होगा । कारण दोनो स्थानोपर जैन-मूर्तियाँ आदि अवशेषोकी प्रचुरता है । कैमोरके पत्थरकी जैन प्रतिमाएँ प्रायः **बिलहरीमें** मिलती हैं और बिलहरीके ही लाल पत्थरके

तोरण भी पर्याप्त मिले है। लाल पत्थर पानीसे खराब हो जाता है, प्रक्षालकी सुविधाके लिए कलाकारोने मूर्ति-निर्माणमे कैमोरका भूरा और चिक्कण पत्थर व्यवहृत किया है।

प्रसगतः सूचित करना आवश्यक जान पडता है, कि जिस प्रकार कलचुरियोके समयमे महाकोसलके भू-भागमें उत्तमोत्तम जैनकलाकृतियोका सृजन हो रहा था, उसी समय—**जेजाकभुक्ति-बुंदेलखण्ड**मे चँदेलोके शासनमे भी जैनकला विकासकी चोटीपर थी। आजकी शासन-सुविधाके लिए जो भेद सरकारने किये है, इससे महाकोसल और बुन्देलखड भले ही पृथक् प्रदेश जँचते हो, परन्तु, जहाँतक सस्कृति और सभ्यताका सवाल है, दोनोमे बहुत ही सामान्य अन्तर है, यानी **जबलपुर** और **सागर** जिले तो एक प्रकारसे सभी दृष्टिसे बुन्देलखडी ही है। सामीप्यके कारण कलात्मक आदान-प्रदान भी खूब ही हुआ है। मुझे बुन्देलखडमे बिखरे हुए कुछेक जैनावशेषोके निरीक्षणका अवकाश मिला है, मेरा तो इस परसे यह मत और भी दृढ हो जाता है कि कलाके उपकरण और अलकरण तथा निर्माणशैली—दोनोमे साधारण अतर है। अधिक अवशेष, दोनो प्रदेशोमे एक ही शताब्दीमे विकसित कलाके भव्य प्रतीक है। बुदेलखंडके जैन-अवशेषोका बहुत बड़ा भाग तो, वहाँके शासकोकी अज्ञानताके कारण, बाहर चला गया, परन्तु महाकोसलके अवशेष भी बहुत कालतक बच सकेगे या नही, यह एक प्रश्न है। दुर्भाग्यसे इतिहास और कलाके प्रति अभिरुचि रखनेवाले कुछेक व्यक्ति, जिसमे जैन भी सम्मिलित है, सीमापर है, जो इन पवित्र अवशेषोको दूसरे प्रान्तोंमें विक्रय किया करते है। यह घृणित कार्य्य है। वे अपनी सस्कृतिके साथ महा अन्याय कर रहे है। इस ओर शासनका मौन खेद व आश्चर्यजनक है।

स्थापत्य

यहाँपर पाये जानेवाले जैन-अवशेषोको दो भागोंमे, अध्ययनकी सुविधा-

के लिए विभक्त किया जा सकता है—स्थापत्य और मूर्तिकला। स्थापत्य अवशेषोंमें आरंगके मंदिरको छोड़कर और कृति मेरी स्मृतिमें नहीं है। हाँ, त्रिपुरी, बिलहरी और बड़गाँव आदि स्थानोंमें कुछ स्तम्भ ऐसे पाये गये हैं, जिनपर **स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, मीन-युगल** और **कुंभ कलश** आदि चिह्न अवश्य ही पाये जाते हैं। निस्सदेह इनका सबंध जैनधर्मसे है। ये स्तंभ जैनप्रासादके ही रहे होंगे। गवेषणा करनेपर इसप्रकारके अन्य प्रतीक भी मिल सकते हैं। विशाल जैनप्रासादोंके कुछ कलापूर्ण तोरण भी उपलब्ध हुए हैं। उदाहरण-स्वरूप दो के चित्र भी दिये जा रहे हैं। कुछ अवशेष मान[1] स्तम्भके भी प्राप्त हुए हैं। इन अवशेषोंसे फलित होता है कि महाकोसलमें जैनमन्दिर अवश्य ही रहे थे, पर विन्ध्यप्रान्तके समान यहाँ भी अजैनो द्वारा अधिकृत कर लिये गये या विनष्ट कर दिये गये। उपर्युक्त समस्त प्रतीक स्थापत्य कलासे ही सबद्ध हैं। जैन स्थापत्यपर विपुल सामग्रीके अभावमें अधिक क्या लिखा जा सकता है।

मूर्तिकला

महाकोसलमें जितनी भी प्राचीन जैन प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, वे सभी प्रस्तरोत्कीर्णित हैं। कलाकारको अपने भावोंको मूर्तरूप देनेके लिए पत्थरमें काफी गुंजाइश रहती है। धातुकी मूर्ति[2], आजतक केवल एक ही ऐसी उपलब्ध हुई है, जो कलचुरी पूर्व विकसित मूर्तिकलाकी देन है। १९४५ पन्द्रह दिसबरको मुझे श्रीपुरके एक महन्तने भेट स्वरूप दी थी। इसमें ग्रहोंका अकन स्पष्ट था। पाषाणपर खुदी हुई जिनप्रतिमाएँ दो प्रकारकी मिली हैं—एक सपरिकर पद्मासन एव अपरिकर या सपरिकर खड्गासन। सपरिकर पद्मासनस्थ जिनप्रतिमाओंमे सर्वश्रेष्ठ मूर्ति भगवान् ऋषभदेवकी

---

[1] **दिगम्बर जैनमन्दिरोंके सम्मुख मानस्तम्भ स्थापित करनेकी प्रथा मध्यकालके कुछ पूर्वकी प्रतीत होती है,**

[2] **चित्र देखिए विशाल भारत १९४६ सितम्बर, पृ० १४९,**

है जो[1] **हनुमानताल-स्थित** जैनमन्दिरमें सुरक्षित है। शिल्पकी दृष्टिसे इसका परिकर इतना सुन्दर एवं भावपूर्ण बन पड़ा है कि इसकी कोटिका एक भी दूसरा परिकर महाकोसलमें दृष्टिगोचर नहीं हुआ। कलाकारकी सूक्ष्म भावना, उदात्त विचार-गांभीर्य एवं बारीक छैनीका आभास उसके एक-एक अगमें परिलक्षित होता है। यह परिकर अन्य मूर्तियोके उपकरणसे कुछ भिन्न जान पड़ता है। जैनप्रतिमाओंके विभिन्न परिकर एव उपकरणोका सूक्ष्म अध्ययन करनेसे ज्ञात होता है कि उनके निर्माता शिल्पियोंने अजैन तत्त्वोंका भी प्रवेश करा दिया है। यानी अष्टप्रातिहार्य, यक्ष-यक्षिणी एव उपासक दम्पति तथा ग्रहोंको छोडकर अन्य भाव अजैन मूर्तिकलामे विकसित परिकरोके समान मिलते हैं। इसे प्रान्तीय प्रभाव भी कहना चाहिए।

परिकरहीन पद्मासनस्थ प्रतिमाएँ भी प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध हुई हैं जिनमेंसे कुछेक तो निस्सदेह कला एव अगोपागोकी क्रमिक रचनाका उत्तम प्रतीक है। एक प्रतिमा ऐसी भी प्राप्त हुई है, जिसका परिकर केवल नवग्रहोंसे ही बना है। चित्र प्रबन्धमे दिया जा रहा है।

खड्गासनकी परिकरयुक्त प्रतिमाओंमे कलाकी दृष्टिसे सर्वोत्कृष्ट मूर्त्ति जो मुझे जँची उसका चित्र एव विवरण प्रस्तुत निबन्धमे दिया जा रहा है। **आरंगके** वर्णित मदिरमे वैविध्यकी दृष्टिसे एक परिकरयुक्त त्रिमूर्त्ति विराजमान है। उसे देखनेसे ऐसा लगता है कि कलाकारके हाथ अवश्य सुदृढ रहे होगे, पर मानस दुर्बल था। भोडी रेखाएँ टेढी-मेढी आकृतियोंकी वहाँ भरमार है। किसी शैलीसे आशिक मिलता-जुलता एक त्रिमूर्त्तिपट्ट मुझे बिलहरीसे प्राप्त हुआ है। बडे परितापके साथ लिखना पड रहा है कि इसे एक ब्राह्मणने अपने गृहके आगे सीढीमे लगा रखा था। परिकरविहीन खड्गासन मूर्त्तियाँ स्वतन्त्र एवं मन्दिरके स्तम्भोमें पाई जाती है।

---

[1] **यह मूर्ति त्रिपुरीसे ही लायी गयी है। कलाकी दृष्टिसे यह कलचुरि कलाका अभिमान है,**

प्रासंगिक रूपसे एक बातका उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है कि महाकोसलके कलाकार बहुसंख्यक मूर्तियोंके परिकरका निर्माण इस प्रकार करते थे कि उसमें सपूर्ण मन्दिरकी अभिव्यक्ति हो सके। शिखर, आमलक और कलशकी रेखाएँ स्पष्ट खोदी जाती थी। जैनमूर्त्तिकला भी इस व्यापक प्रभावसे अछूती न रह सकी। यही कारण है कि मन्दिरके आगे लगाये जानेवाले तोरणान्तर्गत मूर्त्तियोंमें भी उपर्युक्त भावोंका व्यक्तिकरण बड़ी सफलताके साथ हुआ है। यह विशुद्ध महाकोसलीय रूप जान पड़ता है। सिंहासन शब्द सर्वत्र प्रसिद्ध है, परन्तु महाकोसलमें वह इतना व्यापक मूर्त्तरूप धारण कर चुका है कि प्रत्येक मूर्त्तिके बैठक स्थानके नीचे सिंहकी आकृति अवश्यमेव मिलेगी ही।

यों तो यक्षिणियोंकी प्रतिमाएँ परिकरमें सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होती है, परन्तु महाकोसल प्रान्तमे न केवल स्वतन्त्र विविध भावोंको लिये हुए यक्षिणियोकी मूर्त्तियाँ निर्मित ही होती थी, अपितु इनके स्वतन्त्र मंदिर भी बना करते थे। लौकिक आवश्यकताओंकी पूर्त्तिके लिए जैन-अजैन जनता मनौती भी किया करती थी। ऐसा एक मंदिर **कटनी** तहसील स्थित **बिलहरी** ग्रामके विशाल जलाशय पर बना हुआ है। मदिर अभिनव जान पड़ता है, परन्तु गर्भगृहस्थित चक्रेश्वरीकी मूर्त्ति १२ वी शतीके बादकी नही है। मस्तकपर भगवान् ऋषभदेवकी प्रतिमा विराजमान है। प्रथम तीर्थंकरकी अधिष्ठात्री देवीका यह मदिर आज अजैनोकी खैरमाई या खैरदैय्या बनी हुई है। इसीप्रकार **अंबिका** और **पद्मावती**की प्रतिमाएँ भी मिलती है। इनके मस्तकपर क्रमशः नेमिनाथ और पार्श्वनाथके प्रतीक रहते है।

खण्डित मस्तक

उपर्युक्त पक्तियोमे अखडित या कम खडित मूर्त्तियोंपर विचार किया गया है। मुझे अपने अन्वेषणमें केवल त्रिपुरीसे ही दो दर्जनसे अधिक

जैनप्रतिमाओंके मस्तक प्राप्त हुए हैं। सभव है धड़ोंको लोगोंने शिला बनानेके काममे ले लिया हो[1]। लडैया जातिका यही व्यवसाय है। इनके पूर्वज उत्कृष्ट शिल्पकलाके निर्मापक थे। उन्हीके वशज उन्हीकी कला-कृतियोके ध्वसक बने हुए है। समयकी गति बडी विचित्र होती है।

जिन मस्तकोंकी चर्चा की है, वे खड्गासन एव पद्मासन दोनो प्रतिमाओके है। कुछ लोग आवश्यक ज्ञानकी अपूर्णताके कारण, या मस्तकके घुघराले बालोके कारण तुरन्त राय दे बैठते है कि ये मस्तक बौद्ध प्रतिमाओके है। किन्तु मै सकारण ऐसा नही मानता। कारण स्पष्ट है कि उत्तर महाकोसल-मे बौद्धकी अपेक्षा जैन-मूर्तियाँ ही अधिक प्राप्त हुई है। दक्षिण महाकोसलमे अवश्य ही बौद्ध-प्रतिमाओकी बहुलता है। दूसरा कारण यह भी है कि कुछ धड भी ऐसे प्राप्त हुए है, जिनपर सर ठीकसे बैठ गये है। इन दो कारणोके अतिरिक्त तीसरा यह भी कारण है कि बौद्ध-प्रतिमाएँ अक्सर जीवनकी विशिष्ट घटनाओसे परिपूर्ण रहती है। प्रभावलीका अंकन भी निश्चय करके रहता है, जब कि कुछेक जैन प्रतिमाएँ प्रभावली-विहीन पाई गई है। मस्तक-का पिछला भाग साक्षी-स्वरूप विद्यमान है। परिकर विहीन मूर्त्तिके मस्तक अलगसे ही पहचाने जाते है, उनका पिछला भाग चपटा रहता है। सपरि-करका अव्यवस्थित।

महाकोसलके जैन-पुरातत्त्वका सामान्य परिचय ऊपरकी पंक्तियोमे मिल जाता है। मैने ऊपर सूचित किया है कि अभीतक इस प्रान्तमे समु-चित रूपसे अनुशीलन हुआ ही नही है। अभी तो सैकडो खडहर ऐसे-ऐसे पडे है, जिनमे सुन्दर-से-सुन्दर कलापूर्ण जैनपुरातत्त्वकी प्रचुर सामग्री बिखरी पडी है, दुर्भाग्यसे न केन्द्रीय पुरातत्त्व विभागको इसकी चिन्ता है, न प्रान्तीय

---

[1] विन्ध्यप्रदेशमें जिन-मूर्तियोंके धड़ ही अधिक संख्यामें मिलते हैं, कारण कि मस्तककी कुंडियाँ बना दी जाती हैं, और कहीं-कहीं शिवलिंगके स्थानमें, उल्टे स्थापित कर डाले जाते

सरकारको। समाज तो इस ओर उदासीन है ही। मेरा तो निश्चित मत है कि गवेषणा करवाई जाय जो जैनाश्रित शिल्पकलाके वैविध्यका ज्ञान अवश्य होगा। १०-१२ जगहसे मुझे सूचना भी मिली है कि मैं वहाँ जाकर जैनमूर्त्तियाँ उठा ले आऊँ ? पर पाद-विहार करनेवालेके लिए यह सभव कैसे हो सकता है ? अपने परमपूज्य गुरुदेव **उपाध्याय मुनि श्री सुखसागरजी** महाराज एव ज्येष्ठ गुरुभ्राता **मुनि श्री मंगलसागरजी** महाराजके साथ बिहार करते हुए मार्गमे जो-जो पुरातत्त्वकी सामग्री अनायास व अयाचित रूपसे मिल गई, उनका सग्रह अवश्य हो गया है। इस सग्रहमे जैनाश्रित कलाके उच्चतम प्रतीक ही अधिक है। मै प्रस्तुत निबन्धमे, उनमेसे, जो कलाकी दृष्टिसे महत्वपूर्ण है, वैविध्यको लिये हुए है और जो अभूतपूर्व कृतियाँ है, उन्हीका परिचय दे रहा हूँ।

खड्गासन-जिन-मूर्ति

प्रतिमा ५२½" ऊँची है। सपरिकर इसकी चौडाई १५½" है। इस प्रतिमामे प्रधान मूर्ति एकदम अप्रधान है, क्योकि शिल्प-स्थापत्यकी दृष्टिसे उसमे शरीर रचनाकी सामान्यताके अतिरिक्त और कोई कलात्मक तत्त्व ध्यान आकृष्ट नही करता और न हमारी विवेचन बुद्धिको ही उद्‌बुद्ध करता है। अत हम मुख्य मूर्त्तिकी अपेक्षा परिकरकी ओर ही विशेष ध्यान देगे। यह परिकर निस्सदेह सुन्दर है और मूर्त्तिकलाकी दृष्टिसे क्रान्तिकारी परिवर्तनोका द्योतक है। साधारणत परिकरमे अष्टप्रतिहारियो या तीर्थ-करोके जीवनकी विशिष्ट घटनाएँ या जिन मूर्तियाँ ही खोदी जाती है, परन्तु यहाँ इनके सिवा भी अन्य सुन्दर और व्यापक कलात्मक उपकरणो और शैलियोको अपना लिया गया है।

मूर्तिके चरणोके दोनो ओर उभय पार्श्वदोके अतिरिक्त मूर्ति-निर्माता दम्पत्ति अवस्थित है। चारोके मुख बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गये है। यद्यपि इनकी शरीराकृति सुघडता एव तदुपरि वस्त्राभूषणोका खुदाव काफ़ी

बारीकीसे किया गया है। आभूषण सापेक्षतः छोटे होनेके कारण कलाकारकी कुशल छैनीका परिचय दे रहे हैं, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। दोनों ग्रासोंके ऊपर चौकी है और चौकीपर चद्दरका छोर खुदा हुआ है जिसपर जिन खडे हुए हैं। व्यालके बाएँ-दाएँ यक्ष-यक्षिणी बहुत स्पष्ट एव सुन्दर भावमुद्रामें उत्कीर्णित हैं। चतुर्मुखी यक्षके दाहिने हाथमे दण्डयुक्त कमल एव आशीर्वादमुद्रा तथा बाएँ हाथमे बीजपूरक और परशुके समान एक शस्त्र है। गलेमे हार और कटि प्रदेशमे करधनी ही मुख्य आभूषण है। जटाजूटकी ओर ध्यान देनेसे शैव प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है और यह स्वाभाविक भी है। कलचुरि और चन्देल वशके राजा परम शैव थे और बुन्देलखण्ड तथा महाकोसलमें शैव सस्कृति काफ़ी उन्नत रूपमे थी। अन्य पुरातन कलावशेषोके निरीक्षणसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

मूर्तिके बाये ओर सबसे नीचे यक्षिणी, यक्षके समान ही आभूषणोंको धारण किये बैठी है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ यक्षके बाएँ हाथमे बीजपूरक है, वहाँ इसके बाएँ हाथमे कलश अवस्थित है। केश राशि भी शैव प्रभावसे युक्त है। वस्त्रोकी रचना सुन्दर है। प्रस्तुत प्रतिमा पचतीर्थीकी है क्योकि ऊपर-नीचे चारो ओर चार खड्गासनस्थ उत्कीर्णित है—पार्श्वदोकी उभय ओर एव दो मूर्तिके उपरभागके छत्रके निकट।

यक्षिणीके ऊपर एक खडी जिन मूर्तिके ऊपर एक रेखा सीधी गई है जिसमें निम्नलिखित विभिन्न अलकरणोका खुदाव कला एव विविधताकी दृष्टिसे आकर्षक एव अपेक्षाकृत कुछ नूतनत्वको लिये हुए है। गुप्तकालीन स्तम्भोमे जिस प्रकारकी बोझसे दबी हुई आकृतियाँ पाई जाती है, ठीक उन्ही आकृतियोंका अनुकरण इस प्रतिमामे किया जान पड़ता है। दोनों हाथ ऊपरकी ओर उठे हुए है, जो स्पष्टत. इस प्रकारके है मानो कि ऊपरका वज़न संभालनेमें व्यस्त है। भुजाओके ऊपरसे नागावलिकी रेखा स्पष्ट है इसीलिए सीना भी बाहर तन गया है जो इस बातका सूचक है कि व्यक्तिपर काफ़ी बोझ पड रहा है। ये कीचक कहे जाते हैं।

इसके ऊपर अगले पाँवोके आसरे एक हाथीकी प्रतिमा खुदी हुई है। तदुपरि एक सुकुमार बालक बना हुआ है। ध्यान देनेकी बात यह है कि ओठोकी रचना कलाकारोंने कुछ ऐसे कौशलसे की है कि बालक, पुरुष और स्त्रीकी विभिन्नता उनसे सहज ही स्पष्ट हो जाती है। इस बालककी ओष्ठ रचनामे भी वही बात है। बालकके पीछे कुछ बेल-बूटे उत्कीर्णित हैं। बालकके ऊपर व्यालकी मूर्ति बनी है जो बहुत बारीकीसे गढ़ी जान पडती है क्योकि उसके दाँततक गिने जा सकते है। प्रधान प्रतिमाके दूसरी ओर भी यही खुदाव है।

प्रभावली सामान्य है। दोनो ओर मंगल मुख खुदे हुए है। उनके हाथोमें माला है जो पहननेकी तैयारीके प्रतीक स्वरूप हैं। मस्तकके ऊपर तीन छत्र एव तदुपरि मृदग बजाता हुआ एक यक्ष है। दोनो ओर हाथी खडे है। सबसे ऊपर दो पत्तियाँ निकली हुई है जो अशोक वृक्षकी होनी चाहिए। इस प्रकार अष्टप्रतिहारी-युक्त प्रस्तुत प्रतिमा १२ वी शतीकी होनी चाहिए। पत्थर भूरेपनको लिये हुए है।

यह मूर्ति मुझे बिलहरीकी एक सर्वथा खडित व अरक्षित वापिकासे प्राप्त हुई थी। वापिकाके भीतरके चारो आलोमें चार जिन मूर्त्तियाँ थी इनमेसे एक तो शायद स्व० रा० ब० डॉ० **हीरालालजी** कटनीवाले ले आये थे, उनके निवासस्थानके, बगीचेमे पड़ी हुई है।

तोरणद्वार

स्पष्टत यह किसी जैनमन्दिरका तोरणद्वार है। इसकी लबाई ऊँचाई ३०"×२४" है। तोरण ११" गहरा है। यह तोरण एक पूर्ण मन्दिरकी आकृति ही है। जो अवशेष प्राप्त है, वह पूर्ण आकृतिका तीन चौथाई अंश है, जिसमे केन्द्र भाग साबित आ गया है। इसके केन्द्र भागमे पद्मासनस्थ जिनमूर्त्ति उत्कीर्णित है। जिनके उभय ओर दो पार्श्वद चँवर एवं पुष्प लिये खड़े है, तदुपरि पुष्प मालाये लिये दो नागकन्याएँ गगनविहार कर रही हैं।

कलाकारने इन नागकन्याओंके ऊपर दो गजोंका निर्माण किया है। दोनों गजोंकी शुण्डाएँ आगेकी ओर उठ-उठकर आपसमे अपने आसरे छत्र सँभाले हुए है। उस छत्रकी स्थिति जिनमूर्त्तिके शिरोभागके बिलकुल ऊपर है। प्रधान मूर्तिपर एक चौकी विराजमान है। चौकीके ऊपर, जैसा अन्यत्र सभी जगह देख पडेगा, एक चादरका मुख्य अश जमा हुआ है. उस प्रकारकी पद्धतिका विकास महाकोसल एवं सन्निकटवर्त्ती प्रतिमाओंकी अपनी विशेषता है। चौकीके निम्न भागमे उभय ओर मगल मुख बने है। सभी जैन मूर्तियोमे ये मगलमुख बने रहते है। प्रधान मूर्त्तिके दाएँ-बाएँ अधिष्ठाता-अधिष्ठात्री अकित है। अकन इतना अस्पष्ट और कला-विहीन है कि निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता कि ये किस तीर्थंकरसे सबधित है। कलाकारने इन दोनोके वाहन और आयुध स्पष्ट नही किये है। जिनसे कि उनका निश्चय करनेमे सहायता मिले।

प्रतिमाके मस्तकपर भी एक Arch महराबमे जिनमूर्ति उत्कीर्णित है। इसके पीछे सपूर्ण शिखरका स्मरण दिलानेवाली आकृतियाँ उत्कीर्णित है। आमलक, अण्डा और कलशतक स्पष्ट है। कहनेका तात्पर्य कि तोरणकी मध्यभाग वाली मूर्ति ऊपरकी एक आकृतिको मिलाकर एक मन्दिरके रूपमें दिखलाई पडती है। इस शिखरके ऊपर भी कुछ आकृति अवश्य जान पडती है, परन्तु खडित होनेसे निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि किसका प्रतीक होगा ? अनुमानत वह ध्वजका चिह्न होना चाहिए। तोरणमे और भी त्रिगड़ा एव एक अष्टप्रतिहारी, मूर्तियाँ है। कलाकी दृष्टिसे उनका विशेष महत्व नही, अत स्वतन्त्र उल्लेख अनावश्यक है।

इस तोरणका महत्व केवल धार्मिक दृष्टिमात्रसे नही। इसमे जो विभिन्न अलकरण, डिजाइन तथा सुरुचिपूर्ण बेल-बूटे कढे हुए है; वे अत्यत सुन्दर और कलापूर्ण है। इसमे रेखागणितकी किन्ही रेखाओंकी छटा भी खिच आई है। तोरणके मध्य भागमें एक बालक मकरारूढ है। मकर और आरोहीकी मुखाकृति बडी सुघड है। अन्य अलकरणोंमे मगध शैलीके

अनुरूप दो दीपक गढे गये है। मगध और महाकोसलके पारस्परिक कलात्मक आदान-प्रदानकी परम्परा स्पष्टतः इन दीपकोमें झलकती है।

प्रश्न है कि प्रस्तुत तोरणका निर्माण-काल क्या हो सकता है? तद्विषयक किसी स्पष्ट सूचना, अथवा लेखके अभावमें यह निश्चित संदिग्ध ही रहेगा। हाँ, मूर्तिका प्रस्तर एव मूर्तियोके उभय पार्श्वदोंमे जो स्तम्भ बने है, वे कुछ सूचनाएँ देते है। बेलोके डिज़ाइन भी कुछ संकेत करते है। ऐसे स्तम्भ बुन्देलखंडके अन्य कतिपय मन्दिरोमे पाये गये है। इन मन्दिरोकी और उनके स्तम्भकी रचना १२ वी अथवा १३ वी शतीकी मानी जाती है। अत: बहुत सभव है कि यह तोरण भी उसी युगकी रचना हो। इस प्रकारका प्रस्तर भी १२ वी और १३ वी शतीमे ही व्यवहृत होने लगा था। यद्यपि बिलहरिके तोरणको देखकर कल्पना तो इसी पत्थरकी हो सकती है, परन्तु उसमे और इसमे सबसे बड़ा बाह्य वैषम्य यही पडता है, कि बिलहरीवाला पत्थर घिसनेमे कोमल और क्षरणशील है जब कि यह कठोर और Brittle कडकीला। तोरणका यह अंश मुझे त्रिपुरीकी एक वृद्धाने भेट स्वरूप दिया था, इनके पास और भी कलाकृतियाँ सुरक्षित है; खासकर नवग्रहोकी मूर्ति तो अतीव सुन्दर कृति है।

जैन-तोरण

सापेक्षत. यह जैन-तोरण-द्वार अधिक कलात्मक एव सपूर्ण है। पूरा तोरण ५५″ × ११″ विस्तृत है। सब मिलाकर ९ मूर्तियाँ है जिनमे ३ जैन तीर्थंकरोकी है। मध्यम भागमे पद्मासनस्थ जिन एव एक गवाक्षके अतरपर दोनो ओर खड्गासनस्थ दो दूसरे तीर्थकर है। इसके अतिरिक्त ५ शासन देवी और एक यक्ष भी उत्कीर्णित है। मध्य-स्थित प्रभावलीयुक्त जिन-मूर्तिके दोनो ओर भक्त आराधनामे अनुरक्त बताये गये है। दायी ओरके समीपतम भागमे चतुर्भुजी देवी है। इनके दो हाथोमें सदण्ड कमल है जो क्रमश दाएँ बाएँ है। तीसरा हाथ जो दायाँ है, आशीर्वाद मुद्रामे है। चौथे हाथमे

बीजपूरक धारण किये हुए है। दायी ओरकी दूरतम शासन देवी भी चतुर्भुजी हैं और समान रूपसे दूसरी जैसी ही है। जिस यक्षका उल्लेख ऊपर किया गया है, वह कुबेर ही जान पड़ते है, जो तोरणकी दायी ओरसे प्रथम ही उत्कीर्णित है। इनके बाएँ हाथमे सर्प एवं दाएँ हाथमे मोदक रखा हुआ है। पिछली ओर कलाकारने पत्तियो सहित छोटी-मोटी-तरु-शाखाओका प्रदर्शन किया है। यो तो इस प्रकारकी आकृतियाँ सभी मूर्तियोके पृष्ठ भागमे अकित हैं, परन्तु इनका अकन अधिक स्पष्ट और स्वाभाविकताको लिये हुए है।

मध्य भागके बायीं ओर चलनेपर पहली शासनदेवी फिर चतुर्भुजी है। दाहिने हाथमें शख और बाये हाथमें चक्र उत्कीर्णित है। अतिरिक्त दो हाथोंमे कुछ फल-जैसी आकृति अकित है, परन्तु खंडित होनेके कारण निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वे क्या लिये हुए है। दूसरी शासन-देवी द्विभुजी ही है। यह स्पष्टत. अंबिका है, क्योकि बाएँ हाथमे शिशु एवं दाहिने हाथमें आम्रलुम्ब धारण किये हुए है। यद्यपि अबिकाके दो बच्चे होने चाहिए एव सिंह-वाहन भी अपेक्षित था, परन्तु महाकोसल और तन्नि-कटवर्ती प्रदेशमे अबिकाकी दर्जनो ऐसी मूर्तियाँ मिली है, जिनमे दोनोका ही स्पष्ट अभाव है। आम्रलुम्ब मात्रसे निस्सदेह यह अबिका ही सिद्ध होती है। अतिम शासन देवीके दाएँ हाथमे सदण्ड कमल है, एव दूसरा हाथ जमीनको छुए हुए है।

इस प्रकार इतनी मूर्तियोंवाले तोरण भारतमे कम ही उपलब्ध होते हैं। इस तोरणद्वारके उपरिभाग वाले हिस्सोमे खुदी हुई देवियोकी विभिन्न मूर्तियोंसे हम एक बातकी कल्पना कर सकते है कि उन दिनोकी जैन जनता देव-देवियोमे अधिक विश्वास करती थी। यदि ऐसा न हुआ तो इसमे जिन-प्रतिमाओका प्राधान्य रहता।

इस तोरणका महत्व जैन-पुरातत्त्वकी दृष्टिसे तो है ही, साथ ही साथ शिल्पकलाकी दृष्टिसे भी इसका विशेष मूल्य है। प्रत्येक मूर्तियोके उपरि-

भागमें जो आकृतियाँ उत्कीर्णित है वे किसी मदिरका मधुर स्मरण दिलाती है। उनके अलकरण, भिन्न-भिन्न बेल-बूटे भी सामान्य होते हुए भी इसके सौंदर्यका संवर्धन करते है। मगधकी प्रतिमाओका एवं शिल्पकलामें व्यवहृत आकृतियोका प्रभाव इसपर स्पष्ट है। प्रत्येक मूर्तिका उत्खनन इस प्रकार हुआ है, मानो स्वतन्त्र मन्दिर ही हो, कारण कि प्रत्येक मूर्तिके आगेके भागमें दोनो ओर सुन्दर स्तम्भोका खुदाव दृष्टि आकर्षित कर लेता है। १२ वी शतीकी यह रचना होनी चाहिए। यद्यपि ऊपरका कुछ भाग खडित हो गया है, परन्तु सौभाग्य इस बातका है कि मूर्ति प्रतिमाओंके भाग बिलकुल ही अखण्डित है।

जानकर आश्चर्य होगा कि यह अश मार्गमे ठोकरे खाता था और घरवाले इसपर गोबर थापते रहते थे। यद्यपि कटनीके पुरातन वस्तु-विक्रेता, इसे भी, अन्य अवशेषोकी तरह हडपनेकी चेष्टामे थे, पर वे असफल रहे। अब मेरे सग्रहमे है।

ऋषभदेव :— संवत् ९५१

प्रस्तुत प्रतिमा साधारण फर्शीका भूरा पत्थर है, वैसे इस प्रतिमाका कोई खास विशेष-सास्कृतिक अथवा कलात्मक विकास नही जान पड़ता, किन्तु इसमे जो सवत् ९५१ के अक एव लिपिमे जो अन्य शब्द है, वे काफी भ्रामक है। सवत् ९५१ ज्येष्ठ सुदी तीज' इन शब्दोको देखकर पुरातत्त्वका सामान्य विद्यार्थी एकदम प्रतिमाको दसवी शतीकी रचना कह देगा। तिथि इतनी स्पष्ट है, परन्तु अन्य कसौटियोसे कसे जानेपर यह मत असत्य सिद्ध होगा। तिथि भले ही सापेक्षित प्राचीनताकी परिचायक हो, पर जिस लिपिमें यह तिथि अकित है, वह तो स्पष्टत. बादकी लिपि है। ऐसी लिपिका बारहवी शतीमे व्यवहृत होना इतिहास और लिपि शास्त्रकी दृष्टिसे सिद्ध है। अत. यह लिपि १२ वी शतीकी ही है तो फिर क्या कारण है कि १२ वी शतीकी प्रतिमामें सवत् ९५१ खोदा जावे। इसका उत्तर भी उतना स्पष्ट

है। यह सवत् विक्रम सवत् नहीं बल्कि कलचुरि सवत् है। जिसका प्रयोग कलचुरि कालीन महाकोसलमें होना अति साधारण और स्वाभाविक है। कलचुरि सवत् ईस्वी सन् २४८ में प्रारभ हुआ जो ठीक उपरोक्त लिपिका ही समर्थन करती है।

एक बात और; प्रस्तुत प्रतिमाको ऋषभदेवकी प्रतिमा माननेके दो कारण है। आसनके अधोभागमे वृषभ अर्थात् बैलका चिह्न स्पष्ट बना हुआ है। दाएँ-बाएँ गोमुख यक्ष तथा चक्रेश्वरी देवीकी प्रतिमाएँ भी खुदी हे। ये प्रतिमाएँ ऋषभदेवके अधिष्ठाता एव अधिष्ठात्री है। यह प्रतिमा त्रिपुरीसे ही प्राप्त की गई है।

अर्ध सिंहासन

इस सिहासनका विस्तार १६''×१२'' है। बाएँ हाथपर ९''×८'' विस्तारवाला एक बडा ही सुन्दर आसनपर स्थित रूमालका छोर बना हुआ है। इस रूमालके डिजाइनकी सुन्दरता देखते ही वनती है। उसका वर्णन कर सकना एकदम असभव है। वर्तमान युगमे कपड़ोपर विशेषत. साडीके किनारोपर जैसे उलझे हुए मनोहरतम Symmetrical डिजाइन बने रहते हे वे भी इस डिजाइनके सामने मात खाते है। रूमालकी कम-से-कम चौडाई जो निम्न भागमे है वह ५$\frac{3}{8}$'' है। निस्सदेह इस रूमालके ऊपर आसन रहा होगा और उस आसनके ऊपर किसी देवताकी मूर्ति स्थापित रही होगी।

रूमालके दायी ओर सिंहकी मूर्ति है, जिसके अगले पाँव और पजे टूट चुके है। सिह जान पड़ता है आसनके नीचे आसीन था। सिंहकी अयाल कलाकी दृष्टिसे खूब ही सुन्दर है, किन्तु जो स्वाभाविक अस्तव्यस्तता उसमे होनी चाहिए, वह भी नही है बल्कि कृत्रिमता बडी सुघड है। वही हाल सिंहकी मूछोका भी है। वे सुन्दर तो है ही पर उनकी तरह स्पष्टत कृत्रिम है। आँखो और मूछोके बीचकी पिछले बाएँ पजेके सामने एक सुन्दर फूलदार

$1\frac{1}{2}$'' ऊँचा टूटा-सा डिजाइनदार गुट्टा है, जो निश्चय ही किसी स्तम्भका अधोभाग है ।

वे सिहासन त्रिपुरीमें प्राप्त अन्य अवशेषोके डिजाइनके क्षेत्रमे बिल्कुल अनूठा और अद्वितीय है ।

इस स्थलपर डिजाइनके सबधमें एक उल्लेख करना प्रासगिक होगा। कलामे, इतिहासमे डिजाइनोका स्वर्णयुग मुगलकालमे कहा जाता है, परन्तु वे डिजाइन फूल-पत्ती इत्यादि प्राकृतिक आधारोतक ही सीमित रहे है । स्वय कल्पनाके आधारपर डिजाइन रचे नही पाये जाते । प्राकृत डिजाइन ऐसी ही कृत्रिम और कल्पनासे गढी हुई रचना है । इसका युग निश्चयपूर्वक मुगलो यहाँतक कि राजपूती वैभवके पूर्वका है। इस प्रकारके डिजाइन महाकोसलके अन्य अवशेषोमे भी पाये जाते है, विशेषत- बुद्धदेवकी मूर्तिमे । अत यह कल्पना बडी सहज है कि ऐसे डिजाइन महाकोसलकी निजी और मौलिक कलात्मक देन है, और भी बिलहरीके विस्तृत मधु-छत्रपर ९६''×९६'' भी इस प्रकारके डिजाइन अकित है, जिनका रचना काल तेरहवी शतीके बादका नही हो सकता। अत्यंत दु खपूर्वक सूचित करना पड रहा है कि इतनी सुन्दर कलापूर्ण व सर्वथा अखडित कृति आज गडरियोके शस्त्रास्त्र पनारनेके काममे आती है। म० प्र० शासनका ध्यान मैने आकृष्ट किया । पर उसे अवकाश कहाँ ? अर्धसिहासन भी मुझे तेवरके ही एक लढियेसे प्राप्त हुआ है ।

अम्बिका

प्रतिमा १४''×$8\frac{1}{2}$'' है । अर्धनिर्मिता और अबिकाकी आसनमुद्रा प्राय· समान ही है, किन्तु इसकी रचनामें कलाकारने अधिक सन्तुलन एवं परिपूर्णता प्रस्तुत की है । नागावली बडी स्पष्ट है । उरोजोकी रचना भी नैसर्गिक है। बाई गोदमे एक बच्चा है। यह हाथ खण्डित हो गया है। अर्धनिर्मिताकी अपेक्षा अबिकाके वस्त्रोकी शलें अधिक स्पष्ट है । चरणोके

पास पाँच भक्तोंकी समर्पण मुद्राएँ दिखाती है। स्त्री-पुरुष दोनों ही इनमें हैं। एक भक्तका सिर टूट गया है। परिकरके दोनो ओर व्याल (ग्रास मकर) खड़े हुए है। प्रतिमाके पीछे २, ३ लकीरें पडी हुई हैं। इनमें कुछ और भी खुदाई है। असभव नही कि कलाकार साँचीके तोरणसे प्रभावित हुआ हो क्योकि इन मूर्तियोमे भी—जो मध्य प्रदेशमे पाई गई है—इसी प्रकारकी रेखाएँ मिलती है। कही-कही साँचीके तोरणकी आकृति बहुत ही स्पष्ट रूपसे मिली है। इस प्रकारकी शैलीका समुचित विकास सिरपुरकी धातु-मूर्तियोमें पाया जाता है। मस्तकके पीछे पड़ी प्रभावली बहुत ही अस्पष्ट जान पडती है, तो भी सूक्ष्मतया देखनेपर कमलकी पखुड़ियोका आकार लिये है। ये पखुडियाँ गुप्तकालमे काफी ऊँचा स्थान पा चुकी थी, एव इस परम्पराका प्रभाव १३ वी शतीतककी मूर्तियोकी प्रभावलीमे मिलता है। प्रभावलीके उभय ओर पुष्पमाला लिये दो गधर्व गगनमे विचरण कर रहे है। गन्धर्वकी मुखमुद्रा सुन्दर है। दूसरे गन्धर्वकी आकृति टूट गई है।

प्रश्न होता है कि प्रस्तुत प्रतिमा किस देवीकी होनी चाहिए ? यद्यपि ऐसा स्पष्ट न तो लिखित प्रमाण है और न इस प्रकारकी अन्य प्रतिमा ही कही उपलब्ध है। बायी गोदमे एक बच्चेके कारण एव ६ भक्तोके निम्न भागमे जो प्रतिमाएँ अकित है—दाये भागमे एक मूर्ति खडित हो गई है—उनके कारण यदि इसे अबिकाकी मूर्त्ति मान लिया जावे तो अनुचित न होगा। बात यह है कि अन्य मुद्राओमे अम्बिकाकी जितनी भी मूर्तियाँ महाकोसल एव तत्सन्निकटवर्ती प्रदेशमे पाई गई है, उन सभीके निम्न भागमें ५ से अधिक भक्तोकी आकृतियाँ मिली है। अम्बिकाकी गोदमे यो तो दो बच्चे होने चाहिएँ, परन्तु कही-कही एक बच्चेवाली मूर्त्ति भी उपलब्ध हुई है।

अतः इसे मै निश्चित ही अबिकाकी मूर्त्ति मानता हूँ। इसका रचना-काल १२ वी एव १३ वी शतीके मध्यकालका होना चाहिए। इन्ही दिनों महाकोसलमें जैनसस्कृतिके अनुयायियोंका प्राबल्य था। अबिकाकी विभिन्न मूर्त्तियाँ भी इसी शताब्दीमें निर्मित हुई।

सयक्ष नेमिनाथ

१४″×१४″ प्रस्तुत शिलाखड पर उत्कीर्णित प्रतिमाका कटिप्रदेशसे निम्न भाग नही है। अवशिष्ट भागसे भी प्रतिमाका परिचय भली भांति मिल जाता है। दायी ओर पुरुष एव बाईं ओर स्त्री, मध्यमे एक वृक्षकी डालपर धर्मचक्रके समान गोलाकार आकृति अकित है। दम्पत्ति समुचित आभूषणोसे विभूषित है। मुग्ध मुद्रामे स्वाभाविक सौदर्यके साथ सजीवता परिलक्षित होती है। इस खडित भागके सुव्यवस्थित अगोपागसे मूर्तिकी सफल कल्पना हो आती है। मस्तकपर दो पखुडियाँ आम्र वृक्षकी दिखलाई पडती है। तदुपरि चौकीनुमा आसनपर जिनमूर्ति विराजमान है। दोनो ओर खड्गासनस्थ जिन प्रतिमाओके बाद उभय पार्श्वके छोरपर पद्मासनस्थ जिन मूर्तियाँ अकित है। सभी जिन-मूर्तियोके कानके निकटवर्ती दोनो ओर पत्तियाँ है। सभव है ये पत्तियाँ अशोक वृक्षकी हो, कारण कि अष्टप्रति-हार्यमे अशोकवृक्ष भी है।

इसप्रकारकी प्रतिमाएँ विन्ध्यप्रान्त एव महाकोसलके भूभागमे पर्याप्त सख्यामे उपलब्ध होती है। विद्वानोंमे इसपर मतभेद भी काफी पाया जाता है। विशेषकर जैन मूर्तिविधान शास्त्रसे अपरिचित अन्वेषकोने इसपर कई कल्पनाएँ कर डाली है। परन्तु मध्यप्रान्तके एक विद्वानकी कल्पना है कि अबिका और गोमेध यक्ष क्रमश. अशोककी पुत्री **संघमित्रा** एव पुत्र **महेन्द्र** है। आम्र वृक्षको बोधि वृक्ष मान लिया गया है, परन्तु यह कल्पना पूर्व कल्पनाओसे अधिक अयौक्तिक ही नही, हास्यास्पद भी है। भगवान् नेमिनाथकी मूर्तिको तो भूल ही गये। **त्रिपुरीके** इतिहासमे इसका चित्र प्रकाशित है। इस चित्रपरसे मुझे भी यह भ्रम हुआ था, पर जब मूर्तिका साक्षात्कार हुआ एवं एक ही शैलीकी दर्जनो प्रतिमाए विभिन्न सग्रहालयोमें देखी, तब मै इस निष्कर्षपर पहुँचा कि उपर्युक्त प्रतिमा यक्ष-यक्षिणी-युक्त भगवान् नेमिनाथकी है। जैन-मूर्त्तिविधान-शास्त्रोंसे भी इस बातका समर्थन

होता है। इस विषयपर हमने अन्यत्र विस्तारसे विचार किया है, अतः यहाँ पिष्टपेषण व्यर्थ है। स्मरण रहे कि इस प्रकारकी एक प्रतिमा मैंने कौशाम्बीमे भी लाल प्रस्तरपर खुदी हुई देखी थी जो शुगकालीन है।

नवग्रह-युक्त जिन-प्रतिमा

महाकोसलके जगलोमें भ्रमण करते हुए एक वृक्षके निम्नभागमें पडी हुई गढी-गढाई प्रस्तर-शिलापर हमारी दृष्टि स्थिर हो गई। सिन्दूरसे पोत भी दी गई थी। पत्थरकी यह शिला जनताकी 'खैरमाई' थी। इस शिलाखण्डको एकान्त देखकर, मैंने उल्टाया। दृष्टि पडते ही मन बडा प्रफुल्लित हुआ, इसलिए नहीं कि उसमे जैनमूर्ति उत्कीर्णित थी—इसलिए कि इसप्रकारका जैनशिल्पावशेष अद्यावधि न मेरे अवलोकनमे आया था, न कही अस्तित्वकी सूचना ही थी। अन अनायाम नवीनतम कृतिकी प्राप्तिसे आह्लाद होना स्वाभाविक था। इस शिलापर मुख्यत नवग्रहकी खडी मूर्तियाँ खुदी हुई थी। तन्मध्यभागमे अष्टप्रतिहार्य युक्त जिन प्रतिमा विराजमान थी। जैनमूर्तिविधानशास्त्रमे प्रतिमाके परिकरमे नवग्रहोकी रचनाका विधान पाया जाता है। कही पर नवग्रह सूचक नव-आकृतियाँ एव कही-कही मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होती है, परन्तु नवग्रहोकी प्रमुखताका द्योतक, परिकर अद्यावधि दृष्टिगोचर नही हुआ। **लखनऊ** एव **मथुरा** सग्रहालयके सग्रहाध्यक्षोको भी इस प्रकारकी मूर्तियोंके विषयमे लिखकर पूछा था। उनका प्रत्युत्तर यही आया कि ग्रह प्रतिमाओकी प्रमुखतामे खुदी हुई जैनमूर्तिका कोई भी अवशेष न हमारे अवलोकनमे आया, न हमारे यहाँ है ही।

प्रासगिक रूपसे यह कहना अनुचित न होगा कि अन्य प्रान्तोकी अपेक्षा महाकोसलमे सूर्यकी स्वतन्त्र एव नवग्रहको सामूहिक मूर्तियाँ प्रचुर परिमाणमे उपलब्ध होती है। उन सभीकी रचना शैली इस चित्रसे ही स्पष्ट हो जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि इस शिलामे जिन-मूर्ति है, जब अन्यत्र वह नही

मिलती। यहोंकी इस शैलीकी मूर्तियोंकी निर्माण परम्परा १३ वी शताब्दीके बाद लुप्त-सी हो गई थी, अर्थात् कलचुरिकालीन कलाकारोंने ही इस प्राचीन परम्पराको किसी सीमातक सभाल रखा था। यह मूर्ति मुझे[1] स्लिमनाबादके जगलसे प्राप्त हुई थी। एक वृक्षके नीचे यो ही अधगडी पडी थी, जनता द्वारा पूर्णत. उपेक्षित थी।

---

[1]स्लीमनाबाद—कर्नल स्लीमनके नामपर बसा हुआ, यह जबलपुरसे कटनी जानेवाली सड़कपर अवस्थित है। मध्यप्रदेशका कॉंग्रेसी शासनकी, जो सांस्कृतिक विकासकी ओर खोजकी बहुत बड़ी बातें करता है—पुरातत्त्व विषयक घनघोर उपेक्षावृत्तिका प्रतीक मैंने यहाँपर प्रत्यक्ष देखा। बड़ा ही दुःख हुआ। बात यह है कि P.W.D.के अधिकारमें यहाँपर दो क़ब्रें हैं, जिनमें जो क्रॉस लगे हैं उनपर लेख हैं, परन्तु तथाकथित विभागके कर्मचारी प्रतिवर्ष चूना पोतते हैं। भत्ता पकानेवाले प्रांतीय व केंद्रीय पुरातत्व विभागके एक भी अफ़सरने आजतक इसपर ध्यान नहीं दिया कि आखिरमें इस क़ब्रका इतिहास क्या है? स्लीमनाबादके एक व्यापारीको ज्ञात हुआ है कि मैं खोजके सिलसिलेमें भ्रमण कर रहा हूँ, तब उसने मेरा ध्यान इन क़ब्रोंकी ओर आकृष्ट किया। चूना साफ़ करवाकर देखनेसे ज्ञात हुआ कि इसपर कनाड़ी लिपिमें लेख उत्कीर्णित है। कनाड़ीका मुझे अभ्यास न होनेके कारण इस लेखकी सूचना अपने मित्र एवं गवर्नमेंट आफ इंडियाके चीफ एपिग्राफिट डॉ० बहादुरचन्दजी छावड़ाको दी। आपने अपने आफिस सुपरिण्टेंडेंट श्री एन० लक्ष्मीनारायणरावको भेजकर इसकी प्रतिलिपि करवाई। दो सैनिकोंको यहाँपर दफनाया गया था, उन्हींके स्मारक स्वरूप ये क़ब्रें हैं। ये दोनों दक्षिण भारतीय थे। मध्यप्रदेशमें पाये जानेवाले लेखोंमें कनाड़ीका यह प्रथम लेख है। ऐसे एक दर्जनसे अधिक लेख सड़कों, पुलों और सीढ़ियोंमें लगे हुए हैं, पर हमारी सरकारको एवं भत्ता पानेवाले अफ़सरोंको अवकाश कहाँ कि वे उनपर निगाह डालें।

जिन-मूर्ति

४५″×११″ की भूरे रंगकी प्रस्तर शिलापर खड़ी जिनमूर्ति उत्कीर्णित है। सामान्यत शरीर रचना अच्छी ही बनी है। अजानुबाहुमे हाथोका मुडाव स्वाभाविक है। अँगुलियोका खुदाव तो बडा ही स्पष्ट और भव्य है। मुखमडल भी अतीव सुन्दर रहा होगा, परन्तु नासिका और चक्षु-युगल बुरी तरह क्षत-विक्षत हो गये है। भौहे अच्छी बनी है। मस्तकपर घुँघराले बाल बने हैं। इस ओर पाई जानेवाली जैन-बौद्ध-मूर्तियोमें एव एक मुखी शिवलिगमे मस्तकपर उपरिलक्षित केश-रचनाका रिवाज था। इसलिए यदि केवल सर ही किसी मूर्तिका मिल जाय तो अचानक निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वह किसका है।

मूर्तिके दोनो हाथोके पास दो पार्श्वद उत्कीर्णित है, परन्तु उन दोनोके कटि प्रदेशके ऊपरके भाग नही है। इन पार्श्वदोके ठीक अग्रभागमे दाएँ-बाएँ क्रमश यक्ष-यक्षिणी है, इनका भी मुखका भाग एव हाथका कुछ हिस्सा खडित है। आसनका भाग अन्य मूर्तियोसे मिलता-जुलता है। केवल निम्न मध्य भागमे दायी ओर मुख किये उपासक अधिष्ठित है एव आसनके बीचमे सिहका चिह्न है। ऊपर प्रभावलीके ऊपर ३ छत्र है, जिनके उभय भागमे दो हाथी शुण्डा निम्न किये हुए है। छत्रपर देव मृदग बजा रहा है।

प्राचीनकालकी जिनमूर्तियोमे चिह्न प्राय. नही मिलते। गुप्तोत्तरकालीन प्रतिमाओमे यक्ष-यक्षिणियोकी मूर्तियाँ खुदी हुई मिलती है। इनसे कौन मूर्ति किस तीर्थंकरकी है ज्ञात हो जाता है, परन्तु इसमे एक बातकी दिक्कत पड जाती है कि प्राचीन मूर्तियोमे यक्ष-यक्षिणियोके स्वरूप जैन शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थोसे मेल नही खाते अर्थात् वास्तुशास्त्रमे वर्णित इनके स्वरूपसे मूर्तियाँ बिल्कुल भिन्न मिलती है। उदाहरणार्थ—इसी मूर्तिको लें। इसमे सिहका चिह्न है। यदि चिह्न न होता और यक्ष-यक्षिणीसे पहचाननेकी चेष्टा करते तो असफल रहते। यह मूर्ति दिगबर सप्रदायसे संबंधित है, तदनुसार यह

मातंग और यक्षिणी सिद्धाईका होनी चाहिए। यक्ष हाथीपर आरूढ मस्तकपर धर्मचक्रको धारण करनेवाला बनाया जाता है। यक्षिणी दाएँ हाथमे वरदान एव बाएँ हाथमे पुस्तकको धारण करनेवाली, सिंहपर बैठनेवाली वर्णित है। प्रस्तुत मूर्तिमे खुदी हुई मूर्तियोमे उपरिवर्णित रूप बिल्कुल मेल नही खाता। यक्ष अपने दोनो पैर मिलाये दोनों हाथ दोनो घुटनोपर थामे बैठा है। तोद काफी फूली हुई है। यक्षिणीके विषयमें स्पष्टतह असभव इसलिए है कि उसके अगोपाग खडित हैं। हमारा तात्पर्य यही है कि शिल्पशास्त्रोमे वर्णित स्वरूप कलावशेषोमे भिन्न-भिन्न रूपमे दृष्टिगोचर होता है।

प्रस्तुत तीर्थंकरकी प्रतिमाका आसपासका भाग ऐसा लगता है मानों वह अन्य प्रतिमाओसे सबधित होगी, कारण कि जुडाव सूचक पहियोका उतार-चढाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। हमारी इस कल्पनाके पीछे एक और तर्क है, वह यह कि इसी साइजकी इसी ढग एव प्रस्तरकी एक प्रतिमा अजलिबद्धमे रायबहादुर **हीरालालजी**के सग्रह, कटनीमे देखी थी। वे उस प्रतिमाको बिलहरीके उसी स्थानसे लाये थे जहाँसे मैंने इसे प्राप्त किया।

उपसंहार

उपर्युक्त पक्तियोसे सिद्ध है कि महाकोसलमे जैन-पुरातत्त्वकी कितनी व्यापकता रही है। मैने चुने हुए अवशेषोपर ही इस निबन्धमे विचार किया है। साहजिक परिश्रमसे जब इतनी सामग्री मिल सकी है, तब यदि अरक्षित-उपेक्षित स्थानोकी स्वतन्त्र रूपसे खोज की जाये तो निस्सदेह और भी बहुसख्यक मूल्यवान् कलाकृतियाँ पृथ्वीके गर्भसे निकल सकती है। सच बात तो यह है कि न जैनसमाजने आजतक सामूहिक रूपसे इन अवशेषो-की ओर ध्यान दिया न वह आज भी दे रहा है। यदि इस तरह उपेक्षित मनोवृत्तिसे अधिक कालतक काम लिया गया तो रही-सही कलात्मक सामग्रीसे भी वचित रह जाना पडेगा। ऐसे सास्कृतिक कार्योके लिए सरकारका

मुँह ताकना व्यर्थ है। समाज स्वयं अपना कला-केन्द्र स्थापित कर सकती है। अरक्षित कलावशेषोको एक स्थानपर सुरक्षित रखना क़ानूनी अपराध नही है, बल्कि जान-बूझकर इनको नष्ट होने देना अक्षम्य सास्कृतिक अपराध है।

१ अप्रेल १९५०]

प्रयाग-संग्रहालय

की जैन-मूर्तियाँ

श्रमण-संस्कृतिके इतिहासमे प्रयागका स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण माना गया है। जैनसाहित्यमें इसका प्राचीन नाम **पुरिमताल** मिलता है। कथात्मक[1] ग्रन्थोसे विदित होता है कि १४ वी शताब्दीतक यह नाम पर्याप्त प्रचलित था। भगवान् ऋषभदेवको यहीपर केवलज्ञान उत्पन्न भी हुआ था। कल्पसूत्रमे इसप्रकार उल्लेख मिलता है—

"जे से हेमंताणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे
फग्गुणबहुले, तस्स णं फग्गुणबहुलस्स
इक्कारसी पक्खेणं पुव्वण्हकाल समयंसि
पुरिमतालस्स नयरस्स बहिया सगड मुहंसि
उज्जाणंसि नग्गोहवरपायवस्स अहे..."

कल्पसूत्र २१२

श्रीजिनेश्वरसूरि रचित **कथाकोशमे** भी इसप्रकार समर्थन किया है (११ वी सदी)

"अण्णया 'पुरिमताले' संपतस्स
अहे नग्गोहपाययेस्स झाणंतरियाए वट्टमाणस्स भगवओ समुप्पणं केवलनाणं"

कथाकोश प्रकरण, पृ० ५२

'विविधतीर्थकल्प'मे भी **"पुरिमताले आदिनाथः"** उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त अवतरणोसे सिद्ध है कि पुरिमताल—प्रयाग जैनोका महातीर्थ था। प्रयाग शब्दकी उत्पत्ति भी इसकी पुष्टि करती है। श्री जिनप्रभसूरिजी अपने **'विविधतीर्थकल्प'** मे उल्लेख करते है, **"प्रयाग तीर्थे शीतलनाथः"**[2]

---

[1]धर्मोपदेशमालामें भी पुरिमतालका उल्लेख है, पृ० १२४
[2]चतुरशीतिमहातीर्थनाम संग्रह कल्प, पृ० ८५

"गंगायमुनयोर्वेणीसंगमे श्रीआदिकर मंडलम्" (पृ० ८५) उन दिनों शीतलनाथका मंदिर रहा होगा ।

प्रयागके अक्षयवटका सबंध भी जैनसंस्कृतिसे बताया जाता है । अन्निकाचार्यको यहीपर केवलज्ञान हुआ था । देवताओंने प्रकृष्टरूपसे याग-पूजा आदि की, इसपरसे प्रयाग नाम पडा।[1] तब भी अक्षयवट था। इसी अक्षयवटके निम्न भागमें जिनेश्वर देवके चरण थे । इनकी यात्रा जैन मुनि **श्री हंससोम**ने १६ वी शताब्दीमें की थी, वे लिखते हैं—

तिणिकारण प्रयाग नाम ए लोक पसिद्धउ,
पाय कमल पूजा करी मानव फल लीद्धउ,

प्रा० ती० मा० १४

परन्तु मुनि **श्री शीलविजय**[2]**जी** को छोडकर अन्य यात्री मुनिवरोंने चरणकमलके स्थानपर शिवलिंग देखा । यह अकृत्य किसने किया होगा ? इसकी सूचना भी मुनि **श्री विजयसागर** अपनी तीर्थमालामें इस प्रकार देते हैं । —

संवत् सोलेडपाल लाड़मिथ्यातीअ
राय कल्याण कुबुद्धिहुओए,
तिणि कोधो अन्याय शिवलिंग थापीअ
उथापी जिनपादुका ए

पृ० ३

---

[1] "अतएव तत्तीर्थं 'प्रयाग' इति जगति प्रपथे। प्रकृष्टो यागः पूजा अत्रेति प्रयागः इत्यन्वयः

विविधतीर्थकल्प, पृ० ६८

[2] अखयवड छे तिहाँ कने रे जेहनी जड पाताल,
तासतलें पगलां हुतांरे, ऋषभजीनां सुविशाल

प्रा० ती० मा०, पृ० ७६-७

मुनि श्रीसौभाग्यविजयजी इस बातकी इसप्रकार पुष्टि करते हैं—

संवत् सोल अड़तालिसें रे अकबर केरे राज
राय कल्याण कुबुद्धिरं रे तिहां थाप्या शिवसाजरे

पृ० ७७

मुनि जयविजय भी इसका समर्थन इन शब्दोंमे करते हैं—

राय कल्याण मिथ्यामतीए, कीधउ तेणई अन्याय तउ,
जिन पगलां ऊठाडियाँए, थापा रुद्र तेण ठाय तउ,

पृ० २४

ऊपरके सभी उल्लेख एक स्वरसे इस बातका समर्थन करते है कि १६ वी शताब्दीके पूर्व अक्षयवटके निम्न भागमे जिन-चरण तो थे, पर बादमे सवत् १६४८ मे सत्ताके बलपर **रायकल्याण**ने शिवचरण स्थापित करवा दिये, सभव है उन दिनो या तो जैनोका अस्तित्व न होगा या दुर्बल होगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि **कल्याणराय** कौन थ। ? और उसने इस प्रकार-का कार्य किन भावनाओके वशीभूत होकर किया। उनका उत्तर तात्कालिक इतिहासमे भली भाति मिल जाता है। **"अकबरनामा"**[1] और **"बदाउनी"**[2] से ज्ञात होता है कि **स्तंभतीर्थ**-खभायतका ही वैश्य था, वह जैनोको बहुत कष्ट पहुँचाता था। एकबार अहमदाबादके शासक, मिर्ज़ाखाँने पकड लानेका आदेश दिया था, पर वह स्वय वहाँ चला गया और अपने अपराधके लिए क्षमा याचना की। स्मरण रहे कि यह राज्याधिकारियोंमेसे एक था। अकबरके पास जब जैनोने अपनी कष्ट कहानी रखी, तब बादशाहने उनका तबादला बहुत दूर प्रयाग कर दिया और प्रतिशोध की भावनाके कारण उसने प्रयागमे उपर्युक्त कृत्य किया।

सत्रहवी शतीके सुप्रसिद्ध विद्वान् और कल्याणरायके समकालीन

---

[1]भाग ३, पृ० ६८३
[2]भाग २, पृ० २४९

कविवर **समयसुन्दरजीने** अपनी **तीर्थ मास छत्तीसीमे** पुरिमताल पर भी एक पद्य रचकर, जैनतीर्थ होनेका प्रमाण उपस्थित किया है[1]।

मुझे दो बार प्रयाग जानेका अवसर मिला है, मैने अक्षयवट और अकबर निर्मित क़िलेका (मिलिटरी अधिकारियोकी सहायतासे) इस दृष्टिसे निरीक्षण किया है, पर मुझे जैनधर्मके चरण या ऐसी ही कोई सामग्री दिखी नही। हाँ, प्रयाग नगरपालिकाके सग्रहने मुझे बहुत प्रभावित किया। वहाँ जैनमूर्तियोका अच्छा सग्रह किया गया है, परन्तु उन्हें समुचित रूपसे रखनेकी व्यवस्था नही है।

जैन-मूर्तिकलाका क्रमिक-विकास

प्रयाग नगर-सभा सग्रहालय स्थित जैनमूर्तियोका परिचय प्राप्त करनेके पूर्व यह जानना आवश्यक है कि जैन-मूर्ति-निर्माणकला क्या है ? इसका क्रमिक विकास कलात्मक और धार्मिक दृष्टिसे कैसा हुआ ? यो तो उपर्युक्त प्रश्न इतने व्यापक और भारतीय मूर्ति-विधानकी दृष्टिसे महत्वपूर्ण है कि उनपर जितना प्रकाश डाला जाय कम है, कारण कि मूर्ति-विधान और विधाताका क्षेत्र अति व्यापक है। आश्रित और आश्रयदाताओमे भिन्नता हो सकती है, परन्तु कलोपजीवी व्यक्तियोमे नही। विकास सघर्षात्मक परिस्थितिपर निर्भर है। ज्यो-ज्यो युगकी परिस्थितियाँ बदलती है, त्यों-त्यों सभी चल-अचल तत्वोमें स्वाभाविक परिवर्तनकी लहर आ जाती है। ये पक्तियाँ मूर्तिकलापर सोलहो आने चरितार्थ होती है। इस कलामे युगानुसार परिवर्तनका अर्थ यह है कि कलाकार अपने सुचिन्तित मानसिक भावोको प्राप्त साधनोके द्वारा युगकी अभिरुचिके अनुसार व्यक्त करता है। प्रकटीकरणमे माध्यम एव अन्य सास्कृतिक विचारोमें मौलिक ऐक्य रहते

---

[1] **इसकी मूल प्रति कविने स्वयं अपने हाथसे सं० १७०० आषाढ़वदि १ को अहमदाबादमें लिखी है। रॉयल एशियाटिक सोसायटी बम्बईमें सुरक्षित है।**

हुए भी ज्यो-ज्यों बाह्य उपकरणोंमे परिवर्तन होता जाता है, त्यों-त्यों कलामे मौलिक ऐक्य रहते हुए भी बाह्य अलंकारोंमे परिवर्तन होता जाता है। रुचि एव देशभेदके कारण भी ऐसे परिवर्तन सभव है कि जिनके विकसित रूपको देखकर कल्पना तक नही होती कि इनका आदि श्रोत क्या रहा होगा? जैन-मूर्तिकलापर यदि इस दृष्टिसे सोचे तो आश्चर्यचकित रह जाना पड़ेगा। प्रारभिक कालकी प्रतिमाएँ एवं मध्यकालीन मूर्तियोके सिंहावलोकनके बाद अर्वाचीन मूर्तियो एव उनकी कलापर दृष्टि केन्द्रित करे तब उपर्युक्त पक्तियोंका अनुभव हो सकता है। जहाँ जैन-मूर्ति निर्माण कला और उसके विकास तथा उपकरणोका प्रश्न उपस्थित होता है, वहाँ प्रस्तर, धातु, रत्न, काष्ठ और मृत्तिका आदि समस्त निर्माणोपयोगी द्रव्योकी मूर्त्तियोंकी ओर ध्यान स्वाभाविक रूपसे आकृष्ट हो जाता है, परन्तु यहाँपर मेरा क्षेत्र केवल प्रस्तर मूर्तियो तक ही सीमित है। अत मै अति सक्षिप्त रूपसे प्रस्तरोत्कीर्णित मूर्तियोपर ही विचार करूँगा।

भारतमे मूर्तिका निर्माण, क्यो, कैसे तथा कबसे प्रारभ हुआ यह एक ऐसी समस्या है, जिसपर अद्यावधि समुचित प्रकाश नही डाला गया। यद्यपि पौराणिक आख्यानोकी कोई कमी नही है, क्योकि भारतमे हर चीजके पीछे एक कहानी चलती है, परन्तु जैनमूर्तियोके विषयमे ऐसी कहानियां अत्यल्प मिलेगी जिनमे तनिक भी सत्य न हो या उनमे मानव-विकासका तत्त्व न हो। यहाँ-पर ग्रन्थस्थ लेखोपर विचार न कर केवल उन्ही आधारोपर विचार करना है, जो शिलाओपर खुदे हुए पुरातत्त्वज्ञोके सम्मुख समुपस्थित हो चुके है। उपस्थित जैन-मूर्तियोके आधारपर बहुसख्यक भारतीय एव विदेशी विद्वानोने जैन-शिल्प और मूर्ति-विज्ञानपर अपने बहुमूल्य विचार व्यक्त किये है। किन्तु मथुरासे प्राप्त शिल्प ही प्रधान रूपमें उनके विचारोके आधार रहे है। विद्वानों-ने अपना अभिमत-सा बना रखा है कि जैन-मूर्ति-निर्माणका प्रारभ सबसे पहले मथुरामे कुषाण-युगमे ही हुआ, पर वस्तुतः बात ऐसी नही है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि कुषाण-युगमे जैनाश्रित कलाका विकास काफी हुआ।

यह बात निर्विवाद है कि कलाकी दृष्टिसे जैनोंकी अपेक्षा बौद्ध मूर्ति-निर्माण-कलामे शीघ्र ही बाजी मार ले गये। जिसप्रकार बौद्धोने धार्मिक क्रान्ति की उसीप्रकार अत्यत ही अल्प समयमे मूर्तिकलामें भी क्रान्तिकारी तत्त्वोंको प्रविष्ट कराकर, मूर्तियोमे वैविध्य ला दिया। अर्थात् उसी समयकी भगवान् बुद्धकी तथा बौद्ध धर्माश्रित विभिन्न भावोको प्रकाशित करनेवाली गाधार और कुषाण कालकी अनेक मूर्तियाँ मिलती है, परन्तु क्रान्तिके मामलेमे जैनी प्रायः पश्चात्पाद रहे है फिर शिल्पकलामे—और वह भी धर्माश्रित—परिवर्तन कर ही कैसे सकते थे। इतना अवश्य है कि जैनोने जिन-मूर्तियोकी मुद्रामे परिवर्तन न कर जैन-धर्ममान्य प्रसगोके शिल्पमे समय-समयपर अवश्य ही परिवर्तन किये एव मूर्तिके एक अग परिकर निर्माणमें तथा तदगीभूत अन्य उपकरणोमे भी आवश्यक परिवर्तन किया, परन्तु वह परिवर्तन एकप्रकारसे कलाकार और युगके प्रभावके कारण ही हुआ होगा। मजबूरी थी।

श्रमण-सस्कृति अति प्रारभिक कालसे ही निवृत्ति-प्रधान सस्कृतिके रूपमे, भारतीय इतिहासमे प्रसिद्ध रही है। उसके बाह्याग भी इस तत्त्वके प्रभावसे बच नही पाये। मूर्तिमे तो जैन-सस्कृतिकी समत्वमूलक भावना और आध्यात्मिक शातिका स्थायी स्रोत उमड पडा है। कुशल शिल्पियोने सस्कृतिकी आत्माको अपने औजारो द्वारा कठोर पत्थरोपर उतारकर वह सुकुमारता ला दी है, जिसका सौदर्य आज भी हर एकको अपनी ओर खीच लेता है। मै तो स्पष्ट कहूँगा कि भारतवर्षमे जितने भी सास्कृतिक प्रतीक समझे जाते है या किसी-न-किसी अवशेषमे किचिन्मात्र भी भारतीय सस्कृति-का प्रतिबिब पडा है, उनमे जैन प्रतिमाओका स्थान त्यागप्रधान भावके कारण सर्वोत्कृष्ट है। इसीमें भारतीय सस्कृतिकी आत्मा और धर्मकी व्यापक भावनाओका विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। वहाँपर जाते ही मानव अतर्द्वद भूल जाता है। शान्तिके अनिर्वचनीय आनदका अनुभव करने लग जाता है। जब कि अन्य धर्मावलबी मूर्तियोमे इस प्रकारकी अनुभूति कम

होती है। जैन-मूर्तिका आदर्श महाकवि धनपालके शब्दोंमें इस प्रकार है—

प्रशम-रस-निमग्नं दृष्टि-युग्मं प्रसन्नं वदन
कमलमंकः कामिनी-संग-शून्यः ।
करयुगमपि धत्ते शस्त्र-संबंध-वन्ध्यं
तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ।

जिसके नयन-युगल प्रशम-रसमे निमग्न है, जिसका हृदय-कमल प्रसन्न है, जिसकी गोद कामिनी सगसे रहित निष्कलक है, और जिसके करकमल भी शस्त्र सबंधसे सर्वथा मुक्त है वैसा तू है । इसीसे वीतराग होनेके कारण विश्वमे सच्चा देव है ।

किसी भी जैन-मदिरमे जाकर देखे वहाँपर तो सौम्य भावनाओंसे ओत-प्रोत स्थायी भावोके प्रतीक समान धीर-गभीरवदना मूर्ति ही नजर आवेगी। खडी, शिथिल, हस्त लटकाये, कही नग्न तो कही कटिवस्त्र धारण किये या कही बैठी हुई पद्मासन—दोनो करोको चेतनाविहीन ढगपर गोदमे लिये हुए, नासाग्र भागपर ध्यान लगाये, विकार रहित प्रतीक, कहीं भी नजर आये तो समझना चाहिए कि यह जैन-मूर्ति है, क्योकि इसप्रकारकी भाव-मुद्रा जैनोकी भारतीय शिल्पकलाको मौलिक देन है। मुकुटधारी बौद्ध मूर्तियाँ भी जैन-मुद्राके प्रभावसे काफी प्रभावित है ।

उपर्युक्त पक्तियोमे जिस भाव-मुद्राका वर्णन किया गया है, वह सभी जैन-मूर्तियोपर चरितार्थ होता है। २४ तीर्थंकरोकी प्रतिमाओमे मौलिक अतर नही है, परन्तु उनके अपने लक्षण ही उन्हें पृथक् करते है। लक्षणकी पृथक्ता भी काफी बादकी चीज है, क्योंकि प्राचीन मूर्तियोमें उसका सर्वथा अभाव पाया जाता है। एक और कारण मिलता है जो अमुक तीर्थंकरकी प्रतिमा है, इसे सूचित करता है, पर यह भी उतना व्यापक नही जान पड़ता, वह है यक्षिणियोका। जो अन्य तीर्थकरोकी प्राचीन मूर्तियाँ मिली है, उनमे भी अबिका यक्षिणी वर्तमान है जब कि जैन वास्तु-शास्त्रानुसार केवल नेमिनाथकी मूर्तिमे ही उसे रहना चाहिए। अस्तु

मथुरामे जैन अवशेष मिले हैं, उनमे आयागपट्टक भी है। जिसके मध्यभागमें केवल जिन-मूर्ति पद्मासनस्थ उत्कीर्ण है।

प्रासगिक रूपसे एक बात कह देना और आवश्यक समझता हूँ कि प्रकृत कालीन जैन-स्मारकोका महत्व केवल श्रमण-सस्कृतिकी धार्मिक भावनासे ही नही है, अपितु सपूर्ण भारतीय मूर्तिविधान परम्पराके क्रमिक विकासकी दृष्टिसे उनका अत्यत गौरवपूर्ण स्थान है। यह तो सर्वविदित है कि कुषाणकालमे भारतीय कलापर विदेशी प्रभाव काफी पड़ा था। बाहरी अलकरणोको कलाकारोने, जहाँतक बन पडा, भारतीय रूप देकर अपना लिया। जैनमूर्तियोमे भी दम्पत्ति-मूर्तियोकी वेशभूषा पर वैदेशिक प्रभाव स्पष्ट झलकता है। अयागपट्टक भी इसकी श्रेणीमे आशिक रूपसे आ सकते है। मथुराके अतिरिक्त जैनअवशेष और विशेषतः उत्कीर्ण शिलालेख जैनसस्कृतिके इतिहासपर अभूतपूर्व प्रकाश डालते है। ये लेख भारतीय भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे बडे मूल्यवान् है। मुनिगण और शाखाओंके नाम भी इन लेखोंमे आते है।

गुप्तकाल भारतीय मूर्तिविज्ञानका उत्कर्षकाल माना जाता है। मथुरा, पाटलिपुत्र, और सारनाथ गुप्तकालीन मूर्तिनिर्माणके प्रधान केन्द्र थे। विशेषत. इस कालमे बौद्ध-मूर्तियोका ही निर्माण हुआ है। कुछ जैन-मूर्तियाँ भी बनी। कुमारगुप्तके समयमे निर्मित भगवान् महावीरकी एक प्रतिमा मथुरा सग्रहालयमे अवस्थित है। जो उत्थित पद्मासनस्थ है[1]। स्कन्दगुप्तके समयमे भी गोरखपुर जिलान्तर्गत कोहम नामक एक स्थानमें जैन-मूर्ति स्थापित करनेकी सूचना गुप्त लेखोमें मिलती है।[2]

[1] इम्पीरियल गुप्त—श्री रा० दा० बनर्जी, प्लेट, १८,

[2] फ्लीट-गुप्त इन्स्क्रिप्सन्स——१५ "श्रेयोऽर्थपार्थं भूत-भूत्यै नियमवता-र्हतामादि कर्तृन्",

प्रस्तर मूर्तियाँ लेखयुक्त अत्यल्प उपलब्ध हुई है, परन्तु बिना लेख-वाली भी कुछ एक मूर्तियाँ मगधमे पाई जाती हैं जिनको गुप्तकालीन मूर्तियों-की कोटिमें सम्मिलित किया जा सकता है। राजगृहके तृतीय पहाड़पर फणयुक्त जो पार्श्वनाथकी प्रतिमा है, उसका सिंहासन एवं मुख-निर्माण सर्वथा गुप्तकलाके अनुरूप है। इसी पर्वतपर एक ओर अष्टप्रतिहार्य युक्त कमलासन स्थित प्रतिमा है। एव मुगेर जिलेमे क्षत्रियकुड पर्वतवाले मन्दिरमे अतीव शोभनीय, उपर्युक्त शैलीके सर्वथा अनुरूप एक बिम्ब पाया जाता है, जिनमेसे तीसरीको छोड़कर, उभय मूर्तियोको गुप्तकालीन कह सकते है। राजगृहमे पचम पर्वतपर एक ध्वस्त जैनमन्दिरके अवशेष मिले हैं। बहुत-सी इधर-उधर प्राचीन जैन मूर्तियाँ भी बिखरी पडी है।[1] इनमेंसे नेमिनाथवाली जैनप्रतिमाको निस्सदेह गुप्तकालीन मूर्ति कह सकते है। अभिलषित कालीन प्रतिमाओके भामण्डल विविध रेखाओसे अकित रहा करते थे, एव प्रभावलीके चारोओर अग्निकी लपटे बतायी गयी थी। इसे बौद्ध मूर्तिकलाकी जैनमूर्ति कलाको देन मान ले तो अत्युक्ति न होगी। जैन-बौद्ध मूर्तियोके अध्ययनसे विदित हुआ कि प्रधान मुद्राको छोडकर परिकरके अलकरणोका पारस्परिक बहुत प्रभाव पडा है। उदाहरणार्थ जिनमूर्तियोमे जो वाजिन्त्र-देव-दुन्दुभी-पाये जाते है, वे अष्ट प्रतिहार्यके ही अग है। ये ही चिह्न बौद्ध-मूर्तियोमे भी विकसित हुए है। यह स्पष्ट जैन-प्रभाव है। बुद्धदेवकी पद्मासनस्थ मूर्तियाँ भी, जैन तीर्थंकरकी मुद्राका अनुसरण है। बौद्ध-मूर्तियोंके बाहरी परिकरादि उपकरणोका प्रभाव गुप्तकालीन और तदुत्तरवर्ती मूर्तियोमे पाया जाता है। गुप्तोके पूर्वकी जैन-मूर्तियोके सिहासनके स्थानपर एक चौकी-जैसा चिह्न

---

[1]राजगृहमें सोनभंडारकी दीवालपर जैनमूर्ति व धर्मचक्र खुदा हुआ है। विशेषकेलिए देखे "राजगृहमें प्राचीन जैन सामग्री"

जैन भारती, वर्ष १२, अंक २,

मिलता है, जब कि गुप्त कालमे वह स्थान कमलासनमें परिवर्तित हो गया। प्राचीन मूर्तियोमें छत्र मस्तकके ऊपर बिना किसी आधारके लटके हुए बनाये गये है, किन्तु उपर्युक्त कालमें बहुत ही सुन्दर दंडयुक्त कलापूर्ण छत्र हो गये। मुख्य जैन मूर्तिके पार्श्वद एव उसके हस्त, मुख आदिकी भावभगिमापर अजताकी चित्रकलाकी स्पष्ट छाया है। परिकरके पृष्ठभागमें प्राचीन मूर्तियोमे केवल साधारण प्रभामडल ही दृष्टिगोचर होता है, जब गुप्तकालीन मूर्तियोमें उसके अर्थात् मस्तक और दोनो स्कन्ध प्रदेशके पृष्ठ भागमे एक तोरण दिखलाई पडता है, कही सादा और कही कलापूर्ण। यह तोरण एक प्रकारसे साँचीका सुस्मरण कराता है। परिकरके निम्न भागमे भी कही-कही ऐसा देखा जाता है, मानो कमलके वृक्षपर ही सारी मूर्ति आधृत हो। कुछ मूर्तियोमें कलश, शख, धूपदान, दीपक और नैवेद्य सहित भक्त खड़ा बतलाया गया है। उपर्युक्त सपूर्ण प्रभाव बुद्ध-कलाकी देन है। जैन-मुद्रा तप प्रधान होनेके कारण मूलत. बौद्ध प्रभावसे वचित रही। बाह्य अलकरणोमे क्रांति अवश्य हुई, परन्तु वह भी **'पाल'** कालमे तथा उत्तर गुप्तकालमे सुप्त हो गई। गुप्तोत्तरकालीन जैन-मूर्तियाँ मदिरोकी अपेक्षा गुफाओमे ही, भित्तिपर उत्कीर्णित मिलती है।

उपर्युक्त कालमे पश्चिमभारतकी अपेक्षा उत्तरभारतमें मूर्तिकलाका पर्याप्त विकास हुआ। यद्यपि कलात्मक दृष्टिसे इनपर बहुत ही कम अध्ययन हुआ है, तथापि अग्रेजी जरनलो और भारतीय पुरातत्त्व विषयक कुछ प्रान्तीय भाषाओके शोधपत्रोमे कुछ मूर्तियाँ सविवरण प्रकाशित हुई है। विदेशी सग्रहालयोके इतिवृत्तोमे भी इनका समावेश किया गया है।

उत्तर गुप्तकालीन अधिकतर मूर्तियाँ सपरिकर ही मिलती है। इसे हम दो भागोमे विभाजित कर सकते है। प्रथम परिकरमे जैन मूर्ति एवं उसके चारो ओर अवातर बैठी या खडी मूर्तियाँ ही अकित रहती है। एवं निम्न

भागमें मूर्ति बनानेवाले दपत्ति तथा यक्ष-यक्षिणी धर्मचक्र एवं व्याल आदि खुदे होते है। यह तो सामान्य परिकर है। यद्यपि कलाकारको इसमें वैविध्य लानेमें स्थान कम रहता है। इस शैलीकी मूर्तियाँ प्रस्तर और धातुकी मिलती हैं। प्रस्तरकी अपेक्षा धातुकी मूर्तियाँ सौदर्यकी दृष्टिसे अधिक सफल जान पडती हैं। परिकरका दूसरा रूप इस प्रकार पाया जाता हैं। मूल प्रतिमाके दोनो ओर चमरधारी, इनके पृष्ठ भागमे हस्ती या सिंहा-कृति तदुपरि पुष्पमालाये लिये देव-देवियाँ—कहीपर समूह कहीपर एकाकी—मस्तकपर अशोककी पत्तियाँ, कही दण्डयुक्त छत्र, कही दण्ड रहित, उसके ऊपर दो हाथी तदुपरि मध्यभागमें कही-कही ध्यानस्थ जिन-मूर्ति-प्रभावली, कही कमलकी पखुडियाँ विभिन्न रेखाओंवाली या कही सादा। मूर्तिके निम्न भागमे कही कमलासन, कही स्निग्ध प्रस्तर, निम्न भागमे ग्रास, धर्मचक्र अधिष्ठात्री एव अधिष्ठाता, नवग्रह, कही कुबेर, कही भक्तगण पूजोपकरण, कमलदण्ड उत्कीर्णित मिलते हे। सभव है कि १२ वी, १३ वी शतीतकके परिकरोमे कुछ और भी परिवर्तन मिलते हो। कुछ ऐसे भी परिकर युक्त अवशेष मिले है, जिनमे तीर्थकरके पचकल्याणक और उनके जीवनका क्रमिक विकास भी पाया जाता है। बौद्ध-मूर्तियोमे भी बुद्धदेवके जीवनका क्रमिक विकास ध्यानस्थ मुद्रावली मूर्तियोमें दृष्टिगत होता है। **राजगृही** और **पटना** सग्रहालयमे इसप्रकारकी मूर्तियाँ देखनेमे आती है। परिकर युक्त मूर्ति ही जन साधारणके लिए अधिक आकर्षणका कारण उपस्थित करती है और परिकरवाली मूर्तियोमे ही कलाकारको भी अपना कौशल प्रदर्शित करनेका अवसर मिलता है। यद्यपि परिकरका भी प्रमाण है कि मुख्य मूर्तिसे डयोढा होना चाहिए। पर जिन मूर्तियोकी चर्चा यहाँपर की जा रही है, उन मूर्तियोके निर्माणके काफी वर्ष बादके ये शिल्पशास्त्रीय प्रमाण हे। अतः उपर्युक्त नियमका सार्वत्रिक पालन कम ही हुआ है। परिकरका यों तो आगे चलकर इतना विकास हो गया कि उसमें समयानुसार जरूरतसे ज्यादा देव-देवी और हंसोंकी पक्तियाँ भी सम्मिलित हो गयी, परन्तु यह

परिवर्तनकाल प्रकृत स्थानपर विवक्षित कालके आगेका है। अतः इसपर विचार करना यहाँपर आवश्यक नही जान पड़ता।

प्रासंगिक रूपसे यहाँपर सूचित कर देना परमावश्यक जान पड़ता है कि खड़ी और बैठी जैनमूर्तियोके अतिरिक्त चतुर्मुखी मूर्तियाँ भी मिलती हे। एवं कही-कही एक ही शिलापट्टपर चौबीसों तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ सामूहिक रूपसे उपलब्ध होती हैं। यहाँपर मूर्तिकलाके अभ्यासियोंको स्मरण रखना चाहिए कि जिसप्रकार जिन मूर्तियाँ बनती थीं, उसी प्रकार जिन भगवानकी अधिष्ठातृदेवियोंकी भी मूर्तियाँ स्वतन्त्र रूपसे काफ़ी बना करती थी। इनके स्वतन्त्र परिकर पाये जाते है।

जैन-मूर्ति-निर्माण-कला और उसके क्रमिक विकासको समझनेके लिए उपर्युक्त पक्तियाँ मेरे ख्यालसे काफी हैं। यह विवेच्य धारा १२ वी शती तक ही बही है। कारण कि इसके बाद जैनमूर्ति-निर्माण-काल में कला नही रह गयी है। कुशल शिल्पियोकी परपरामे वैसे व्यक्ति इन दिनो नही रह गये थे, जो अपने औजारो द्वारा पाषाणमे प्राणका संचार कर सके। उनके पास हृदय न था, केवल मस्तिष्क और हाथ ही काम कर रहे थे।

भवनस्थित मूर्तियोंका परिचय

वर्षोसे सुन रखा था कि प्रयाग नगरसभाके सग्रहालयमे श्रमण-संस्कृतिसे सबधित पर्याप्त मूर्तियाँ सुरक्षित हे। काशीमे जब मै फरवरीमें आया तभीसे विचार हो रहा था कि एक बार प्रयाग जाकर प्रत्यक्ष अनुभव किया जाय, परन्तु मुझ जैसे सर्वथा पाद-विहारीके लिए थी तो एक समस्या ही। अतमे मैंने कड़कड़ाती धूपमे १०-६-४९ को प्रयागके लिए प्रस्थान किया। ग्रीष्मके कारण मार्गमे कठिनाइयोकी कमी नही थी, परन्तु उत्साह भी इतना था कि ग्रीष्मकाल हमपर अधिकार न जमा सका। प्रयाग जानेका एक लोभ यह भी था कि निकटवर्ती कौशाम्बीकी भी यात्रा हो जायगी, परन्तु मनुष्यका सभी चिंतन, सदैव साकार नहीं होता।

२७ जूनको घूमते हुए हम लोग ऐसे स्थानमें पहुँच गये, जहाँपर भारतीय सस्कृतिसे सबधित ध्वंसावशेषोंका अद्भुत संग्रह था। वहाँपर प्राचीन भारतीय जनजीवनके तत्त्वोंका साक्षात्कार हुआ और उन प्रतिभासंपन्न अमर शिल्पाचार्योंके प्रति आदर उत्पन्न हुआ, जिन्होंने अपने श्रमसे, अर्थकी तनिक भी चिन्ता न कर, सस्कृतिके व्यावहारिक रूप सभ्यताको स्थायी रूप दिया। कही ललित-गति-गामिनी परम सुन्दरियाँ मर्यादित सौंदर्यको लिये, प्रस्तरावशेषोमे इसप्रकार नृत्य कर रही थी, मानो अभी बोल पड़ेंगी। उनकी भावमुद्रा, उनका शारीरिक गठन, उनका मृदु हास्य और अगोंका मोड़ ऐसा लगता था कि अभी मुस्करा देगी। कही ऐसे भी अवशेष दिखे जिनके मुखपर अपूर्व सौन्दर्य और आध्यात्मिक शान्तिके भाव उमड रहे थे।

सचमुच पत्थरोकी दुनिया भी अजीब है, जहाँ कलाकार वाणी विहीन जीवन यापन करनेवालोके साथ एकाकार हो जाता है। अतीतकी स्वर्णिम झाँकियाँ, उन्नत जीवनकी ओर उत्प्रेरित करती है, । कला केवल वस्तु तत्त्वके तीव्र आकर्षणपर ही सीमित नही, अपितु वह सपूर्ण राष्ट्रिय जीवनके नैतिक स्तरपर परिवर्तनकर नूतन निर्माणार्थ मार्ग प्रशस्त करती हैं। स्वतन्त्र भारतमें प्रस्तरपरसे जो ज्ञानकी धाराएँ बहती हैं, उन्हे झेलना पड़ेगा। उनसे हमे चेतना मिलेगी। हमारे नवजीवनमे स्फूर्ति आयेगी। उस दिन तो मैंने सरसरी तौरपर खडितावशेषोंसे भेटकर विदा ली। इसलिए नही कि उनसे प्रेम नही था, परन्तु इसलिए कि एक-एकको भिन्न-भिन्न गौरवगाथा सुननेका अवकाश नही था।

दूसरे दिन प्रात.काल ही मैं अपनी पुरातत्त्व गवेषण-विषयक सामग्री लेकर सग्रहालयमें पहुँचा। वहाँपर इन प्रस्तरोंको एक स्थानपर एकत्र करनेवाले रायबहादुर **श्री ब्रजमोहनजी** व्यास उपस्थित थे। आपने बड़े मनोयोग पूर्वक सग्रहालयके सभी विभागोंका निरीक्षण करवाया—विशेषकर जैन-विभागका।

अब मैं उन प्रतिमाओंकी छानबीनमें लगा, जिनका संबंध जैन-संस्कृतिसे था। जो कुछ भी इन मूर्तियोसे समझ सका, उसे यथामति लिपिबद्ध कर रहा हूँ।

न० ४०८—प्रस्तुत प्रतिमा श्वेतपर पीलापन लिये हुए प्रस्तरपर उत्कीर्ण है, कही-कही पत्थर इसप्रकार खिर गया है कि भ्रम उत्पन्न होने लगता है कि यह प्रतिमा बुद्धदेवकी न हो। कारण उत्तरीय वस्त्राकृतिका आभास होने लगता है। पश्चात भाग खडित है। बाये भागमे खड्गासनस्थ एक प्रतिमा अवस्थित है, मस्तकपर सर्पाकृति (सप्तफण) खचित है। निम्न उभय भागमे, परिचारक परिचारिकाये स्पष्ट है। इसी प्रतिमाके अधोभागमे अधिष्ठातृ देवी अकित है। चतुर्भुज शख, चक्रादिसे कर अलकृत है। जो चक्रेश्वरीकी प्रतिमा है। प्रधान प्रतिमाके निम्न भागमे भक्तगण और मकराकृतियाँ है। यद्यपि कलाकी दृष्टिसे इस संपूर्ण शिलोत्कीर्ण मूर्तिका कोई विशेष महत्व नही।

न० २५—यह प्रतिमा चुनारके समान पाषाणपर खुदी हुई है। गर्दन और दाहिना हाथ कुछ चरणोकी उगलियाँ एव दाहिने घुटनेका कुछ हिस्सा खडित है। इसके सामने एक वक्षस्थल पड़ा है, इसके दाहिने कंधेके पास दो खड्गासनस्थ जैनमूर्तियाँ हैं, इनसे स्पष्ट हो जाता है कि ये जैनप्रतिमा ही है, कारण कि खडित स्कन्ध प्रदेशपर केशावलिके चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे है। अत. यह प्रतिमा नि.संदेह भगवान् ऋषभदेव की है, जो श्रमण संस्कृतिके आदि प्रतिष्ठापक थे। इसके समीप ही एक स्वतन्त्र स्तभपर नग्न चतुर्मुख मूर्तियाँ है।

उपर्युक्त प्रतिमाओका संग्रह जहाँपर अवस्थित है, वहाँपर एक प्रतिमा हल्के पीले पाषणपर खुदी हुई है। पद्मासनस्थ है। ३२॥।×२३ है। उभय ओर चामरधारी परिचारिक तथा निम्न भाग में दाये-बायें क्रमशः स्त्री-पुरुषकी मूर्ति इसप्रकार अकित हैं मानो श्रद्धाजलि समर्पित कर रहे हो। बीचमे मकराकृति तथा अर्धधर्मचक्र है। प्रधान जैनप्रतिमाके

मस्तकपर सुन्दर छत्र एव तदुपरि वाजिन्त्र, पुष्पवृष्टि हो रही है। पाषाण कहाँका है, यह तो कहना ज़रा कठिन है, पर चुनारके पाषाणसे मिलता जुलता है। इस प्रतिमाका सबंध श्रमण संस्कृतिकी एक धारा जैनसस्कृतिसे जोड़ा जाय या बौद्धसंस्कृतिसे, यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसपर गभीरतापूर्वक विचार करना आवश्यक जान पडता है। बात यह है कि जितनी भी प्राचीन जैनमूर्तियाँ उपलब्ध हुई है उनमेसे कुछ मूर्तियोंपर तीर्थंकरोके चिह्न एवं निम्न उभय भागमे अधिष्ठाता, अधिष्ठातृदेवीकी प्रतिमाएँ भी अकित रहती है। इस प्रतिमामे लछनके स्थानपर तो एक स्त्री खुदी हुई है। इस प्रकारकी शायद यह प्रथम प्रतिमा है। साथ ही साथ पूर्ण या अर्धमृगयुक्त धर्मचक्र भी मिलता है। कहीं-कही अधिष्ठाताके स्थानपर गृहस्थ दम्पत्तिका चित्रण भी दिखलाई पडता है। अब प्रश्न इतना ही है कि यदि यह बौद्ध मूर्ति होती तो वस्त्राकृति अवश्य स्पष्ट होती, जिसका यहाँपर सर्वथा अभाव है। हाँ, श्रमण सस्कृतिकी उभय धाराओंका यदि समुचित ज्ञान न हो तो भ्रमकी यहाँपर काफी गुजाइश है। मै तो इसकी विलक्षणतापर ही मुग्ध हो गया। इसके अंग-प्रत्यग जान बूझकर ही तोड दिये गये है। इसपर निर्माणकाल सूचक कोई लिपि वगैरह नही हैं। प्रतिमाके मुखके भावोका प्रश्न है वे ११वी शतीके बादके तो अवश्य ही नही है, कारण प्रतिमाओके समय-निर्माणमें उनकी मुखमुद्राका उपयोग किया जाता है, खासकर जैनप्रतिमाओमे।

सग्रहालयके भवनमे प्रवेश करते समय बाये हाथपर हलके हरे रगके आकर्षक प्रस्तरपर एक खड्गासनमे जैनमूर्ति अकित है। ३९×१८। यह मूर्ति न जाने कलाकारने कैसे समयमे बनाई होगी। हर प्रेषकका ध्यान आकर्षित कर लेती है, परन्तु चरण निर्माणमे कलाकार पूर्णत असफल रहा।

इसे एक प्रतिमा न कहकर यदि चतुर्विंशतिका पट्ट कहे तो अधिक अच्छा होगा, क्योकि उभय भागमें दोनों की ६ कोटिमे १२ लघुतम प्रतिमाएँ

है, और मध्यमें एक विशालकाय प्रतिमा है जो इन सबमे प्रधान है—इस प्रकार २५ प्रतिमाएँ होती हैं। चतुर्विंशतिका-पट्ट मैंने अन्यत्र भी देखे हैं, पर उनमे मध्य प्रतिमाको लेकर २४ मूर्तियाँ होती है, जब इसमें २५ हैं। अर्थात् ऋषभदेवकी दो मूर्तियाँ है। लोग कहा करते है कि शरीरका सारा सौदर्य मुखाकृतिपर निर्भर होता है। इस पर यह पंक्ति खूब चरितार्थ होती है। प्रतिमाओंका अग-विन्यास, स्वाभाविक है, कहीपर भी कृत्रिमता जैसी कोई चीज नही है। उगलियाँ और मुखपर कितना प्राकृतिक प्रभाव है, यह देखकर दाँतो तले उगली दबानी पडती है। मुखमडलपर अपूर्व शांति और आध्यात्मिकताके स्थायीभाव तथा ओठोंपर स्मित-हास्य फड़क रहा है। सौन्दर्य पार्थिव जगतका विषय होते हुए भी यहाँ कलाकारकी कल्पना शक्तिने उनकी आध्यात्मिक झलक करा दी है।

प्रतिमाके स्कन्धप्रदेशपर विराजित केशावलि[1] बहुत ही सुन्दर लग रही

---

[1] दशम शतीके पूर्वकी जिन-प्रतिमाओंमें प्रायः लांछन नहीं मिलते। अतः किस तीर्थंकरकी कौन मूर्ति है ? यह कहना कठिन हो जाता है। ऋषभदेवकी मूर्तिकी पहचान यों तो लांछनसे की जाती है, परंतु प्राचीन मूर्तियोंमें तो केशावलि ही परिचय प्राप्त करनेका प्रधान साधन है। आवश्यक सूत्र निर्युक्ति और त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि ग्रंथोंमें केशावलिका कारण इन शब्दोंमें स्पष्ट बतलाया गया है।—

"तेसिं पंचमुट्ठिओ लोओ सयमेव। भगवओ पुण सक्कवयणेण कणगावदाए सरीरे जडाओ अंजणरेहाओ इव रेहंतीओ उवलभइऊण ठिआओ तेण चउमुट्ठिओ लोओ।"—आ० नि० पृ० १६१।

—उनका (तीर्थंकरका) स्वयमेव पंचमुष्टिका लोच था, पर भगवान् ऋषभदेवका इंद्रके वचनसे, उनके कनकवत् उज्वल शरीर पर, अंजन रेखाकी समान जटाएँ बिना लुंचित किये ही सुशोभित रहीं, अतः उनका चतुर्मुष्टिका लोच है,

है, चरणके निम्न भागमें वृषभका चिह्न भी स्पष्ट है। अतः यह मूर्ति ऋषभ-देवकी है। दायी ओर अधोभागमे दम्पत्ति युगल है। बायी ओर मगर तथा धूप-दीपक आदि पूजनकी सामग्री पड़ी हुई है। इसप्रकारकी पूजन सामग्री बौद्ध-प्रतिमाओंमे उत्कीर्ण रहती है।

२४ तीर्थंकरोकी भिन्न-भिन्न मूर्तियाँ उपर्युक्त शिलामे खुदी है। उन सभी पर वृषभ, हस्ति आदि अपने-अपने चिह्न भी बने हुए है। मध्यवर्ती प्रतिमाके उभयओर अवस्थित चामरधारियोकी भावभगिमा सुकुमारताकी परिचायिका है। ऊपरके भागमें प्रभामण्डल, पुष्पमाला और ध्वनि आदिके चिह्न हैं। इस ललित प्रतिमाका निर्माणकाल १३ वी शतीके बादका नही हो सकता। इस शैलीकी एक प्रतिमा मैने राजगृह निवासी बाबू **कन्हैयालालजी**के संग्रहमे देखी थी, जिसका चित्र ज्ञानोदयके प्रथमांक-मे प्रकाशित हो चुका है।

प्रवेशद्वारके बायी ओर एक शिल्पाकृति कुछ विचित्र-सी लगती है जो श्याम पाषणपर उत्कीर्ण है, सापेक्षतः बहुत प्राचीन नही है। अग्रभागमें गजराज है। एक पद्मासनस्थ एव तदुभय भागमे दो खड्गासनस्थ जैनमूर्तियाँ हैं। ऊपरके भागमे सुन्दर नागर शैलीका शिखर अंकित है। निम्न भागमे

"प्रतीच्छति स्म सौधर्माधिपतिः कुन्तलान् प्रभोः।
वस्त्राञ्चले वर्णान्तिरतन्तुमण्डनकारिणः ॥६८॥
मुष्टिना पञ्चमेनाडय शेषान् केशान् जगत्पतिः।
समुच्चिखीप्रषमेवं ययाचे नमुचिद्विषा ॥६९॥
नाथ ! त्वदंसयोः स्वर्णरुचोर्मरकतोपमा।
वातानीता विभात्येषा तवास्तां केशवल्लरी ॥७०॥
तथैव धारयामास तामीशः केशवल्लरीम्।
याञ्चामेकान्तभक्तानां स्वामिनः खण्डयन्ति न ॥७१॥"

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र सर्ग ३, पृष्ठ ७०,

चक्रके स्थानपर दो हस्ति, इसप्रकार बताये गये हैं, मानों शिर और प्रतिमाओंको वहन किये हुए है। इसप्रकारकी शिल्पाकृति अन्यत्र देखनेमें नही आयी, अनुमानत. यह रथयात्राका प्रतीक है।

प्रवेश द्वारके सम्मुख २१×१५ इचकी शिलापर एक-एक पक्तिमें छ.-छ इस प्रकार पक्तियोमे १८ मूर्तियाँ एव चतुर्थ पक्तिमे छ· प्रतिमाएँ हैं। ५ खड्गासन और एक पद्मासन। मुखका भाग खंडित है।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें जिन मूर्तियोका परिचय दिया गया है, वे सभी नगर सभा संग्रहालयकी गैलरीमें रखी गयी है, कुछ एक ऐसी भी जैन मूर्तियाँ हैं, जिनका विशेष महत्व न रहनेके कारण परिचय नही दिया गया है।

बाहरकी प्रतिमाएँ

नगरसभा-सग्रहालयके उद्यानमे दक्षिणकी ओर प्रवेश करते समय उन दो विशाल जैन-मूर्तियोपर दृष्टि केन्द्रित हो जाती है जो दाए बाएं रखी गयी हैं। यद्यपि दोनो प्रतिमाएँ निम्न साप्रदायिक मनोवृत्तिकी शिकार हो चुकी है तथापि उनका शारीरिक गठन एव सौदर्य आज भी कलाविदोको खीचे बिना नही रहता। आकार-प्रकारमे प्राय· दोनो समान प्रतीत होती हैं पर निर्माण शैली और रचनाकालमे बडा अन्तर है। बायी ओरकी मूर्तिका मुख यद्यपि खडित है तथापि उसका शेष शारीरिक गठन और विन्यास स्वाभाविक है। उदाराकृति तो सर्वथा प्राकृतिक प्रतीत होती है। मूल प्रतिमाके उभय और चामरधारी परिचायक हैं, जिनके खडे रहनेका ढग और कटि प्रदेशपर पडी हुई उंगलियाँ रसवृत्ति उत्पन्न करती है। दायें परिचारकके निम्न भागमे एक स्त्री आकृति एवं तदधोभागमे एक पुरुष बैठा है और सम्मुख एक स्त्री अजलि बद्ध खडी है। बाएँ परिचारकका भाग खण्डित हो चुका है। केवल स्त्रीका धड हाथमे कमल लिये दिखाई देता है। मूल प्रतिमाका आसन कमलकी पखुड़ियोसे सुशोभित हो रहा है। निम्न भागमें

मकराकृतियाँ इसप्रकार बनी हुई है मानो संपूर्ण प्रतिमा उन्हींपर आधृत हो। इनके स्कन्ध प्रदेशपर रोमराजि व्यक्त करानेमे कलाकारने बड़ी कुशलतासे काम लिया है। एक-एक रोम गिने जा सकते है। प्रतिमाके मस्तकके पृष्ठभागमे सुन्दर और सूक्ष्म खुदाई और रेखाओवाला भामण्डल प्रभावलि प्रतिमाकी रमणीयतामे अति वृद्धि करता है, जैसा कि बुद्ध प्रतिमाओंमें भी पाया जाता है। सच कहा जाय तो इस प्रभावलिकी ललितकलाके कारण ही मूर्तिमे कलात्मक आकर्षण रह गया है। मस्तकका भाग बुरी तरह खडित है। केवल दायी कर्णपट्टिकाका एक अंश बच पाया है। तदुपरि भागमे छत्रका दड भी खडित हो गया है। जिसप्रकार यक्ष या कुछ देवियोकी मूर्तियोमे दण्ड द्वारा छत्र रखनेका रिवाज था, जैनप्रतिमाओमे भी कही-कही उसकी स्मृति दृष्टिगोचर होती है, जिसे उपर्युक्त प्रथाका भ्रष्ट सस्करण कह सकते है। छत्रके ऊपरके भागमे अशोक वृक्षकी पत्तियाँ स्वाभाविकतहा प्रदर्शित है। उभय ओर पुष्पमाला लिये देवियाँ गगन विचरण कर रही हो, ऐसा आभास होता है। कलाकारने पाषाणपर बादलकी घटाएँ बहुत ही उत्तम ढगसे व्यक्त की है। देवियोका मुख मडल प्रसन्नताके मारे खिल उठा है। उपर्युक्त पक्तियोके बाद बिना कहे नही रहा जा सकता कि न जाने इसका मुखमडल कितना सुन्दर और आध्यात्मिक ज्योति पूर्ण रहा होगा। यह प्रतिमा चन्द्रप्रभुकी है और कौशाम्बीसे प्राप्त की गई है। प्रभावलीसे स्पष्ट है कि यह गुप्त कालीन कृति है।

बाएँ भागपर पडी हुई प्रतिमा डील-डौलसे तो ठीक उपर्युक्त मूर्तिके अनुरूप ही है, परन्तु कलाकी दृष्टिसे कुछ न्यून है। निर्माणमे अन्तर केवल इतना ही है कि इसके पृष्ठ भागमे देवी और परिचारकके मध्यमे हस्तीपर आरूढ दोनों ओर दो देव देवियाँ है, एव निम्न भागमे मृगयुक्त खडा धर्मचक्र स्पष्ट बना हुआ है। यद्यपि इसका मस्तक सर्वथा खंडित नही, मुखका अग्रभाग खण्डित है। वक्षस्थलपर छैनीके चिह्न बने है। ग्रीवापर रेखाएँ

एवं जिस आसनपर मूर्ति आधृत है, उसका भाग भी उपर्युक्त प्रतिमाकी अपेक्षा पृथक रेखाओवाला है।

मुख्य फाटकके फौवारेके सामने जैनप्रतिमाओके अलग-अलग चार अवशेष रखे हैं वे क्रमशः इस प्रकार है :—

(१) प्रस्तुत खण्डित पाषाणपर सोलह जैन प्रतिमाएँ ११×१५ इचकी शिलापर उत्कीर्णित है। निम्नस्थान खंडित है। अनुमानतः खडित स्थानमे भी आठ खडी जैनप्रतिमाएँ अवश्य ही रही होंगी। प्रस्तुत शिलापट्टके प्रधान पार्श्वनाथ है।

(२) चुनारकी २२×२५ की शिलापर २४ जैन प्रतिमाएँ अंकित है। चार पक्तिमे पाँच-पाँच और उपरिभागमे चार इस प्रकार चतुर्विशति पट्ट है। प्रतिमा विधानकी दृष्टिसे यह चतुर्विशतिपट्टिका महत्वकी है। अग-विन्यास बडा सुन्दर और भाव-दर्शक है। प्रायः सभीकी मुखाकृति थोड़े बहुत अंशमे खडित है जैसा कि चित्रसे स्पष्ट है। गुजरातमे भी इस प्रकारकी प्रतिमाएँ बनती थी, जिनके ऊपरके भागमे शिखराकृतियाँ मिलती है।

(३) इस परिकर युक्त प्रतिमाका केवल मस्तकके ऊपरका भाग ही बच पाया है। त्रुटित भागकी मानवाकृतियोंसे पता चलता है कि निःसंदेह प्रतिमा बहुत ही सुन्दर और कलापूर्ण रही होगी।

(४) इस प्रतिमाका केवल निम्न भाग और मस्तक अलग-अलग पडे है। मेरे ख्यालसे (३) वाले उपरिभागका यह अश निम्न अश होना चाहिए। अनजानके लिए निम्न भागको देखकर शका हुए बिना नही रहती कि प्रस्तुत अशका संबध किस धर्मसे है। बारीकीके साथ निरीक्षण करनेसे ज्ञात हुआ कि इसका सीधा सबध श्रमण संस्कृतिकी एक धारा जैन सस्कृतिसे है, कारण कि प्रतिमाके निम्न भागपर जो आकृतियाँ है, वे निर्णय करनेमें बहुत बडी मदद देती है। दक्षिण निम्न भागमें गोमुख यक्ष और बायी ओर चक्रेश्वरीकी मूर्तियाँ है। मध्यमें वृषभका चिह्न अकित है। इससे प्रतीत

होता है कि प्रस्तुत अवशेष ऋषभदेवकी प्रतिमाका है। इसपर अंकित धर्म-चक्रके उभय भागमें मकर एवं नन्निम्न भागमे नवग्रहोंकी मूर्तियाँ बनी हुई है। प्रस्तुत प्रतिमाका निर्माणकाल अंतिम गुप्तोका समय रहा होगा। इसकी चौड़ाई २३″ है। अतः दोनो एक ही है।

उत्तराभिमुख बहुतसे भिन्न-भिन्न खण्डित अवशेष बिखरे पडे है, जिनमे ऋषभदेव आदि तीर्थंकरोकी मूर्तियाँ है।

सग्रहालयके पूर्वकी ओर टीनका विशाल गोलाकार गृह बना हुआ है, जिसमे भूमराके बहु संख्यक सुन्दर कलापूर्ण एवं अन्यत्र अनुपलब्ध अवशेष रखे गये हे। प्राचीन भारतीय इतिहास और शिल्प-स्थापत्य कलाकी दृष्टिमें इनका बहुत बडा महत्व है। अभीतक सास्कृतिक दृष्टिसे इनपर समुचित अध्ययन नही हो पाया है। इन सभीको सरसरी तौरपर देखनेसे प्रतीत हुआ कि इसमे भारतीय लोक जीवनकी विशिष्ट धाराओके इतिहासकी कड़ियाँ बिखरी पडी है, शैव सस्कृतिके इतिहासपर उज्वल प्रकाश डालनेवाली कलात्मक सामग्री भी पर्याप्त रूपमे है। शिवजीके समस्त गण कई लाल प्रस्तरोमे बँटे है। इसी गृहमे प्राचीन मन्दिरस्थ स्तम्भके टुकड़े पड़े है, जिन-पर नर्त्तकियोंकी भावपूर्ण मुद्राएँ अंकित हे। सचमुच इनकी भावभगिमाएँ ऐसे सुन्दर ढगसे व्यक्त की गई है, मानो उन दिनोका सुखी जन-जीवन ही जीवित हो उठा हो।

महेश्वर, गणेश, आदि अन्य अवशेषोंका महत्त्व न केवल सौदर्यकी दृष्टिसे ही है, अपितु आभूषण और मुद्राओकी दृष्टिसे भी कम नही।

जल-कूपके निकट विशाल टीनका छप्पर बना हुआ है। इसमे कौशाम्बी खजुराहो और सारनाथसे लाये हुए, भारतीय सस्कृतिकी सभी धाराओंके अवशेष पडे हुए हे, उनमें अधिकाश मदिरोके विभिन्न अंश है। कुछ शिल्प तो ऐसे सुन्दर है कि जिनकी स्वाभाविकता और सौंदर्यको लिपिबद्ध नही किया जा सकता। उदाहरणार्थ एक दो शिल्प ही पर्याप्त होंगे। एक प्रस्तरपर माताके उदरमें रहे हुए दो बच्चोका जो उत्खनन

कलाकारने अपनी चिर साधित छैनी द्वारा, कल्पनाको साकार रूप देकर किया है, वह अनुपम है। विशेषत बच्चोकी मुख मुद्रापर जो भाव प्रदर्शित है, उनको व्यक्त करना कमसे कम मेरे लिए तो सभव नही है। एक ऐसा भी अवशेष है, जिसमे बताया गया है कि गौ खडी हुई अपने बछडेकी पीठको स्नेहवश चाट रही है। बच्चा पयःपान कर रहा है। गौके मुखपर वात्सल्य रस झलक रहा है। एक शिल्पमे दो स्त्रियाँ मथानीसे विलोडन कर रही है। बालक अपनी भोली-भाली मुख मुद्रा लिये मक्खनके लिए याचना कर रहा है। कल्पना कर सकते है कि इस चित्रमे कृष्णकी बाललीलाके भाव है। इस मण्डपकी सामग्री साधारण प्रेक्षकोको तो सभवत सतुष्ट न कर सके, परन्तु पत्थरोकी दुनियामे विचरण करनेवाले कोमल हृदयके कलाकारोको आश्चर्यान्वित किये बिना नही रहती।

उपर्युक्त मडलके पास ही लबी पक्तिमे भिन्न-भिन्न प्रान्तीय सती स्मारकोके अवशेष दृष्टिगोचर होते है, जिनमेसे बहुतोपर लेख भी है। इन स्मारकोका सामाजिक दृष्टिसे थोडा-बहुत महत्व है। इनपर अभी अधिक अन्वेषण अपेक्षित है। इन सती स्मारकोके सामने बहुतसे टुकडे स्थानाभावके कारण इस प्रकार अस्त-व्यस्त पडे है, मानो उनका कोई महत्त्व ही न हो। इनमे भी चार जैनमूर्त्तियोके खण्डिताश पडे है।

जल-कूपके निकट एक दूसरा टीनका गृह और बना हुआ है। इसमे वे ही अवशेष संगृहीत है, जो खजुराहोसे लाये गये थे। शिल्पकलासे अपरिचित व्यक्तियोको भी यहाँ आनन्द मिले बिना नही रह सकता। प्रवेश-द्वारपर ही खजुराहोके एक प्रवेश द्वारका कुछ अश रखा है। जिसमें नर्त्त-कियोंकी विभिन्न भाव भगिमाओसे युक्त मूर्त्तियाँ, कलाकारको अभिनदित करनेको बाध्य करती है। भारतीय नारी जीवनका आनद स्वाभाविक रूपेण इन मूर्त्तियोके अग अगपर चमक रहा है। अंग विन्यास, उत्फुल्ल वदन, स्मित हास्य, संगीतके विभिन्न उपकरणोंने इनका महत्व और भी बढ़ा दिया है। इन सभीका महत्व शिल्प-कलाकी दृष्टिसे समझा

जा सकता है, हृदयंगम भी किया जा सकता है, परन्तु वर्णमालाके सीमित अक्षरोमे कैसे बाँधा जाय ! इन अवशेषोमे कुछ जैन-अवशेष भी है जिनका परिचय इसप्रकार है। अवशेषोकी सख्या अधिक है। कुछ तो श्याम पाषाणपर उत्कीर्णित है। मैने मध्यप्रान्तमे भी ऐसे ही श्याम पाषाणपर खुदी हुई मूर्त्तियाँ देखी है। बहुरीबदवाली मूर्तिसे यह पाषाण समानता रखता है। सभव है त्रिपुरीका जब उत्कर्ष काल रहा होगा, तब शिल्प-कलाके उपकरणके रूपमे पाषाण भी बुदेलखडमे कलाकारोद्वारा, मध्यप्रातसै जाता रहा होगा। क्योकि खजुराहो जबलपुरसे बहुत दूर नही है।

एक जैनप्रतिमाका निम्न भाग पडा है। इस चरणको देखते ही कल्पना की जा सकती है कि प्रस्तुत प्रतिमा भी ६० इंचसे क्या कम रही होगी, क्योकि २२ इंचतक तो घुटनेका ही भाग है। शिल्पकलाके पारखी भली-भाँति परिचित है कि किसी भी विषयकी सपूर्ण प्रतिमाके सौदर्यको समझनेके लिए उसका एक अग ही पर्याप्त होता है। इस दृष्टिसे तो मुझे यही कहना पडेगा कि प्रस्तुत मूर्तिको शिल्पीने गढ ही डाला है। उनके हाथ और छेनी ही काम कर रही थी। हृदय और मस्तिष्क शायद शून्यवादमे परिणत हो गये होगे। सौभाग्यसे सपूर्ण सग्रहालयमे यही एक ऐसी जैन तीर्थंकरकी प्रतिमा है, जिसपर निर्माणकाल सूचक लेख भी खुदा हुआ है, जिसमें **बलात्कारगण वीरनंदी** और **वर्धमानके** नाम पढे जाते है। **१२१४ फाल्गुन सुदी ९ बताया** गया है। यदि इस सवत्को सही मानते है तो लिपि और निर्माणकालमे अन्तर होनेके कारण उसपर ऐतिहासिक और मूर्ति-विज्ञानके विशेषज्ञ एकाएक विश्वास नही कर सकते। बाजूमे ही २७४ न० का एक टुकडा है, जो २७३ से सबधित प्रतीत होता है। इन टुकडोके निम्न भागमे बहुत ही सुन्दर और सूक्ष्म ७ नग्न प्रतिमाएँ खुदी है, इन अवशेषोसे ही विदित होता है कि प्रतिमा बडी सौन्दर्य-सपन्न रही होगी।

न० ३०२—यह प्रतिमा ऋषभदेवकी है।

२३५—यह प्रतिमा किसी मुख्य प्रतिमाके बायें भागका एक अंश दिखती है। यद्यपि प्रतिमाविधानकी दृष्टिसे स्वतन्त्र मूर्ति ही माने तो हर्ज नही है। इसका मस्तक किसी हृदयहीन व्यक्तिने जानबूझकर खडित कर दिया है। पर किसी सहृदय व्यक्तिने उसे सीमेण्टसे भद्दे रूपसे चिपका दिया है।

४२-२३ इचकी मटमैली शिलापर प्रस्तुत जिन-प्रतिमा उत्कीर्ण है। इसका निर्माण सचमुचमे कुशल कलाकारद्वारा हुआ है। भावमुद्रा और शिलोत्कीर्णित परिकरका गठन, सौन्दर्यके प्रतीक है, परन्तु बायां घुटना जानबूझकर बुरी तरहसे खंडित कर दिया है। मूल प्रतिमा पद्मासनमे है। उभय ओर १८ इचकी दो खड्गासनस्थ प्रतिमाएँ है। उनमें शात रसका उद्दीपन स्पष्ट है। मुखमुद्रामें समत्वकी भावना झलक रही है। दोनोंके निम्न भागमें एक-एक पार्श्वद है। उपर्युक्त प्रतिमाका निम्न भाग स्वभावत. पाँच भागोमे बँट गया है। दक्षिण प्रथम भागमे एक गृहस्थ हाथ जोडे घुटना टेककर वदना कर रहा है। बाजूमे सुखासनमें एक मूर्ति खुदी हुई है। शिल्पशास्त्रकी दृष्टिसे तो इस स्थानपर अधिष्ठाता गोमुख यक्षकी प्रतिमा होनी चाहिए, क्योकि यह प्रतिमा ऋषभदेव स्वामीकी है। दिगम्बर और श्वेताम्बर शिल्पशास्त्रोमे वर्णित अधिष्ठाताका स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। सबसे बडा भिन्नत्व यही पाया जाता है कि यक्षके चार हाथ होने चाहिए जब कि यहाँपर जो प्रतिमा खुदी है वह दो हाथोवाली ही है। अत. इसे किस रूपमे माना जाय ? मै अपने अनुभवोके आधारपर दृढ़तापूर्वक कह सकूँगा, कि यह सुखासनस्थ विराजित प्रतिमा कुबेरकी ही होनी चाहिए। कारण कि मुझे सिरपुरसे नवम शताब्दीकी एक ऋषभदेव स्वामीकी धातु-प्रतिमा प्राप्त हुई थी, उसमे भी इसी स्थानपर कुबेरकी प्रतिमा विराजमान थी और बायी ओर द्विभुजी अम्बिका की। प्रस्तुत प्रतिमामें भी बायी ओर आम्रलुम्ब लिये और बाये हाथसे एक बच्चेको कटिपर थामें, अंबिकाकी मूर्त्ति स्पष्ट दिखायी गयी है। बाजूमें एक गृहस्थ स्त्री

भक्ति पूर्वक वदना करती हुई प्रतीत होती हैं। यद्यपि ऋषभदेव स्वामीकी अधिष्ठातृदेवी गरुड़वाहिनी चक्रेश्वरी है, अतः यहाँपर उसीकी मूर्त्ति अपेक्षित थी, जब कि यहाँ अंबिका है। प्राय. बहुसंख्यक प्राचीन कई तीर्थंकरोकी ऐसी प्रतिमाएँ देखनेमे आयी है, जिनकी अधिष्ठातृ देवीके स्थानपर अबिकाके ही दर्शन होते है, विशेषतः पार्श्वनाथ और ऋषभदेव आदिकी मूर्त्तियोमे। यो तो अंबिका भगवान् नेमिनाथकी अधिष्ठातृ है। जैन-मूर्त्ति-विधान शास्त्रमे इसके दो रूप मिलते है, परन्तु शिल्प स्थापत्यावशेषोंमें तो वह, अनेक ऐसे रूपोमे व्यक्त हुई है कि उनके विभिन्न पहलुओंको पहचानना भी कही-कहीं कठिन हो जाता है।

जिस प्रतिमाकी चर्चा यहाँपर की जा रही है, उसके आसनका भाग इस रूपसे बना हुआ है मानो कोई सुन्दर चौकी ही हो, आसनके रूपमें वस्त्राकृति है। जिसपर वृषभका चिह्न है। और दो मकरोके बीचमे खडा धर्मचक्र है। प्रतिमाके मुखके पश्चात् भागमे प्रभावली है, साधारण रेखाएँ भी है। उभय ओर पुष्पमाला लिये गगनविचरण करते हुए देववृन्द है, तदुपरि दडयुक्त छत्र है। दाये भागमे एक हाथीका चिह्न है, बायी ओर इन्द्र। छत्रके ऊपरका भाग बडा ही कलापूर्ण है। अशोक वृक्षकी पत्तियाँ, और दो हस्त ढोल बजा रहे है। छत्रके दोनो भागोमे पद्मासनस्थ दो जिनमूर्तियाँ भी अकित है। इतने लबे विवेचनके बाद भी एक प्रश्न रह ही जाता है कि इसका निर्माणकाल क्या हो सकता है? कलाकारने सवत्का कहीपर भी उल्लेख नही किया, अत. केवल अनुमानसे ही काम लेना पड रहा है। यह मूर्ति खजुराहोसे लाई गई है, प्रस्तर भी वहाँके अन्य अवशेषोसे मिलता जुलता है। इसप्रकारकी अन्य प्रतिमाएँ देवगढमे पायी गई हैं, जिनपर सवत् भी है। खासकर अबिका और कुबेरकी प्रतिमाएँ इसके साथ सबधित है, उनके अध्ययनके बाद कहा जा सकता है कि इसका रचनाकाल ९ से ११ वी शतीका मध्य भाग होना चाहिए, क्योकि अलकरणोंका विकास जैसा इसमे हुआ है, वैसा उन दिनो खजुराहो और त्रिपुरी-तेवरकी सभी

धर्मावलबियोकी प्रतिमाओमे हुआ था । विशेषत. अन्तर्गत मूर्त्तियोंका उपरि भाग—जो मगधकी स्मृति दिला रहा है—बुदेलखडके विष्णु और शाक्त प्रतिमाओमे पाया जाता है । ५ सख्यावाली उपर्युक्त प्रतिमा जहाँपर सुरक्षित है, ठीक उसके पश्चात् भागमे ही एक और जैनमूर्ति है, जो मटमैले पाषाणपर खुदी हुई है । नि सदेह मूर्तिका सौदर्य और शारीरिक विकास स्पर्धाकी वस्तु है, परन्तु प्रश्न होता है कि क्या मूर्तिका स्वाभाविक अंग इतना ही था जितना आप चित्रमे देख रहे है ? मुझे तो सदेह ही है, कारण कि दक्षिण भाग जितना स्पष्ट है, उतना ही वाम भाग अस्पष्ट । मेरा तो ध्यान है कि यह विशालकाय प्रतिमाके परिकरका एक अगमात्र है । ऊपर जिस मूर्तिका चित्र आप देख रहे है, उसके दक्षिण भागकी ही आप कल्पना करे तो इन पंक्तियोंका रहस्य स्वत' समझमे आ जायगा । यह त्रुटितांश एक बातकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि पूर्व प्रतिमा कितनी मनोहर रही होगी ।

इस छप्परवाले सग्रहमे उत्थितासन कुछ जैन-मूर्तियाँ है, पर कलाकी दृष्टिमे उनका विशेष मूल्य न होनेसे उल्लेख ही पर्याप्त है ।

नगरसभा—संग्रहालयके मुख्य गृहके पश्चात् भागमे एक और टीनकी मजबूत चादरोसे ढका, एक छप्पर है, जो जालियोसे घिरा हुआ है । इसमें उन्मुक्त भावनाओके पोषक कलावशेष कैद है । परन्तु बन्दी जीवन यापन करनेवालोमे जो रसवृत्तिका स्थायी भाव देखा जाता है वह सात्त्विक मनोभावनाका अद्भुत प्रतीक है । इस गृहको मैने बन्दीखाना सकारण ही कहा है । जब हम लोगोने इसमे प्रवेश किया तब इतना कूडा कचरा भरा हुआ था मानो महीनोसे सफाई ही न हुई हो, जहाँ सर ऊँचा किया कि जाले लगे । मूर्तियोपर तो इतनी धूल जम गई थी कि मुझे साफ करनेमे पूरा १॥ घटा लगा । कला तीर्थमे भी इस प्रकारकी घोर अव्यवस्था, किसी भी दृष्टिसे क्षम्य नही । हमारे देशकी सस्कृतिके प्रतीकसम इन अवशेषोका संग्रह

यदि दूसरे देशके किसी सग्रहालयमे होता तो शायद इनसे तो अच्छी ही हालतमे होता !

इस गृहमे **भरहुत, खजुराहो, नागौद** और **जसो** आदि नगरोसे लाये हुए अवशेषोका सग्रह किया गया है। इनमे कुछेक ऐसी ईंटे है, जिन पर लेख भी है। नि सदेह यह सग्रह अनुपम है। एक मदिरका मुख्य द्वार भी सुरक्षित है, जिसमे केवल कामसूत्रके आसन ही खुदे हुए है। यो तो प्राचीन शिल्पस्थापत्य-कलासे सम्बन्ध रखनेवाली पर्याप्त साधन सामग्री इसमे है, परन्तु जैन-मूर्तियोका भी सबसे अच्छा और व्यवस्थित सग्रह भी इसीमे है। सौभाग्यसे ये साथमे एक ओर सजाकर रखी गयी है। इन सबकी सख्या दो दर्जनसे कम नही होगी। प्रतीत होता है कि किसी जैनमदिरमे ही खडे हो !

बायी ओरसे मै इनमेसे कुछका परिचय प्रारभ करता हूँ। प्रतिमाएँ ऊपर-नीचे दो पक्तियोमे है।

एक अवशेष ३२″ × १२″ का है, जिसके उभय भागमे १५ जिन-प्रतिमाएँ खड्गासन और पद्मासनमे है। अवशिष्ट भागको गौरसे देखनेसे प्रतीत होता है कि यह किसी मदिरके तोरणका अश है या विशाल प्रतिमाका एक अग, पत्थर लाल है। इसी टुकडेके पास एक और वैसा ही खडिताश ४० × १७ इचका है, इसका विषय तो ऊपरसे मिलता जुलता है, पर कला-कौशल और सौदर्यकी दृष्टिसे इसका विशेष महत्त्व है। इसके मध्य भागमे शेरपर बैठी हुई अम्बामाताकी प्रतिमा है। इसके बाये घुटने-पर बालक एव दक्षिण हस्तमे आम्रलुम्ब है। ऊपरके हिस्सेमे चार जिन-प्रतिमाएँ क्रमश उत्कीर्ण है। बाई ओर ऋषभ और दाई ओर पार्श्वनाथ तदुपरि देववृन्द विविध वाजित्र लिये, स्वच्छन्दता पूर्वक गगन-विचरण कर रहे है। भाव बडा ही सुन्दर है। इसके समीप ही किसी स्तम्भका खडिताश है। १३ × १० इच। मध्य भागमे पद्मासन और उभय भागमे खड्गासनस्थ मूर्तियाँ है।

६८७×३५ किसी जैन-मंदिरका स्तंभ है। दो मूर्तियाँ है।

६८८×३४ स्तभाग्रपर पार्श्व-प्रतिमा हैं। २२×११॥ इंच।

६१०—यह एक खड्गासनस्थ प्रतिमा है। ३८×२१ इंच। मस्तकपर सप्तफण स्पष्ट है। उभय ओर पार्श्वद हैं। बायाँ भाग खडित है। लांछनके स्थानपर बहुत ही स्पष्ट रूपसे शंख दृष्टिगोचर होता है। मूर्ति विलक्षण-सी जान पडती है और देखकर एकाएक भ्रम भी उत्पन्न हो जाता है, कारण कि मस्तकपर नागफन और शंख लांछन, ये दो परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। फन स्पष्ट होनेके कारण इसे पार्श्वनाथकी मूर्ति मानना चाहिए, शखका चिह्न भगवान् नेमिनाथका है। अत मूर्त्ति नेमि जिनकी भी मानी जा सकती है। ऐसी मान्यताके दो कारण हैं, एक तो शख लांछन और दूसरा सबल प्रमाण है आम्र वृक्षकी लताएँ, जो भगवान्के मस्तकके ऊपरी भागके समस्त प्रदेशमे भूम रही है। सम्भव है आम्रलताएँ अंबिकाका प्रतीक हो, ऊपर पक्तियोमे प्रसगत उल्लेख हो चुका है कि अम्बिकाके हाथमे आम्रलुब रहती है। मूल प्रतिमाके मस्तकके बाये भागमे एक ऐसी देवीका शिल्प अंकित है, जिसके बाये घुटनेपर बालक बैठा है। मन तो करता है कि इसे ही क्यो न अबिका मान ले। ऐसा प्रतीत होता है, मानो आम्रवृक्षकी सुकुमार डालियोपर वह भूल रही हो, परन्तु पुष्ट प्रमाणके अभावमे इसे अबिका कैसे मान ले ? मैंने अपने जीवनमे ऐसी एक भी जैन तीर्थंकरकी प्रतिमा नही देखी, जिसके मस्तकके ऊपरके भागमे अधिष्ठाता या अधिष्ठातृ देवीके स्वरूप अंकित किये गये हो। हाँ, उभयके मस्तक पर जिन-मूर्ति तो शताधिक अवलोकनमे आई है। मेरे लिए तो यह बड़े ही आश्चर्यका विषय था। कोई मार्ग नही सूझ पडता था कि इसका निर्णय कैसे किया जाय। मेरे **परममित्र मुनि श्री कनकविजयजीने** मेरा ध्यान पार्श्वनाथ भगवान्के जलवृष्टिवाले उपसर्गकी ओर आकृष्ट करते हुए कहा कि यह संभवतः उसीका प्रतीक हो, परन्तु वह भी मुझे नही जचा। कारण कि यदि उपसर्गका प्रतीक होता तो धरणेन्द्र और पद्मावती भी अवश्य ही उपस्थित रहते। एक कल्पना और जोर

मार रही है कि मानो शख प्रक्षालनार्थ रखा गया हो, जैसा कि बौद्ध प्रतिमाओंमें पाया जाता है, परन्तु यहाँ यही उद्देश्य हो तो साथमें और भी पूजाके उपकरण चाहिएँ। यदि शख, लाछनके स्थानपर न हो तब तो मेरी कल्पना काम आ जाती, क्योकि प्राचीन पार्श्वनाथ भगवान्‌की मूर्तियाँ ऐसी अवलोकनमें आई हैं, जिनके पास अबिकाकी प्रतिमा है। यहाँपर भी माना जा सकता था, कि जो आम्रवृक्ष है, वही अबिकाका प्रतीक है और फनोंके कारण मूर्त्ति पार्श्वनाथकी है। जबतक कि प्राचीन शिल्प स्थापत्यके ग्रन्थोमें इस प्रकारके स्वरूपका पता न चले और इसी शैलीकी अन्य प्रतिमाएँ उपलब्ध नही हो जाती, तबतक जैनमूर्ति विधानमे रुचि रखनेवाले अभ्यासियोके सामने यह समस्या बनी रहेगी। एतद्‌विषयक गवेषकोमे मेरा विनम्र निवेदन है कि वे अपने अनुभवोसे इस समस्यापर प्रकाश डाले। यह मूर्ति खजुराहोसे प्राप्त की गई है और निर्माण काल दशम शताब्दी प्रतीत होता है।

६११—संख्यावाली प्रतिमा ३८″×३०″ इंच है, यह है तो बडी ही सुन्दर पर दुर्भाग्यसे उनका परिकर पूर्णत. खडित है। जैसा कि आप चित्रमे देख रहे है। जो भाग बच पाया है, वह इसकी विशालताका सूचक है। प्रधान प्रतिमाका मुख मडल भरा हुआ है, ओजपूर्ण है। मस्तकपर केश गुच्छक है, जैसा कि और भी अनेक जैन-प्रतिमाओंमें पाया जाता है। भामडल भी कलापूर्ण है। प्रतिमाके स्कन्ध प्रदेश पर पड़ी हुई केशावलीसे अवगत होता है कि मूर्ति श्री ऋषभदेवकी है। अधिष्ठातृ देवीके रूपमे, इसमे भी अबिका ही है। इस प्रतिमाके पृष्ठ भागकी ओर ध्यान देनेसे विदित होता है कि मूर्ति न जाने कितनी विशाल रही होगी। आश्चर्य नही चतुर्विंशतिका पट्ट भी हो। दक्षिण भागमें खंडित घुटनेवाली दो खड़ी जैन-मूर्तियाँ है, और इनके भी ऊपर तीन खडी हुई है। खडितांशसे पता लगता है कि ऊपरके और भागोमे भी मूर्तियाँ होगी, क्योकि प्रभामडल आधेसे अधिक खंडित है। इस अनुपातसे तो कम-से-कम २॥ फुटसे ऊपरकी प्रस्तर पट्टिका चाहिए, जिसमे छत्र, देवांगना, अशोकवृक्ष आदि चिह्न रहे होंगे।

बाँयी ओर भी दक्षिणके समान ही मूर्तियाँ होगी। इस ओरका भाग अपेक्षाकृत अधिक खंडित है। मुझे तो लगता है कि यह जान बूझकर किसी साम्प्रदायिक मनोवृत्तिवालेने तोड़ दिया है। कारण कि खंडित करनेका ढग ही कह रहा है। आज भी ऐसा करते मैंने तो कइयोको देखा है। राजिम (C.P.) मे एक कट्टर ब्राह्मणने पार्श्वनाथकी मूर्तिको एक जैनके देखते देखते ही लाठीसे दो टुकडे कर दिये।

प्रश्न होता है—इसका निर्माण-काल क्या रहा होगा? पुरानी सभी जैन-प्रतिमाओके लिए यही समस्या है। इसे अपने अनुभवोके आधारसे ही सुलझाया जा सकता है। इस मूर्तिमे तीन बाते ऐसी पायी जाती है जो काल निश्चित करनेमे थोडी बहुत मदद दे सकती है—(१) आसनके नीचेका भाग, (२) मस्तकपर केश गुच्छक, (३) भामडल-प्रभावली। मथुराकी प्रतिमाओसे कुछेकके आसन प्लेन होते है या साधारण चौकी जैसा स्थान होता है। इस प्रकारकी पद्धतिके दर्शन मध्यकालीन जैन-मूर्तियोमे होते है, पर कम। मकराकृतियाँ या कीर्तिमुखका भी अभाव इस प्रतिमामे है। (२) केश गुच्छक पुरानी मूर्तियोमे और गुप्तकालीन महुर्डाकी जैन मूर्तियोमे दिखलाया गया है, पर वे सारे मस्तकको घेरे हुए है। जब ७ वी शतीके बाद-वह केवल तलुआतक ही सीमित रह गया है। इस प्रकारका केशगुच्छक मध्यकालीन प्रस्तर और धातुकी मूर्तियोमे दिखाई पडता है। ११ वी शताब्दीतक इसका प्रचार रहा, बादमे परिवर्तन हुआ, (३) भामडल-प्रभावलीकी कमल पखुडियाँ भी मध्यकालीन बौद्ध प्रभामडलसे मिलती है। इन तीनो कारणोसे यह निश्चित होता है कि मूर्तिका रचनाकाल ९ वी शती से ११ वी शतीके भीतरका भाग होना चाहिए। इसी कालकी और भी मूर्तियाँ प्राप्त होती है। उनके तुलनात्मक अध्ययनमे भी यही फलित होता है।

६१२—सख्यावाली प्रतिमा तत्र स्थित समस्त जैन-प्रतिमाओंमें अत्यन्त विशाल है। लबाई चौडाई ५१″×१८″ है। कलाकी दृष्टिसे

और सौन्दर्यकी दृष्टिसे इसका कुछ भी महत्त्व नही है क्योकि शारीरिक गठन बडा भद्दा है। चरणोको देखनेसे पता लगता है कि दो खम्भे खड़े कर दिये हो। दोनो परिचारकोके साथ भक्त स्त्रियोके शिल्प अकित है, जो उत्तरीय वस्त्र और कछौटा धारण किये हुए है। बायी ओर मकरके बगलमे कुबेर, एव तदुपरि अबिका, गोदमे बच्चे लिये हैं। इसके ऊपर दो खड्गासनस्थ जैन-प्रतिमाएँ है। मस्तकके दोनो ओर देव-देवियाँ है। दक्षिण भागके कटावसे प्रतीत होता है कि इस विशाल मूर्तिका परिकर काफ़ी विस्तृत रहा होगा। सपूर्ण प्रतिमाको देखनेसे ऐसा लगता है कि यह किसी स्वतन्त्र मदिरसे सबधित न होकर किसी स्तम्भसे जुडी हुई, रही होगी। इसका प्रस्तर लाल है।

६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६८९M३५, ६९० M३५, ६९२M३५, ६९३M३०, ६९४M३९, ६९५M२२, इन सख्याओवाली समस्त मूर्तियाँ जैन है। स्थानाभावके कारण इनका कलात्मक विस्तृत परिचय दिया जाना सभव नही। उपर्युक्त प्रतिमाओके और भी श्रमण सस्कृतिसे सबधित स्फुट अवशेष काफ़ी तादादमे वहाँ पडे हुए है। उनमेसे एक ऐसे सुन्दर अवशेषपर दृष्टि केन्द्रित हुई, जिसका उल्लेख किये बिना निबन्ध अधूरा ही रहेगा। मुझे यह अवशेष इसलिए बहुत पसद आया कि इस प्रकारकी आकृतियाँ अन्यत्र कम देखनेको मिलती है। यह अवशेष एक दृष्टिसे अपने आपमे पूर्ण है, पर इसका स्वतन्त्र अस्तित्व भी सभव नही। चित्रमे आप देखेगे तो प्रधानत तीन तीर्थकरोकी मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होगी, जिनके मस्तकपर सुन्दर शिखर भी बने हुए है, जिनके अग्रभागमे एक-एक पद्मासनस्थ जैन-प्रतिमा उत्कीर्णित है। प्रधान तीनो प्रतिमाओमें उभय ओर सात एव पाँच फण युक्त पार्श्वनाथकी प्रतिमाएँ है, मध्यमें ऋषभदेवकी। तीनोके उभय ओर दो-दो कायोत्सर्ग मुद्रामे प्रतिमाएँ खुदी है। तीनो मूर्तियोके मध्यवर्ती भागमे दायी व बायी, क्रमश अबिका और चक्रेश्वरी अधिष्ठातृ देवियाँ, सायुध अवस्थित है। यहाँपर आश्चर्य तो इस

बातका है कि दोनों अधिष्ठातृ देवियोके निकट भागमे दो-दो कायोत्सर्ग मुद्राकी मूर्तियाँ है। अन्यत्र देवियोके पार्श्ववर्ती प्रदेशमें जैन तीर्थंकर की मूर्तियाँ नही मिलती। यदि मिलती है तो वीतरागके परिकरमे ही। उपर्युक्त दोनो शिखरोके मध्य भागमें दो हिस्से पड़ जाते है, जो दोनो देवियो-के ऊपर है। इनमे भी तीन तीन पद्मासनस्थ जैन मूर्तियाँ है। समस्त मूर्तियाँ यद्यपि वीतराग भावनाका प्रतीक है, तथापि मुख मुद्रामें सामंजस्य नही पाया जाता। इस सपूर्ण पट्टिकामे स्वतन्त्र मंदिरका अनुभव होता है। अब इसे स्वतन्त्र मदिर माने या किसी मदिरके तोरणका उपरिभ्रंश ? इसका निर्माणकाल ११ वी शतीके बादका प्रतीत नही होता है।

अम्बिका

नगर-सभा-सग्रहालयके उद्यान कूपके निकट छोटेसे छप्परमे एक ६८×३९ इचकी रक्त प्रस्तर शिलापर विभिन्न आभूषण-युक्त कलात्मक प्रतिमा, सपरिकर उत्कीर्णित है। इस प्रतिमाने मुझे ऐसा प्रभावित किया कि जीवन पर्यन्त उसका विस्मरण मेरे लिए असभव हो गया। बात यह है कि, सपूर्ण भारतमें इस प्रकारकी प्रतिमा आजतक न मेरे देखनेमें आयी है और न कही होनेकी सूचना ही मिली है। मूर्ति अंबिका देवीकी है। इसका परिकर न केवल जैन-शिल्प-स्थापत्य कलाका समुज्ज्वल प्रतीक है, अपितु भारतीय देवी-मूर्ति-कलाकी दृष्टिसे भी अनुपम है। स्पष्ट कहा जाय तो यह भारतीय शिल्प-स्थापत्य कलामें जैनोंकी मौलिक देन-सी है। यो तो अबिका इतनी व्यापक देवी रही है कि प्राचीन कालीन प्रायः सभी जैन मूर्तियोंमें इसकी सफल अभिव्यक्ति हुई है। साथ ही साथ पश्चिम एवं उत्तरभारतीय कलाकी बहुत-सी धारा इसीपर बही है, जैसा कि तत्र प्राप्त अवशेषोंसे फलित होता है। इस मूर्तिका वैशिष्ट्य न केवल कला या वास्तु-शास्त्रकी दृष्टिसे ही है, अपितु आभूषण बाहुल्यके कारण सामाजिक दृष्टिसे भी है। मूर्तिका सपूर्ण परिचय इस प्रकार है :—

शिलाके मध्य भागमे चतुर्भुखी अबिका ४१ इंचमे अकित है। चारों

हाथ खडित है। कठमे हँसुली प्रमुख बहुत-सी मालाएँ एव हाथमें भी बाजू-बन्द आदि आभूषण है। नागावलिसे हाथोका सौदर्य बढ गया है। केश-विन्यासके अग्र भागमे भी आभूषण हैं। केश-विन्यास मस्तकपर त्रिवल्यात्मक है, जैसा कि ११ वी शतीकी झासीके पास देवगढपर पायी जानेवाली देव-मूर्तियोमे एव नर्त्तकियोके मस्तकपर पाया जाता है। कमल-पुष्प मस्तककी छविमे अभिवृद्धि करते है। नासिका खंडित होनेके बावजूद भी मुख सौन्दर्यमे कमी नही आने पायी है। शान्ति ज्यों-की-त्यो बनी है। यद्यपि बदन इतना सुन्दर और भावपूर्ण बना है, तथापि कलाकार चक्षु निर्माणमे पश्चात्पाद रहा जान पडता है। कटि प्रदेशमे नाना जातिकी कटि मेखलाएँ एव स्वर्ण कटि मेखला कई लडोंकी सुशोभित है। खुदाई इतनी स्पष्ट है कि एक-एक कडी पृथक्-पृथक् गिनी जा सकती है। बुदेलखंडमे आज भी इस प्रकारकी कटि-मेखलाएँ, कई लड़ोमे व्यवहृत होती है। देवीके दोनों चरण सुन्दर वस्त्रसे आच्छादित है, जो सूक्ष्मताकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है, मानो कोई विविध बेलबूटोसे छपा हुआ वस्त्र हो। चरणमे नूपुर और तोड़े बने हुए हैं। सपूर्ण प्रतिमाको एक दृष्टिसे देखनेके बाद हृदयपर बडा गहरा असर पडता है। प्रतिमाकी दायी ओर एक बालक सिहपर आरूढ है। बायी ओर भी एक बालक खडा है। वह देवीका हाथ पकडे हुए होगा। दोनोके निम्न भागमें क्रमश. स्त्री और पुरुष अंजलिबद्ध अकित है। तन्निम्न भागमे कमलके दण्ड अपना सौन्दर्य बिखेर रहे है। यह तो हुआ प्रतिमाका शब्द चित्र। अब हमें इसके परिकरकी ओर जाना चाहिए। जो इसकी सुन्दरताको द्विगुणित कर देता है।

परिकर मूल प्रतिमाके डचोढेसे अधिक भागमे है। दायी प्रथम पक्तिके निम्न भागमे सर्वप्रथम एक चतुर्भुजी देवीकी खड़ी प्रतिमा अकित है। खड्ग, परशु आदि आयुधोके साथ है। इस प्रतिमाकी ऊपरकी पक्तिमें चार खड़ी जिन-मूर्तियाँ हैं। तदुपरि हाथी, अश्व और मकराकृतियाँ है। इनके ऊपर इस प्रकारके भाव उत्कीर्णित है, मानो कोई स्त्री पूजनकी सामग्री लिये

खडी हो। इसी प्रकार परिकरका बायाँ भाग भी बना हुआ है। दूसरी पक्तिके दोनो भागोमे नवग्रहोकी प्रतिमाएँ अकित है। तदुपरि दाहिनी एव बायी ओर यक्ष की प्रतिमाएँ है। हाथमे चक्र है। ऊपरके भागमें दाये बाये सात-सात देवियोकी प्रतिमाएँ है, जिनपर क्रमश काली, महाकाली, मानसी, गौरी, गाँधारी, अपराजिता, ज्वालामालिनी, आदि नाम अकित है। सभी देवियाँ अपने अपने आयुधोसे अकित है। दायी ओरकी मूर्तियोका दायाँ पैर और बायी ओरकी मूर्तियोका बायाँ पैर इस प्रकार काटा गया है, जैसे एक ही क्षणमें क्रमश खडित करते हुए कोई आगे निकल गया हो। उपर्युक्त वर्णित प्रत्येक प्रतिमाके दोनो ओर खास-खास स्तम्भ बने है। प्रत्येकके नीचे तख्ती जैसा स्थान रिक्त है, जिसपर नाम उत्कीर्णित है। सभी मूर्तियोकी भाव मुद्रा बडी प्रेक्षणीय एव सहृदय कलाकारकी कुशल कृति-का सुस्मरण कराये बिना नही रहती। प्रधान प्रतिमाके ऊपरी भागमे पाँच खडिताश दिखते है, जिनसे पता चलता है कि सभवत वहापर देवीके मस्तकका छत्र रहा होगा। तदुपरि मध्य भागमे एक देवीका प्रतीक अकित है। ऊपरके भागमे दो-दो देवियाँ सब मिलाकर चार देवियाँ है। इनके ऊपरी भागमे खडी एव बैठी दो-दो जिन-मूर्तियाँ है। दोनो ओर कमलोपरि विराजमान परिचारक-परिचारिकाएँ है। इनके ठीक मध्य भागमे देवीके मस्तकपर नेमिनाथ भगवान्की प्रतिमा है, शखका चिह्न स्पष्ट बना हुआ है। उपर्युक्त संपूर्ण परिकरमें १३ जिन-प्रतिमाएँ, २३ अवातर देवियोकी जो नेमिनाथ-भिन्न तीर्थकरोकी अधिष्ठातृ देवियाँ है—मूर्तियाँ तथा मध्यमे प्रधान प्रतिमा, सब मिलाकर २४ देवी-मूर्तियाँ है। प्रकृत मूर्तिके नीचेके भागमे एक पक्तिका लेख खुदा हुआ है। यद्यपि शामका समय हो जानेसे मै इसे पूरा पढ नही पाया, परन्तु इससे इतना तो पता चल ही गया कि **रामदास** नामक व्यक्तिने इसका निर्माण करवाया था, वह **पद्मावती**का निवासी था।

लबे विवेचनके बाद यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि इस कलाकृतिका

निर्माण काल क्या हो सकता है ? कारण कि निर्माताका नाम है, पर सृजन कालकी सूचना नही है। इससे निश्चित समयका भले ही पता न चले, पर अनुमित निर्णय तो हो ही सकता है। प्रतिमाके आभूषण, उनकी रचना शैली और लिपि इन तीनोंमेंसे मैंने इसका समय १२–१३ वी शतीका मध्य भाग माना है। कारण कि इस शैलीकी मूर्तियाँ और भी देवगढ तथा मध्यप्रान्तमे पायी गयी है।

उपर्युक्त कलाकृतिको घटो देखते रहिये, **"पदे पदे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"**पक्ति पुन पुन साकार होती जायगी। मनुष्य ऐसी कृतियोके सम्मुख अपने आपको खो बैठता है।

अम्बिकाकी[1] एक और मूर्ति

प्रस्तुत सग्रहालयमे ऐसी ही और भी आकर्षक मूर्तियाँ है, जो न केवल जैन-मूर्ति कलाका ही मुख उज्ज्वल करती है, अपितु नवीन तथ्योको भी लिये हुए है। इनके रहस्यसे भारतीय पुरातत्त्वके अन्वेषक प्राय वचित है। यद्यपि ये सभी एक ही रूपकका अनुगमन करती है, तथापि रचना काल और ढग भिन्न होनेके कारण कलाकी दृष्टिसे उनका अपना महत्त्व है। शब्द-चित्र इसप्रकार है —

एक वृक्षकी दो शाखाएँ विस्तृत रूपमे फैली हुई है, इनकी पखुडियोके छोरपर उभय भागोमे पुष्पमाला धारण किये देवियाँ है। वृक्षकी छायामे दायी ओर पुरुष और बायी ओर स्त्री अवस्थित है। पुरुषके बाये घुटनेपर एक बालक है। स्त्रीके बाये घुटनेपर भी बालक है, दाहिने हाथमे आम्रफल या बीजपूरक प्रतीत होता है। दोनो बालकोके हाथोमे भी फल है। पुरुषका दाहिना हाथ खडित है, अत निश्चित नही कहा जा सकता कि उसमें क्या था। पुरुषके मस्तकपर नोकदार मुकुट पडा हुआ है। गला यज्ञोपवीत और आभूषणोसे विभूषित है। दपत्ति स्वतन्त्र दो आसनपर विराजमान है।

---

[1]सतीशचन्द्र काला इसे 'मानसी' मानते है, यह उनका भ्रम है,

निम्न भागमे सात और मूर्तियाँ है, जो आमने-सामने मुख किये हुए है। वृक्षकी दोनो पंक्तियोके बीच जिन-भगवान्‌की प्रतिमा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।"

इसप्रकारकी प्रतिमा जब सबसे पहले राजगृह स्थित पचम पहाड़के ध्वस्त जैन-मंदिरके अवशेषोंमे देखी थी, तभीसे मेरे मनमें कौतूहल उत्पन्न हो गया था। भारतके और भी कुछ भागोमे इन्हीं भावोवाली मूर्तियाँ मिलती है। जिनपर भिन्न-भिन्न विद्वानोने अलग-अलग मत व्यक्त किये है। श्री रायबहादुर **दयाराम** सहानीका अभिमत है कि वह वृक्ष कल्पद्रुम है। ये बच्चे अवसर्पिणी, सुषम-सुषम समयकी प्रसन्न जोड़ियाँ है[1]। **श्री मदनमोहन नागरने** इस प्रकारके शिल्पको "कल्पवृक्षके नीचे बैठी हुई मातृकाओंकी मूर्ति" माना है[2]। श्री **वासुदेवशरण अग्रवालने** वृक्षको कल्पवृक्ष माना है और निम्न अधिष्ठित दम्पति युगलको यक्ष-यक्षिणी मानते हुए आशा प्रकट की है कि जैन-विद्वान् इसपर अधिक प्रकाश डालेगे[3]। जैन शिल्प-स्थापत्य तथा मूर्तिकलाके विशिष्ट अभ्यासी श्री **श्रीसाराभाई नवाबसे** पूछनेपर भी इस मूर्तिके रहस्यपर कुछ प्रकाश न पड़ सका। उपर्युक्त प्रथम दो विद्वानोंकी सम्मतियाँ ऐसी है जिनपर विश्वास करना प्राय कठिन है।

जब भारतके विभिन्न भागोमे इस शैलीकी मूर्तियाँ पायी जाती है, तब यह बात तो मनमें अवश्य आती है कि इनका विशिष्ट महत्त्व अवश्य ही रहा होगा, परन्तु जहाँतक प्राचीन शिल्प-स्थापत्य कला-विषयक ग्रन्थोंका प्रश्न है वे, प्राय. इस विषयपर मौन है। मेरी रायमे तो यह अंबिकाकी ही मूर्ति होगी।

---

[1] **जैन-सिद्धांत-भास्कर—भाग ८, किरण २, पृष्ठ ७१,**

[2] **प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २८३,**

[3] **श्री जैन-सत्यप्रकाश वर्ष ४, अंक १, पृष्ठ ८,**

ऐसी स्थितिमे यह समुचित जान पड़ता है कि यदि प्राचीनतम देवी-मूर्तियोंका अध्ययन किया जाय तो सभव है इस उलझनके सुलझनेका मार्ग निकल आये। यहाँपर श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्य शिल्प शास्त्रीय ग्रथोंमें अबिकाके जो स्वरूप निर्दिष्ट है उनके उल्लेखका लोभ सवरण नही किया जा सकता। इन स्वरूपोंसे मेरी स्थापनाको काफ़ी बल मिल जाता है। यहाँपर मैं एक बातको स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि सप्रदाय मान्य शिल्पशास्त्रके जितने भी स्वतन्त्र ग्रन्थ या एतद्विषयक उल्लेख एव उद्धरण उपलब्ध होते हैं, वे इस शैलीकी मूर्तियोंके निर्माण समयके काफी बादके है। तथापि दोनोमे आंशिक साम्य पाया जाता है एव जिस काल-में ग्रन्थोंका प्रणयन हुआ उस कालकी चित्रकलामें भी—विशेषत. पश्चिम भारतकी—अम्बिकाका वैसा ही रूप अभिव्यक्त हुआ है। अत कोई कारण नही कि हम इन परवर्त्ती उल्लेखों पर अविश्वास करें। प्रासगिक रूपसे यह भी बतला देना आवश्यक है कि शिल्प-शास्त्र जैसे व्यापक विषयमे साम्प्रदायिक मतभेदको स्थान नही हो सकता। क्योकि मै अपने अनुभवोके आधारपर देवी-मूर्तियोके सबधमें तो अवश्य ही दृढता-पूर्वक कह सकता हूँ कि, प्राचीन-कालमे देवी-मूर्तिके निर्माणमें सांप्रदायिक आग्रह नही था। कारण कि शिल्पशास्त्रीय उल्लेखोंके प्रकाशमे देवी-मूर्तियोको देखेगे तो प्रतीत हुए बिना न रहेगा कि उभय सप्रदायोमे परस्पर विरोधी भाववाली मूर्तियाँ भी बनी। जैसे दिगम्बर-मान्य शिल्प ग्रन्थके अनुसार जैसा रूप अबिकाका दिखता है, उसके अनुसार श्वेताम्बरोने मूर्त्ति बनायी और श्वेताम्बर मान्य-रूपके अनुसार दिगम्बर जैनोंने। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों-ज्यो सप्रदायके नामपर कदाग्रह बढ़ता गया, त्यो-त्यो अपने अपने रूप भी स्वतन्त्र निर्धारित होते गये। इसीके फलस्वरूप वास्तु-साहित्य-सृष्टि भी हुई। यदि प्राचीन मूर्तियोंको छोड़कर, केवल शिल्प कलात्मक ग्रन्थोके उद्धरणों पर ही विश्वास कर बैठें तो, धोखा हुए बिना न रहेगा।

श्वेताम्बर आचार्य रचित शिल्प ग्रन्थोमे अबिकाका रूप इन शब्दोमे वर्णित है :—

"तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां कूष्मांडीं देवीं कनकवर्णा सिंहवाहनां चतुर्भुजां मातुलिंगपाश-युक्त-दक्षिणकरां पुत्राङ्कुशान्वितवामकरां चेति।"

—उन्हीके तीर्थोमे कूष्माण्ड (अम्बिका) नामक देवी है, वह सुवर्ण वर्णवाली, सिंहवाहिनी और चार हाथवाली है। उसके दक्षिण उभय हस्तमें बीजपूरक और पाश है। बाये दो हाथोमे पुत्र और अकुश है। कुछ ग्रन्थोमे दाये हाथमे आम्रलुम्ब या फल रहनेके उल्लेख भी दृष्टिमे आये है।

दिगम्बर सप्रदायके अनुसार अबिकाका स्वरूप इस प्रकार है —

"सव्येकद्युपगप्रियंकरसुतं प्रीत्यै करे बिभ्रतीं,
दिव्याम्रस्तवकं शुभंकरकरश्लिष्टान्यहस्तांगुलीम्।
सिंहे भर्तृचरे स्थितां हरितमामाम्रद्रुमच्छायगां
वन्दारुं दशकार्मुकोच्छ्रयजिनं देवीमिहाम्रां यजे॥"

—दस धनुषके देहवाले श्री नेमिनाथ भगवान्‌की आम्रा (कूष्माण्डिनी) देवी है। वह हरितवर्णा, सिंहपर आरूढ होनेवाली, आम्र छायामे निवास करनेवाली और द्वयभुजी है। बाये हाथमे प्रियंकर नामक पुत्र स्नेहार्द्र आम्रडालको तथा दाये हाथमे दूसरे पुत्र शुभकरको धारण करनेवाली है।

उपर्युक्त पंक्तियोमे वर्णित अम्बिकाके दोनो स्वरूप सामयिक परिवर्तन-के साथ प्राचीन कालसे ही भारतीय मूर्त्तिकलामे विकसित रहे है। परन्तु इस मौलिक स्वरूपकी रक्षा करते हुए, कलाकारोने समयकी माँगको देखकर या सामाजिक परिवर्तनो एव शिल्पकलामे आनेवाले नवीन उपकरणोको अपना लिया है, जैसा कि प्रत्येक शताब्दीकी विभिन्नतम प्रतिमाओके अवलोकनसे ज्ञात होता है। यो तो प्राप्त अम्बिकाकी प्रतिमाओके आधार-पर उनके शिल्प-कलात्मक क्रमिक विकासपर सर्वांग पूर्ण प्रकाश डाला जाय तो केवल अम्बिकाकी मूर्त्तियोपर एक अच्छा-सा स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रस्तुत किया जा सकता है, क्योकि वह देवी अन्य तीर्थकरोकी अधिष्ठातृ देवियों-

की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध एव व्यापक रूपसे सम्मानित स्थानपर रही है जैसा कि **"रूप-मण्डन"**से प्रतीत होता है ।

२ नम्बरवाले चित्रमें जो आकृति प्रदर्शित है उसे मै सकारण सयक्ष अम्बिकाकी मूर्त्ति ही मानता हूँ। कारण कि उभय सम्प्रदाय मान्य उद्धरण भी इसके समर्थनमे ही है, उसे डा० वासुदेवशरण अग्रवाल आदिने कल्पवृक्ष माना है। परन्तु मै इसे आम्रवृक्ष मानता हूँ। पत्तियोका आकार बिलकुल आम्र-पत्रके सदृश है। दोनो पत्तियोके नुकीले भागपर देवियोकी पुष्पमाला लिये आकृति है, वह एक प्रकारसे परिकरका अग है। वृक्षके मध्य भागमे जो जिनमूर्त्ति दिखलाई पड़ती है वह नेमिनाथ भगवान्की ही होनी चाहिए, कारण कि अम्बिकाकी उपर्युक्त सग्रहालयमे जो मूर्त्ति है, उसपर भी नेमि जिन अकित है। प्रभास-पाटन,[1] खभात[2] आदि कुछ नगरोमे १२वी शतीकी ऐसी अम्बिकाकी मूर्त्तियाँ सपरिकर उपलब्ध हुई हैं जिनके मस्तकपर नेमिनाथ भगवान्की मूर्त्तियाँ हैं। जो स्त्री वृक्षके दाई ओर अवस्थित है वह निस्सन्देह अम्बिका ही होनी चाहिए। जो पुरुष दिखलाई पडता है उसे यदि गोमेध यक्ष मान ले तो सारी शकाएँ दूर की जा सकती है। अम्बिकाकी कुछ ऐसी भी मूर्त्तियाँ पाई जाती है जो आम्र वृक्षकी छायामे अकेली ही बैठी है।

राजगृहकी अम्बिका

राजगृहमे वैभारगिरि पर्वतपर गुप्तोत्तरकालीन कुछ खडहर है उनमे एक मानव-कदकी प्रतिमा है, जो आम्र वृक्षकी छायामे कमलासनपर बैठी स्त्रीकी है। जनता इस स्त्रीको महाश्रमण महावीरकी माता मानती है। वस्तुत यह अम्बिका ही है। कारण कि लुम्ब सहित आम्रवृक्ष अति

---

[1] **"भारतना जैन तीर्थो अने तेमनुं शिल्प-स्थापत्य, चित्र"** ८७

[2] **श्री जैनसत्यप्रकाश, वर्ष ७, अंक १, पृ० १८५**

स्पष्ट है। तदुपरि दोनो पार्श्वदोके बीच अर्थात् देवीके मस्तकपर भगवान् नेमिनाथकी प्रतिमा अवस्थित है। वृक्षकी छायामें अम्बिका बैठी है। शारीरिक विन्यास बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक है। इस प्रकारकी यह एक ही प्रतिमा **बिहारमें** उपलब्ध हुई है। स्त्री मूर्त्ति विधान शास्त्रकी दृष्टिसे इसका विशेष महत्त्व है।

एलोराकी अम्बिका

इसी प्रकारकी एक मानव-कदकी प्रतिमा एलौराकी गुफामें भी अंकित है। जिसका निर्माण-काल १०वीं शतीके आसपास है। आम्र-वृक्षकी सघन छाया है। राजगृहकी प्रतिमामें केवल आम्र वृक्षकी एक डाल अकित करके ही कलाकारने सतोष कर लिया है, जब कि प्रस्तुत प्रतिमाके मस्तकपर तो सम्पूर्ण सघन आम्र वृक्ष अकित है। इस देवीकी मुख्य प्रतिमाके ठीक मस्तकपर छोटी-सी पद्मासनस्थ प्रतिमा है, जिसे भगवान् नेमिनाथकी कह सकते हैं। यों तो शिल्पीने इस मूर्तिके निर्माणमें प्रकृतिसे इतना सामजस्य कर दिखाया है, जैसा अन्यत्र कम मिलेगा। विशेषता यह है कि आम्रवृक्ष-के दोनो ओर मयूर-मयूरियाँ अकित है। आम्रके टिकोरे-से उसके फल हैं। वृक्षपर कहीं-कहीं कोयल भी दिखाई पडती है। तात्पर्य कि कलाकारने वसन्ता-गमनके भाव अकित किये है। इसी प्रकारकी एक और प्रतिमा **कलोल स्टेशनसे** चार मील दूर शेरीसाके श्वेताम्बर जैन मन्दिरमें विद्यमान है। उपर्युक्त वर्णित प्रतिमा सिहासनपर विराजमान है। ऐसी ही प्रतिमा आबूमें भी पाई जाती है परन्तु यहाँ स्थानाभावसे उनका विस्तृत उल्लेख सभव नही है।

प्राचीन तालपत्रीय जैन चित्रोमें अम्बिकाके जो रूप मिलते है वे उपर्युक्त रूपोसे कुछ भिन्न हैं। ऐसा पता चलता है कि ११वी १३वी शतीमें गुजरातमें अम्बिकाकी मान्यता व्यापक रूपमें थी। आरासुर और गिरनारमें तो अबिकाके स्वतंत्र तीर्थ ही है। विमलशाके आबूवाले लेखमें इनकी स्तुति भी की गई है। (श्लो० ९)

इतने लबे विवेचनके बाद मै इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि राजगृह, रीवाँ, लखनऊ, मथुरा और प्रयाग आदि प्राचीन संग्रहालयोमें आम्रवृक्षके निम्न भागमे, सिहासनपर बैठी हुई, द्वय बालक युक्त, जितनी भी प्रतिमाएँ है वे भगवान् नेमिनाथकी अधिष्ठातृ अम्बिकाकी हो है।

अतिरिक्त सामग्री

उपर्युक्त पक्तियोमे जैनसस्कृतिके मुखको उज्ज्वल करनेवाले महत्त्वपूर्ण कलात्मक अवशेषोका यथामति परिचय दिया गया है, अत पाठक यह न समझ बैठे कि वहाँपर इतनी ही सामग्री है, अपितु वहाँपर ऐसी अनेक जिन-मूर्त्तियाँ है, जिनका महत्त्व मूर्तिकलाके क्रमिक विकासकी दृष्टिसे अत्यधिक है। समय अत्यन्त अल्प रहनेसे मै उनका सिहावलोकन न कर सका। विशेषत मै उन वस्तुओका भी अवलोकन न कर सका, जिनके लिए यहाँ-का सग्रहालय विशेष रूपसे प्रसिद्ध रहा है। मेरा सकेत वहाँके 'टेराकोटा'-मृण्मूर्त्तियोसे है। कारण कि यहाँका सग्रह इस विषयमे अनुपम माना जाता है। अधिकतर मृण्मूर्त्तियाँ कौशाम्बीसे प्राप्त की गई है। कौशाम्बी एक समय श्रमण-सस्कृतिकी एक धारा जैन-सस्कृतिका केन्द्र रही है।

भारतीय लोक-जीवनका सर्वांगीण प्रतिबिम्ब, यहाँके कलाकारो द्वारा मृण्मूर्त्तियोमे अधिक स्पष्ट रूपसे अभिव्यक्त हुआ है। जीवनके साधारणसे साधारण उपकरणपर भी कलाकारोने ध्यान देकर उन्हे अमरता प्रदान की है। जैन तथा उनके विषयोको भी मृण्मूर्त्तियो द्वारा प्रकाशित करनेका श्रेय कौशाम्बीके कलाकारोको ही मिलना चाहिए। प्रयाग-नगर-सभा-सग्रहालयमे बहुसख्यक मृण्मूर्त्तियाँ है, जिनका विषय जैन-कथाएँ है, परन्तु जैन-कथा साहित्यकी सार्वत्रिक प्रसिद्धि न होनेसे या एतद्विषयक साधन, प्रान्तीय भाषाओमे अनूदित न होनेके कारण, विद्वान् लोग इन "मृण्मूर्त्तियो"-को देखकर भी न समझ पाते है, न चेष्टा ही करते है। अच्छा हो कोई दृष्टिसपन्न जैन विद्वान्, इन विषयोंका अध्ययन कर, तथ्यको प्रकाशमें

लावे। इनकी उपयोगिता केवल श्रमणसंस्कृतिकी दृष्टिसे ही नही है अपितु भारतीय मानव समाजके क्रमिक विकासको समझनेके लिए भी है।

पुरातत्त्वकी विस्तृत व्याख्यामे प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंकी उपेक्षा नही की जा सकती। वहाँ प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ भी दस हज़ारसे कम सगृहीत नही है। इनमे एक हज़ारसे अधिक जैन-ग्रन्थ भी है। परन्तु इन समस्त ग्रन्थोके विवरणात्मक सूचीपत्रके अभावमे मै समुचित रूपसे ग्रन्थावलोकन न कर सका और न मेरे पास उस समय उतना अवकाश ही था, कि एक-एक पोथीको देख सकता। कुछ एक जैन चित्र भी चित्रशालामें लगे है, जिनका सबध कल्पसूत्र और कालककथासे है। कलाकी दृष्टिसे इनका कोई खास महत्त्व नही है। हॉ, मुगल एव कागड़ा शैलीके तथा तिब्बतीय बौद्ध चित्रकलाके कुछ अच्छे नमूने अवश्य सुरक्षित है।

अवशेष उपलब्धि-स्थान

इतने लम्बे विवेचनके बाद प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन अवशेषोकी उपलब्धि कहाँसे हुई। पुरातत्त्वका इतिहास जितना रोचक और स्फूर्तिदायक होता है कही उससे अधिक और प्रेरणाप्रद इतिहास पुरातत्त्व विषयक साधनोकी प्राप्तिका होता है। यहाँपर जो कलात्मक प्रतीक अवशिष्ट है, वे कहीसे भी एक ही साथ नही लाये गये है। समय और परिस्थितिके अनुसार सारनाथ, कौशाम्बी आदि नगरोसे एव विशेष भाग बुदेलखडसे सगृहीत किये गये है। एक-एक अवशेष अपनी रोचक कहानी लिये हुए है। प० **व्रजमोहनजी व्यास** इन अवशेषोकी कहानियाँ बडे रोचक ढगसे सुनाया करते है। बुदेलखड सचमुच एक समय कलाका बहुत बडा केन्द्र था। प्राचीन कालसे ही बुदेलखडने कलाकारोंको आश्रय देकर, भारतीय सस्कृतिकी समस्त धाराओं और सुकुमार भावोकी रक्षा, कठोर पत्थरो द्वारा की है। कलाकारोंका सम्मान न केवल साम्राज्यवादी शासक ही करते थे, अपितु नागरिकोने भी बहु-सख्यक प्रतिभा-सम्पन्न

कलाकारोंको, हृदय और मस्तिष्कके अनुकूल वायुमण्डल बनाकर, प्रोत्साहन दिया—खरीदा नही। जैन-पुरातत्त्वके इतिहासकी दृष्टिमे बुदेलखडका स्थान अति महत्त्वपूर्ण रहा है। जैन शिल्प-स्थापत्य कलाके उच्चतम प्रतीक एव विशेषत जैन मूर्ति-निर्माण-कला तथा उसके विभिन्न अंग-प्रत्यगोके विकासमे यहाँके कलाकारोने, जो दक्षता प्रदर्शित की है, वह रस और सौन्दर्यकी दृष्टिसे अनुपम है। खजुराहो और देवगढकी एक बार कलातीर्थके रूपमे यात्रा की जाय, तो अनुभव हुए बिना न रहेगा कि, उन दिनोके जैनोका जीवन कला और सौन्दर्यके रसिक तत्त्वोसे कितना ओतप्रोत था। जहाँपर एकसे एक सुन्दर भावमय, और उत्प्रेरक शिल्प कृतियाँ दृष्टिगोचर होगी, जिन्हे देखकर मन सहसा कलाकारका अभिनन्दन करनेको विवश हो जायेगा। खजुराहोका वह शैव मन्दिरवाला शिखर आज बुदेलखंडमें विकसित कलाका सर्वोच्च प्रतीक माना जाता है। इसके कलात्मक महत्त्वके पीछे प्रचारात्मक भावनाका बल अधिक है। यद्यपि इनसे भी सुन्दर कलापूर्ण जैन मन्दिरोंके शिखर, स्तम्भ और तोरण आदि कई शिल्प कलाके अलकरण उपलब्ध होते है, परन्तु वे जैन होनेके कारण ही आजतक कलाकारो और समीक्षको द्वारा उपेक्षित रखे गये है। कलाकारोकी दुनियामे रहनेवाला और सौन्दर्यके तत्त्वोको आत्म-सात् करनेवाला निरीक्षक यदि कला जैसे अति व्यापक विषयमे पक्षपातकी नीतिसे काम ले, तो इससे बढकर और अनर्थ हो ही क्या सकता है?

बुदेलखडके देहातोमे भी जैन अवशेष बिखरे पडे है। इनको देखकर हृदय रो पड़ता है और सहसा कल्पना हो आती है कि हमारे पूर्व पुरुषोने तो विशाल धनराशि व्यय कर, कलात्मक प्रतीकोका सृजन किया और उन्हीकी सन्तान आज ऐसी अयोग्य निकली कि एतद्विषयक नवनिर्माण तो करना दूर रहा, परन्तु जीवनमें स्फूर्ति देनेवाले बचे-खुचे कलावशेषोंकी रक्षा करना तक, असंभव हो रहा है। इस वेदनाका अनुभव तो वही कर सकता है, जो भुक्त-भोगी हो। हमारी असावधानीसे, हमारे पैरो तले,

हमारे पूर्वजोके कीर्तिस्तम्भ रौंदे जाते हैं। कही अशिक्षित और कहीं सुशिक्षित जनता द्वारा पुरातत्त्वकी बहुत बडी और मौलिक सामग्री बुरी तरह क्षत विक्षत की जा रही है। माननीय व्यासजीसे, यह सुनकर मुझे अत्यन्त ही आश्चर्य हुआ कि बुदेलखडके कुछ ग्रामोमे जैन और बौद्ध मूर्त्तियोके मस्तको (अन्य देवोंकी अपेक्षा इनके मस्तक कुछ बड़े भी होते है)को धड़से पृथक् कर उसे खरादकर कुण्डियाँ (पथरी) बनाई जाती है। उफ !

उपसंहार–

यहाँपर एक बात कहनेका लोभ सवरण नही कर सकता, वह यह कि भारतीय शिल्प और स्थापत्य कलाका मुसलमानोने बहुत नाश किया है––इस बातको सभी कलाकारोने माना है, परन्तु यदि सच कहना अपराध न माना जाय तो, मै कहूँगा कि जितना नाश मुसलमान न कर सके, उससे कई गुना अधिक हमारी साम्प्रदायिकताने किया है। मुसलमानोने तो केवल मन्दिरोको मस्जिदोमे परिवर्तित किया और कही मूर्त्तियाँ खडित की, परन्तु पारस्परिक साम्प्रदायिक कालुष्यने तो जैन व बौद्ध आदि मूर्त्तियाँ एव उपागोको निर्दयतापूर्वक क्षत विक्षत किया। इन पक्तियोका आधार सुनी सुनाई बाते नही, परन्तु जीवनका अनुभव है। पटना, प्रयाग, नालन्दा आदि कुछ सग्रहालयोमे श्रमण सस्कृतिसे सम्बधित कुछ ऐसी मूर्त्तियाँ मिली जिनकी नाक जानबूझकर आरियोसे तराश दी गई है। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते है।

यहाँपर मै नगर सभा-सग्रहालयके कार्यकर्त्ताओका ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि वे पुरातन अवशेषोको अधिकसे अधिक सुरक्षित रखनेके उपाय काममे लावे। जिन सभ्यताके प्रतिनिधि-सम खडित प्रतीकोको पृथ्वी माताने शताब्दियो तक अपनी सुकुमार गोदमे यथास्थित सँभालकर रखा, उन्हें हम विवेकशील मनुष्य अपने ऊपर रक्षाका भार लेकर, अरक्षित छोड नष्ट न होने दे। इन पक्तियोको मै विशेषकर इसलिए

लिख रहा हूँ कि वहाँपर जो अवशेष, जिस रूपसे रखे गये है, वे न तो कलाभिरुचिके द्योतक है और न सुरक्षाकी दृष्टिसे ही समीचीन। स्थानकी सफ़ाईपर ध्यान देना भी आवश्यक है। इतने सुन्दर कलात्मक अवशेषोंको पाकर भी कार्यवाहक-मडल इन्हे कलातीर्थका रूप न दे सका, तो दोष उनका ही होगा। बिखरे हुए कलात्मक अवशेषोको एकत्र करना कठिन तो है ही, परन्तु इससे भी कठिनतर काम है उनको सँभालकर सुरक्षित रखने का। यह भी तो एक जीवित कला ही है।

भारतीय स्थापत्य कलाके अनन्य उपासक रायबहादुर श्री **ब्रजमोहनजी व्यास**को धन्यवाद दिये बिना मेरा कार्य अधूरा ही रह जाता है। कारण, इस सग्रहालयको समृद्ध बनानेमे व्यासजीने जितना रक्तशोषक श्रम किया है, वह शायद ही दूसरा कोई कर सके। आज भी आपमे वही उत्साह और पुरातत्त्वके पीछे पागल रहनेवाली लगनके साथ, औदार्य भी है। आप सस्कृत साहित्यके गहरे अभ्यासी है। वैदिक सस्कृतिके परम उपासक होते हुए भी जैन पुरातत्त्व और साहित्यपर आपका आज भी इतना स्नेह है कि जहाँ कही भी कोई चीज मिलनेकी सभावना हो, आप दौड पडते है। वे मुझे बता रहे थे कि आज भी बुदेलखडसे दो बैगन भरकर जैन मूर्त्तियाँ मिल सकती है।[1] मुझे आपने जिस आत्मीयतासे तत्रस्थ जैन मूर्त्तियोके अध्ययनमे सुविधाएँ दी; उनको मैं किन शब्दोमे व्यक्त करूँ? इस सबधमे प्रकाशित कुछ चित्र भी उन्हीके द्वारा मुझे प्राप्त हुए है। श्री **संगमलालजी** अग्रवालके पुत्रने अपना समय निकालकर अवशेषोंकी फोटो आदिमे सहायता दी थी, एतदर्थ मै उनका भी आभारी हूँ।

२५ अगस्त १९४९]

---

[1]**बादमें १९५० में मैंने स्वयं उनके बताये हुए स्थानोंपर भ्रमण कर खंडहरोंका साक्षात्कार किया जिसका विवरण आगे दिया जा रहा है**

विन्ध्यभूमि की जैन-मूर्तियाँ
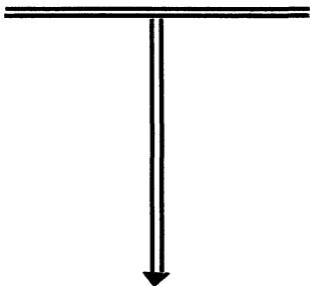
विन्ध्य प्रदेशका भूभाग प्राचीन कालसे ही भारतीय शिल्प-स्थापत्य कलासे सम्पन्न रहा है। भारत एव विदेशी सग्रहालयोंमे, बहुसख्यक प्रतीक इसी भूभागसे गये है, तो भी आज वहाँकी भूमि सौन्दर्यविहीन नही है। भरहूत स्तूप जैसी विश्वविख्यात कलाकृतिका सम्बन्ध इसीसे है, जो आज कलकत्ता और प्रयाग-सग्रहालयकी शोभा है। ससारप्रसिद्ध खजुराहो इसी रत्नगर्भाका एक ज्योति-खड है, शिल्प सौन्दर्यका अन्यतम प्रतीक है। एक समय था, जब यहाँ उत्कृष्ट कलाकारोका—स्थपतियोका—समादर होता था, शासक एव शासित दोनो कलाके परम उपासक थे। यहाँकी जनता एव कलाकारोने अपनी उत्कृष्ट सौन्दर्यसम्पन्न कलाकृतियोसे, न केवल इस भूभागको ही मडित किया, अपितु भारतीय-शिल्पकलाके क्रमिक विकासकी मौलिक सामग्री प्रस्तुतकर, भारतका सास्कृतिक गौरव द्विगुणित बढा दिया। आज भी भारत इसपर गर्व कर सकता है। पार्थिव सौन्दर्यके तत्त्वोकी परम्पराको यहाँकी जनताने सुन्दर रूपसे सँभाल रखा। शुग, वाकाटक, गुप्त एव तदुत्तरवर्ती शासकोके समय यहाँका सास्कृतिक धरातल प्रतिस्पर्द्धाकी वस्तु था। ग्राम-ग्राम और पहाडियोंपर इतस्तत. फैली हुई प्राचीन मूर्तियाँ, मदिर एव तथाकथित शिल्पावशेष, आज भी अपनी गौरव गरिमाका मौन परिचय दे रहे हैं। विन्ध्यभूमिके अवशेष कलाकारोकी उदात्त भावधारा, व्यापक चिन्तन एव गम्भीरताके परिचायक है। यहाँके कलाकार कोरे भावुक न थे, एव न आध्यात्मिक कृतियोके सृजन तक ही सीमित थे, अपितु उनने तात्कालिक लोकजीवनके विशिष्ट अगोको पत्थरपर कुशल करो द्वारा उत्खनन कर, समाजकी विकासात्मक परम्पराको अक्षुण्ण रखा। कल्पनाके बलपर उन्होने एक प्रकारसे जनताका नैतिक इतिहास, छैनीसे, मौन रेखाओ द्वारा खचित किया। शताब्दियो तक सास्कृतिक विचारधाराको अपनी दीर्घ साधनासे सुरक्षित रखा। उनकी कल्पना शक्ति, शिल्पवैविध्य,

सुललित अंकन, शारीरिक गठन एवं उत्प्रेरक तत्त्व आज भी टूटी-फूटी कलाकृतियोंमें परिलक्षित होते हैं। अतः निःसंकोच भावसे कहा जा सकता है कि भारतीय शिल्प-कलाका अध्ययन तब ही पूर्ण हो सकेगा, जब यहाँके अवशेषोंपर, जो आज भी अपेक्षाकृत पर्याप्त उपेक्षित हैं, गंभीर दृष्टि डाली जाय। विन्ध्य-भूमिके कलावशेष मौनवाणीसे कह रहे हैं कि कला कलाके ही नहीं अपितु जीवनके लिए भी है। यहाँ प्राकृतिक स्थानोंकी बहुलता होनेसे संस्कृति-प्रकृति और कला, त्रिवेणीकी कल्पना साकार हो उठती है।

जैन पुरातत्त्व

विवक्षित भूभागका प्राचीन कलावैभव भरहुत स्तूपमें परिलक्षित होता है। यही स्तूप प्रान्तका सर्वप्राचीन कलादीप है। घटनासूचक लेख होनेसे इसका महत्त्व कलाके साथ इतिहासकी दृष्टिसे भी है। भारतीय लोककलाका यह उच्चतम प्रतीक है। शुंगवंशके बाद भारशिव, जो परम शैव थे, शासक हुए। भूमरा जानेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। वहाँके अवशेष और **नागौद** राज्यसे पाये गये प्रतीक उपर्युक्त पंक्तिकी सार्थकता सिद्ध करते हैं। इस प्रसंगमें **नचना** और **लखुरबाग** भी उपेक्षणीय नहीं, जहाँ शैव संस्कृतिके ढेर अवशेष आज भी प्राप्त किये जा सकते हैं। ये स्थान भयंकर जंगल और पहाड़ियोंपर हैं। दिनको भी वनचरोंका भय बना रहता है। गुप्तोंके समयमें शिवपूजाका प्रचार काफी रहा। बादमें जैन पुरातत्त्वका स्थान आता है। प्रमाणोंके अभावमें निश्चित नहीं कहा जा सकता कि अमुक संवत्‌में जैन संस्कृतिका इस ओर प्रचार प्रारम्भ हुआ, परन्तु प्राप्त जैनमूर्तियों और **देवगढ़**के मंदिरोंपरसे इतनी कल्पना तो की ही जा सकती है कि गुप्तोंके समयमें जैनोंका आगमन इस ओर हो गया था। जैनाचार्य हरिगुप्त, जो तोरमाणके गुरु थे, इसी प्रान्तके निवासी थे। प्राकृत साहित्यकी कुछेक कथाएँ भी इसका समर्थन करती हैं। आज विन्ध्यप्रदेशमें जहाँ कहींपर भी खंडहरोंमें जाकर देखें तो, वहाँ जैन

अवशेष अवश्य ही दृष्टिगोचर होगे, भले ही वहाँ जैनी न बसते हों। गत वर्ष मैने स्वय भ्रमण कर, अनुभव किया है। नदी तीर, जलाशय, कूप एवं वापिकाओ तकमें जैनमूर्तियाँ उपेक्षित-सी पडी हैं। मकानोकी दीवालो-मे तो मूर्तियोका रहना आशिक रूपसे क्षम्य हो भी सकता है, पर मैंने दर्जनो मूर्तियाँ सीढियो और पाखानोमेसे निकलवाई है। यह साम्प्रदायिक दूषित मनोभावोका प्रदर्शन मात्र है। पचासो स्थानपर जैन मूर्तियाँ **"खैरमाई"के** रूपमे पूजी जाती हे। **जसो, मैहर, उचहरा** और **रीवांमे** मैने स्वय इस प्रकार उन्हे अर्चित देखा है। आज प्रयागसग्रहालयमें जितनी भी जैन प्रतिमाएँ है, उनमेसे बहुत बडा भाग विन्ध्यप्रान्तसे प्राप्त किया गया है। जसोमे तालाबके किनारे एक हाथी मर गया, जहाँ उसे गाडा गया, वहाँ कुछ गढा रिक्त रह गया, तब जैन मूर्तियोसे उसकी पूर्ति की गई। जसो जैन मूर्तियोका नगर है। जहाँ खोदे वही मूर्ति। यह हाल सारे प्रान्तका है। कई सुन्दर जैन मन्दिर भी अवश्य ही रहे होगे, कारण कि तोरणद्वारके जैन अवशेष और मानस्तभ तो मिलते ही है। मन्दिर न मिलनेका केवल यही कारण पर्याप्त नही है कि वे गिर पडे, परन्तु मुझे तो ऐसा लगता है, जहाँ जैन थे वहाँ तो मन्दिर सुरक्षित रहे, जहाँ न थे वहाँ मूर्ति बाहर फेंक दी और ये अजैनोके अधिकृत हो गये। एक दर्जन स्थान मैने स्वय ऐसे देखे है। वहाँकी जनता भी स्वय स्वीकार करती है।

यहाँपर मै एक बातका स्पष्टीकरण कर दूँ कि मैं सम्पूर्ण विन्ध्यप्रान्तमे नही घूमा हूँ, अत जिन अवशेषोको मैने स्वय देखा, समझा, उन्हीके आधार-पर विचार उपस्थित कर रहा हूँ। हाँ, इतनी सामग्रीसे मेरा विश्वास अवश्य मजबूत हो गया है कि यदि केवल कलात्मक अवशेषोकी गवेषणाके लिए ही विन्ध्यप्रान्तका भ्रमण किया जाय तो नि स्सन्देह जैन शिल्पस्थापत्य कलाके अनेक अश्रुतपूर्व भव्य प्रतीक प्राप्त किये जा सकते है। बहुत स्थानोसे मुझे सूचनाएँ मिली थी कि वहाँ बहुत कुछ जैन सामग्री है। पर पैदल चलनेवाला आखिरमे इतने विस्तृत भूभागपर कहाँतक चक्कर काट

सकता है, वह भी सीमित समयमे । मैंने तो केवल **सतना और रीवाँ** ज़िलेके स्थान ही देखे है, जो मेरे मार्गमे थे । **देवतलाव, मऊ, प्योहारी, गुर्गी, नागौद, जसो, लखुरबाग, नचना, उचहरा, मैहर** आदि प्रधान स्थान एवं तत्सन्निकटवर्ती स्थानोके अवशेष इस बातकी साक्षी दे रहे है, कि एक समय उपर्युक्त भूभाग जैनोके बडे केन्द्र रहे होगे। १२-१२ हाथकी दर्जनो बडी मूर्तियोका मिलना, सैकडो जैन मन्दिरोके तोरणद्वार एव मूर्तियोकी प्राप्ति, उपर्युक्त बातकी ओर गम्भीर सकेत करती है। मुझे तो ऐसा लगता है कि मध्यकालीन जैनसस्कृति और कलाके केन्द्रकी घोर उपेक्षा हो रही है। आश्चर्य तो इस बातका है कि इस ओर जैनोकी सख्या भी सापेक्षत कम नही है। सच बात तो यह है कि उनकी इस ओर रुचि नही है। दुर्भाग्यसे भावुक मानसमे एक बात घर कर गई है कि टूटी मूर्ति देखना अपशकुन है।

मेरा विषय यहाँपर अत्यन्त सीमित है, यानी रीवां, रामवन, जसो, उचहरा, मैहर आदि स्थानोके जैन अवशेषोका परिचय कराना। परन्तु इत. पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि विन्ध्यप्रान्तीय जैन पुरातत्त्वकी अपनी मौलिक विशेषताएँ क्या-क्या है ? किस कलासे कितना जैन कला-कारोने लिया ? एव चलती आई परम्पराको निर्वाह करते हुए सामयिक परिवर्तन कौन-कौनसे और कैसे किये ? मै मानता हूँ कि—जैन मूर्तियोकी मुद्रा निर्द्धारित है, उसमे सामयिक परिवर्तन कैसा ? परन्तु यह देखा गया है कि कलाकार हमेशा प्रगतिका साथी होता है, युगकी शक्तिको देखकर उसे मोडता है, तभी उसकी कृतियाँ प्राचीन होते हुए, आज भी हमे नूतन लगती है। सामयिक उचित परिवर्तन सर्वत्र अपेक्षित है।

कुछ विशेषताएँ—

ऊपर सूचित भूभागकी जितनी भी जैन मूर्तियाँ स्वतन्त्र या तोरण-द्वारमे पाई जाती है, प्राय· सभी अष्टप्रतिहार्य युक्त ही होती है, भले ही

वे कितनी ही लघुतम क्यों न हो। प्रत्येक प्रतिमामें दाईं बाईं क्रमशः यक्ष यक्षिणी एव श्रावक-श्राविकाका अकन अवश्य ही होगा, जब कि अन्य प्रान्तकी बहुत-सी ऐसी प्रतिमाएँ मिलेगी, जिनमे यक्ष-यक्षीका अभाव पाया जायगा। विन्ध्यके कलाकार इस बातमे बहुत सजग थे। ३००से अधिक मूर्तियाँ मैंने देखी, सभीमे उक्त नियम स्पष्ट परिलक्षित होता आया है। दूसरी देन स्वतन्त्र आसनकी है, अन्य प्रान्तकी मूर्तियोका आसन प्रायः कमलकी आकृतिसे खचित या प्लैन रहता है। पर विन्ध्यका आसन उन सबमे अलग ही निखर उठता है। विन्ध्यमूर्तिका निम्न भाग ऐसा होता है—दोनो ओर मगलमुख-सशरीर होते है। इनके मस्तकपर एक चौकीनुमा भाग होता है। दो स्तम्भ एव किनार, तदुपरि अग्र भागमें बारीक खुदाईको लिये हुए लटकता हुआ वस्त्र-छोर, ऊपर गद्दी जैसा चौडा ऊँचा आसन, इसपर मूर्ति दृष्टिगोचर होगी, ऐसा आसन महाकोमल और विन्ध्यप्रदेशको छोड़कर अन्यत्र न मिलेगा। तीसरी विशेषता यह भी दृष्टिगोचर हुई, जिसका उल्लेख शिल्प या वास्तु ग्रथोंमे नही है, पर कलाकारोन प्रभावमे आकर अकन कर दिया प्रतीत होता है जो स्वाभाविक भी जान पडता है। यद्यपि यह विशेषता उतनी व्यापक नही है। नागौद और जसोमे मैंने १२ प्रतिमाएँ ऐसी देखी जिनका परिकर उनके जीवनके विशिष्ट प्रसगोसे भरा पडा है। भगवान् ऋषभदेवके पुत्रोका राज्यविभाजन, दीक्षाप्रसग, भरत-बाहुबलीयुद्ध आदि। महावीर स्वामीकी प्रतिमामे कुछेक पूर्वभव और दीक्षा-प्रसग अकित है। ये दोनों अपने ढगका अन्यतम एव अश्रुतपूर्व है। दशावतारी विष्णु और शिवजीकी ऐसी प्रतिमाएँ मिलती है। कलाकारने इनका अनुसरण किया ज्ञात होता है। अन्यत्र आबू आदि जैन मन्दिरोंमे तो तीर्थंकरोके पूर्वजीवनके वैराग्यो-त्प्रेरक भावोका अकन पाया जाता है, पर परिकरमें कही सुना नही गया। इस ओरकी अधिकतर प्रतिमाएँ ऐसी मिलेगी, जिनपर सम्पूर्ण शिखरकी आकृति बनी रहती है। जगतीसे लगाकर कलशतक सकल अलंकृत

रहता है। तोरणद्वारोंवाली आकृतियाँ भी इनसे मेल खाती हैं। शिखर नागर शैलीके मिलते है, यह शैली भारशिवों द्वारा आविष्कृत हुई है।

यक्षिणीका व्यापक रूप

शासनदेवियोमे पद्मावती, अम्बिका और चक्रेश्वरीकी मान्यता सर्वत्र प्रधान रूपसे प्रसृत है। पर इस ओर तो सभी तीर्थंकरकी यक्षिणीका स्वतन्त्र अकन साधारण बात थी। अम्बिका और चक्रेश्वरीके, यहाँकी मूर्तिकलामे, कई रूप मिलते है। चक्रेश्वरीकी बैठी और खडी कई प्रकारकी स्वतंत्र मूर्तियाँ मिलती हैं। स्वतत्र मदिर तो इसी ओरकी देन है। अम्बिकाका व्यापक व्यक्तित्व जितना यहाँके कलाकार चित्रित कर सके हैं, शायद अन्यत्र न मिले। एक ही अम्बिकाके ३-४ रूप मिलते है। प्रथम तो सामान्य रूप जैसा परिकरमे उत्कीर्णित रहता है। दूसरा प्रकार शुगकालीन कलाका स्मरण दिलाता है। मथुराके अवशेषोमे इसकी अभिव्यक्तिका पता लगाया जा सकता है। आम्रवृक्षकी छायामे गोमेधयक्ष और यक्षिणी अम्बिका बालकोको लिये क्रमश दायी बायी ओर अवस्थित है। वृक्षपर भगवान् नेमिनाथ पद्मासनमे हैं। निम्न भागमे राजुल भी प्रभुके प्रशस्त पथका अनुकरण करती हुई बताई है। जसोमे प्राप्त प्रतिमामे भी एक नग्न स्त्री वृक्षपर चढनेका प्रयास करती हुई बताई है, उनका मुख ऊपरवाली मूर्तिकी ओर है, सतृष्ण नेत्रोसे देख रही है, मानो प्रभुके चरणोमे जानेको उत्सुक हो। इस प्रकारकी मूर्तियाँ विन्ध्यभूमिके अतिरिक्त तन्निकटवर्ती महाकोसलके **त्रिपुरी, गढ़ा, पनागर, बिलहरी** और **कारीतराई** आदि स्थानोमे भी मिलती हैं। इस शैलीका प्रादुर्भाव कुषाणकालमे हो चुका था, जैसा कि **मथुरा** और **कौशाम्बी**के जैन अवशेषोसे सिद्ध होता है। विन्ध्य-कलाकारोने इसमे सामयिक परिवर्तन किये। अम्बिकाका तृतीय रूप प्रस्तुत निबन्धमे ही वर्णित है। उच्चकल्प-उचहराके खडहरोमे एक रूप और देखा जो विचित्रताको लिये हुए है। ४०×२६ इचकी शिलापर

एक सघन फल सहित आम्रवृक्ष उत्कीर्णित है। देवी अम्बिका इसकी डालपर बैठी है। निम्न स्थानमे पूँछ फटकारता हुआ सिह, तनकर खडा है। सर्वोच्च भागमे भगवान् नेमिनाथ पद्मासनम है। दोनों ओर एक एक खड्गासन भी है। केवल अम्बिका, पद्मावती या चक्रेश्वरीके मस्तकपर क्रमश नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और युगादिदेव तो प्राय सर्वत्र ही मिलते है।

पाठक देखेगे कलाकार जैन वास्तुशास्त्रकी रक्षा करते हुए, सामयिक परिवर्तन करते गये है।

शैवप्रभाव

यक्ष और यक्षिणियोकी प्रतिमाओपर शैवकलाकृतियोका आशिक प्रभाव•दृष्टिगोचर होता है। यहाँ शुग कालसे ही उनका प्रचार था, बादमे उत्तरोत्तर बढता ही गया। भारशिवोके समयमे तो वह मध्याह्नमे था, अत कलात्मक परम्पराका प्रभाव कलाकारोपर कैसे नही पडता ? शिवजीके जटा-जूटका अकन यहाँके यक्षोके मस्तकपर भी पडा। जितनी यक्ष मूर्तियाँ (परिकरान्तर्गत) है उनके मस्तकको जटा और गुथा हुआ रूप इसका द्योतक है। भगवान् ऋषभदेवकी जटा यहाँकी प्रतिमाओमे और ढगकी मिलती है--पूरा मस्तक जटासे आच्छादित रहता है, कुछ भाग उठा हुआ भी मिलता है। मुकुट भी इसीका विस्तृत कलात्मक सस्करण है। यह शैव सस्कृतिकी देन है। इस विषयपर मे अन्यत्र काफ़ी लिख चुका हूँ।

तोरणद्वार

मूर्तियोके अतिरिक्त इस ओर तोरणद्वार भी काफ़ी परिमाणमे मिलते है। खजुराहो, नचना, अजयगढ, गुर्गी, रीवाँ, जसो और उच्चकल्प--उचहरामे अनेको कलापूर्ण, विविध रेखाओसे अकित जैनतोरण मिले है। इनमे तीन प्रतिमाएँ 'जिन'की होती है और शेष भागमें कीर्तिमुख आदि रेखाएँ। किसी-किसीमे जैन तीर्थंकरोके अभिषेकके दृश्य भी देखनेमें आये।

कुछेकमें गोमटस्वामीकी प्रतिमा भी। मुख्यतः इसमे यक्षिणियाँ ही रहती है। प्रयाग-सग्रहालयमे भी एक दो तोरण है, जो विन्ध्य-भूमिसे ही गये थे।

मानस्तम्भ

अन्य जैनकलावशेषोके साथ मानस्तम्भ भी प्रचुर परिमाणमे उपलब्ध है। रीवाँमे मानस्तम्भका उपरिभाग अवस्थित है, जिसका शब्द-चित्र इसी निबन्धमे आगे दिया गया है। कुछेक मानस्तम्भ जसोमे मुसलमानोकी बस्तीमे पडे हुए है। इस ऊपरके भागमे सशिखर चतुर्मुख जिन रहते है। लाटके अग्र भागपर विविध रेखाएँ उत्कीर्णित रहती है।

उचहरावाले स्तभपर तो विस्तृत लेख भी खुदा है। पर देहातियों द्वारा शस्त्र पनारनेसे यह घिस गया है। परिश्रमसे केवल **"सरस्वतीगच्छ"** **"कुन्दकुन्दान्वये"** और **"आशधर"** यही शब्द पढे गये। हाँ, लिपिसे अनुमान होता है, इसकी आयु ७०० वर्षकी होगी। यह **आशधर** यदि **आशाधर** हो तो उनका आगमन इस ओर भी प्रमाणित हो जायगा। **गुर्गी** और **प्यौहारी**के निर्जन स्थानोमे जैन स्तभ प्रचुर-मात्रामे मिल सकते है, जैसा कि श्री **अयाजअली** सा० के कथनसे ज्ञात होता है। ये रीवाँ पुरातत्त्व विभागके अध्यक्ष है।

रीवाँके जैन अवशेष

रीवाँ, विन्ध्यभूमिकी वर्त्तमान राजधानी है। पुरातन शिल्पावशेषोकी भी इतनी प्रचुरता है कि २० लारियाँ एक दिनमें भरी जा सकती हैं। पर यहाँ उनका कुछ भी मूल्य नही है, तभी तो अत्युच्च कलात्मक प्रतीक योंही दैनन्दिन नष्ट हुए जा रहे हैं। रीवाँके बाजारसे किलेकी ओर जानेवाले मार्गपर बहुत कम ऐसे गृह मिलेगे जिनपर पुरातत्त्वके अवशेष न जड़े हों, या मार्गमें न पड़े हों। राजमहलमें भी कुछ अवशेष है। तात्कालिक शिक्षा सचिव श्रीयुत तनखा साहबका ध्यान मैने इस ओर आकृष्ट किया था, पर अधिक सफलता न मिल

सकी, कारण कि उन दिनों रीवाँपर राजनैतिक बादल मँडरा रहे थे।

रीवाँ-राज्यमे इतने पुरातन अवशेष उपलब्ध हुए है कि उनसे कई नये मन्दिर बन गये। **रीवाँका लक्ष्मणबागवाला** नूतन मदिर इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। वहाँके महन्तने **गुर्गीसे** कलापूर्ण अवशेषोंको मँगवाकर, आवश्यकतानुसार तुडवाकर, स्वतत्र मन्दिर अभी ही बना लिया है। इनमें जैन अवशेषोकी सामग्री भी मैने प्रत्यक्ष देखी। प्राचीन कलाका इतना व्यापक ध्वंस होनेके बावजूद भी, भारत सरकारका पुरातत्त्व विभाग मौन सेवन कर रहा है। रीवाँ-राज्यके बचे-खुचे अवशेष मौलवी **अयाजअली** द्वारा **"व्यंकट विद्यासदन"** मे पहुँच गये है और सापेक्षत सुरक्षित भी हैं। उपर्युक्त सदन साधारणत पुरातन अवशेषोका केन्द्र बन गया है। इसमे कई ताम्रपत्र शिलोत्कीर्णित लेख, प्राचीन मूर्तियाँ, कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ एव शस्त्रास्त्रोका अच्छा सग्रह है। जैन मूर्तियोकी सख्या भी पर्याप्त है। पर अपेक्षित ज्ञानकी अपूर्णताके कारण सभीपर जो लेबिल लगे हैं, वे इन्हें बौद्ध ही घोषित करते है। स्वतत्र भारतके अजायबघरमे ऐसे क्यूरेटर न होने चाहिए जो स्वय वहाँके योग्य न हों। उन्होने मेरे कहनेसे परिवर्तन तो कर दिया पर अजैन सैकडो अवशेषोपर गलत नाम लगे है। उदाहरण स्वरूप नृसिहावतारको **"सिहेश्वर देव"** फणयुक्त पार्श्वनाथको— **"सर्पेश्वर देव"** आदि।

रीवाँ सग्रहालयके जैन अवशेष इस प्रकार है—

सख्या ४—की मूर्ति २७ इच लम्बी २९ इच चौडी प्रस्तरकी शिलापर भगवान् पार्श्वनाथकी प्रतिमा अर्द्धपद्मासनस्थ अकित है, मस्तकपर घुँघुरवाले जैसी आकृति कलाकारने बतलाई है। लम्ब कर्ण, गलेकी रेखाये प्रेक्षकको आकृष्ट कर लेती है, छातीपर छोटी-मोटी टाँकीकी मार दिखाई पडती है। मुख पूर्णत खडित तो नही है, पर इस प्रकारसे जर्जरित हो गया है कि किसी भी प्रकारके भावोकी कल्पना नही की जा

सकती है। हाथोकी कुछ उँगलियाँ भी खडित व दक्षिण चरण भी खडित है। आकृतिसे अनुमान यही होता है कि खुदाई करते समय टूट गये होगे। प्रतिमाके मस्तक पर सप्तफण युक्त नाग है। फणे सभी टूट गई है। कलाकारने सर्पाकृतिको बैठकके नीचेसे शुरू की है, क्योंकि लंछनके स्थानपर पूँछका भाग बहुत ही स्पष्ट है। जिस आसनपर प्रतिमा विराजमान है, वह चौकीका स्मरण कराता है, उभय भागमे पार्श्वद है, जिनके मुख खडित है। उभय भाग पार्श्वद कमल एव लम्बे चँमर लिये खडे है। तदुपरि दोनो ओर देव देवी पुष्पमाला लिये एव नमस्कारात्मक मुद्रामे बतलाये गये है। तदुपरि दोनों हस्ती इस प्रकारसे शूँड मिलाये खडे है, मानो इन्हीकी शूँडोपर मध्य भागका छत्र आधृत हो। निम्न भागमे उभय ओर ग्राह ऐसे बताये है कि उनके मस्तकपर ही सारी प्रतिमाका भार लदा है। दोनो ग्राहोके बीच पद्मावतीकी छोटी मूर्ति अकित है। प्रतिमाका निर्माण काल १२वी शताब्दीके पूर्व तथा १३वी शताब्दीके बादका नही हो सकता। पत्थर साधारण है। प्रस्तुत प्रतिमापर परिचयपत्र है, जिसमे यह बुद्ध भगवान्की प्रनिमा कही गई है।

सख्या ५—लम्बी ५६ इच चौडी २६ इच है। यह प्रतिमा जैन मूर्ति कलाका सुन्दर प्रतीक है। अन्य मूतियोकी अपेक्षा भिन्न भी है। कमसे कम मेरी दृष्टिमे ऐसी मूर्ति आजतक नही आई। कलाकी दृष्टिसे तो अनुपम है ही, साथ-ही-साथ प्रतिमा-विधानकी दृष्टिसे भी विलक्षण है। शब्द-चित्र इस प्रकार है—

ऊपर सूचित विस्तृत पत्थरशिलाके मध्य भागमे जिनप्रतिमा उत्कीर्णित है। मस्तकपरके बाल आदि चिह्न सख्या ४वाली मूर्तिके अनुरूप होते हुए भी पालिस होनेके कारण वह सुन्दर जान पडती है। पार्श्वद कलात्मक ढगसे खडे किये गये है, उनके मस्तकपरका केशविन्यास प्रेक्षणीय है। और तीर्थंकरोकी प्रतिमाओंमे पार्श्वद जिस प्रकार खडे किये जाते है, उनमे और इनमें थोडा अन्तर है। इस परिवर्तनमे पार्श्वद बिलकुल तीर्थंकरके सामने

इस प्रकार मुखमुद्रा बनाये हुये खडे है, मानो वे सेवाके लिए तत्पर हो। भाव भगिमा भक्तिके अनुरूप है । पार्श्वदके पिछले हिस्सेमे बैठा हुआ हस्ती आवेशमे आकर, इस प्रकार अपनी शूंड ऊँची किये हुए है और ग्राहके पूँछको दबाये हुए है, मानो शूंडके बलपर ही वह खडा है । खास करके शेरका शारीरिक चित्र इस प्रकार खीचा है, कि मानो वह हाथीकी शूंड शिथिल होते ही गिर पडेगा । मूर्ति अर्द्धपद्मासनस्थ है। हाथ और चरणका कुछ भाग खडित है । इस मूर्तिका आसन भी कुछ अनोखेपनको लिये है और जितनी भी प्रतिमाएँ मैंने देखी उन सभीका आसन उतना चौडा है जितनेमे वह पलथी मारकर बैठ सके, परन्तु इसका आसन ऐसा बना है मानो वह टिकनेके स्थानसे, अतिरिक्त स्थान चाहती ही न हो । अर्थात् दोनो ओरके घुटने आसनसे काफी आगे निकले हुए है। आसनकी बनावट भी और प्रतिमाओसे अधिक सौन्दर्यसम्पन्न है । इसके निर्माणमे कलाकारने तीन भाव बताये है । प्रथम---एक चौकी निम्न भागके विशाल ग्राहके सरपर आधृत बताई है, साथ-ही-साथ ग्राहकी गर्दनके पास दो छोटे स्तम्भ भी बना दिये गये है, जो ऊपरकी चौकीको थामे हुए है। चौकीके अगले भागपर साधारण रेखाएँ है । इसके ऊपर एक वस्त्र छिपा हुआ है, जिसका अग्र भाग दो स्तम्भोके बीच सुशोभित है। वस्त्रकी उठी हुई विभिन्न रेखाएँ इस बातकी कल्पना कराती है कि जरी या किसीसे भरा हुआ है । मध्यमे शखका चिह्न स्पष्ट है। इसी वस्त्रके ऊपर दो इच मोटी गद्दी जैसा आकार बना है इसीपर मूल प्रतिमा विराजमान है। इस प्रकारके आसनकी कल्पना बहुत कम दृष्टिगोचर होती है । अब प्रतिमाके दोनो ओर जो विचित्र मूर्तियाँ उत्कीर्णित है, उन्हे भी देखे । दाई ओर निम्नभागमे एक महिला हाथ जोडे वन्दना कर रही है। महिलाका मुख बहुत चपटा बनाकर कलाकारने न्याय नही किया । बाजू-बन्द आदि आभूषणोके साथ सुन्दर नागावली बनी हुई है । केश-विन्यास १३वीं शताब्दीके अन्यावशेषोसे मिलता-जुलता है । इस मूर्तिके ऊपर एक खडित

प्रतिमा अवस्थित है। इसका पेट आवश्यकतासे अधिक फूला हुआ है। गलेमें आभूषण, कटिप्रदेशमे संकल एवं बाएँ हाथमें सर्प दिखलाई पड़ते है। मस्तकका पूर्ण भाग तथा दाएँ हाथ और पैरका भाग खंडित है। यह मूर्ति निःसन्देह कुबेरकी ही होनी चाहिए। कारण कि कुबेरकी इस प्रकारकी प्रतिमाएँ अन्य जैन मूर्तियोमें दिखाई पड़ती है। मूल नेमिनाथ भगवान्‌की प्रतिमामे दोनों स्कन्धप्रदेशोंके निकटवर्ती भागमे आकाशमे उमड़ते हुए गन्धर्व पुष्पमाला लिये उठे हुए बतलाये गये है। तदुपरि दोनो ओर अन्य मूर्तियोंके अनुसार हाथी खडे हुए है, जो मध्यवर्ती छत्रको थामे हुए होगे। छत्रका भाग खडित है, केवल दंड दिखलाई पडता है। दोनो हाथियोके पीछे क़रीब ६, ६ इचकी खड्गासनमें जिनप्रतिमा खुदी हुई है। दायी ओर तो किसी तीर्थंकरकी मूर्ति लगती है, परन्तु इस प्रकारकी बायी ओर जो मूर्ति है, वह आकृतिमे कुछ अधिक लम्बी है। हाथ घुटनेतक लगे है। प्रतिमाके शरीरके उभय भागमें दो रेखाएँ एव हाथोमे भी कुछ रेखाएँ दिखलाई पडती है। जहाँतक मेरा अनुमान है, यह मूर्ति बाहुबली[1] स्वामीकी ही होनी चाहिए। कारण कि दिगम्बर जैन सम्प्रदायमे इसका स्थान बहुत ऊँचा माना गया है। दूसरा यह भी कारण दिखलाई पडता है, कि उपर्युक्त मूर्ति तीर्थंकरकी तो हो ही नही सकती, कारण २४ हीके हिसाबसे भी वह अलग पड़ जाती है। जैसे कि नेमिनाथ भगवान्‌को छोड़कर अतिरिक्त २३ जिन-मूर्तियाँ और खुदी है। हाथी और छत्रके ऊपरके भागमें पक्तियोमे पद्मासनस्थ जैन मूर्तियाँ है। छत्रके उभय ओर ३, ३ और ऊपरकी दो पंक्तियों ८, ८ मूल प्रतिमाके मस्तकके पश्चात्

---

[1] महाकोसलमें भी दर्जनों ऐसी मूर्तियां मिली है, जिनमें गोम्मट स्वामी-का अंकन पाया जाता है। उन दिनों यात्राकी कठिनाइयोंके कारण भक्तगण अपनी भक्तिके निमित्त किसी भी तीर्थंकरकी प्रतिमाके परिकरमें बाहुबली स्वामीका प्रतीक खुदवा लेते होंगे,

भागमें प्रभावलीके स्थानपर सुन्दर खुदाईका काम पाया जाता है। अब हम बाह्य भागकी पार्श्वस्थ मूर्तिको भी देख लें। निम्न भागसे मूल प्रतिमाके घुटनेतक १६॥ इचकी एक स्त्रीमूर्ति खुदी है। यह मूर्ति, मूर्ति-विधानकी दृष्टिसे बहुत ही सुडौल और आकर्षक बनी है। मस्तकपर एक वृक्ष बताकर कलाकारने यह साबित करनेकी कोशिश की है कि प्रतिमा किसी वृक्षकी छायामे खडी है। वृक्षका बायाँ भाग एव मूर्तिका बायाँ भाग खडित है। स्त्री-मूर्तिका केशविन्यास मस्तकपर बँधा हुआ है। गलेमे मालाएँ एव कटिप्रदेश विभिन्न अलकरणोसे अलकृत है। नाभिप्रदेश बहुत स्पष्ट है। कलाकारने इस प्रतिमाका निर्माण ऐसे मनोयोगसे किया है कि वह साक्षात् स्त्री हीका आभास कराती है। प्रतिमाका खडे रहनेका ढग, ऊँचेसे कमरतक सीधा, बायाँ पैर आगे और कटिप्रदेश बाईं ओर झुकनेके कारण स्तन एव कटिप्रदेशके मध्य भागमे रेखाएँ पड़ गई है। मूर्तिके दाहिने हाथमे आम्रलुम्ब है, परन्तु बाये हाथमे क्या था, यह नही कहा जा सकता। दाएँ चरणके निम्नभागमें एक बालक हाथमे मोदक लिये बैठा है। बाएँ चरणके पास भी एक आकृति ऐसी दिखाई पड़ती है, जो बालककी प्रतिमा ज्ञात होती है, क्योकि बालकके कटिप्रदेशका पृष्ठभाग बहुत स्पष्ट है। मालूम पड़ता है, वह माँसे खेल रहा हो, इस मूर्तिके निम्न भागमे आवेशयुक्त मुद्रामे शेर पूँछ उठाकर बैठा है, और एक स्त्री सामने हाथ जोडे नमस्कार कर रही है, यद्यपि शेरके सामनेवाला भाग बहुत छोटा-सा और कुछ अस्पष्ट है, परन्तु केशविन्यास और स्तनप्रदेश बहुत स्पष्ट है। इन पक्तियोंसे पाठक समझ ही गये होगे कि उपर्युक्त वृक्षकी छायामे खडी हुई मूर्ति अम्बिकाकी ही है। वृक्ष आम्रका है, आम्रलुम्ब स्पष्ट है। दो बालक और सिंह, ये समस्त उपकरण अम्बिकाको ही सिद्ध करते है। अम्बिकाकी मूर्तियाँ स्वतन्त्र और परिकरोमे बहुत-सी दृष्टिगोचर हुई है, परन्तु इस प्रकारकी प्रतिमा अद्यावधि मेरे अवलोकनमे नहीं आई। सम्पूर्ण प्रतिमा

शिल्पकलाकी दृष्टिसे तो महत्त्वपूर्ण है ही, साथ ही साथ जैनमूर्ति विधानकी दृष्टिसे भी विविधताको लिये हुए है। इतने विवेचनके बाद प्रश्न रह जाता है कि इस मूर्तिका निर्माणकाल क्या हो सकता है ? क्योंकि निर्माता और निर्मापकने इसके निर्माणकालके सम्बन्धमे कुछ भी सूचित नही किया, तथापि अन्यान्य साधन और उपकरणोसे इसका काल १२वी सदीके पूर्व और १३वी सदीके बादका नही मालूम पडता, प्रथम कारण तो यह है कि मूर्तिका आसन एव विभिन्न देव गन्धर्व आदि जो आभूषण पहने हुए है, वे सभी उपर्युक्त सूचित समयके अन्य अवशेषोमे दिखलाई पडते है। उसके केसविन्यास भी लगभग इसी समयके है, और दूसरा कारण यह कि इसमे कुबेरकी मूर्ति दिखलाई गई है, यह १३वी शताब्दीतककी जैन मूर्तियोमें ही पाई जाती है, बादकी बहुत कम ऐसी मूर्तियाँ मिलेगी, जिनमे कुबेरका अस्तित्व हो। अम्बिकाका जैसा रूप इस मूर्तिमे व्यक्त हुआ है, वैसा अन्यत्र भी जैसे खजुराहो, देवगढ आदिकी मूर्तियोमे पाया जाता है। उन मूर्तियोमे इस टाइपकी अम्बिकावाली मूर्तियोका काल १२से १३वी शताब्दीका मध्य भाग पडता है। यह अम्बिकाका रूप दिगम्बर जैन शिल्पग्रन्थोंके अनुसार ही है। मूर्तिमे व्यवहृत पाषाण भी १२, १३वी सदीकी शिल्पकृतियोका है। मूर्तिके आसनके निम्न भागमे दो स्तम्भ दिखाई पडते है, वे भी काल निर्माणमे बहुत सहायता करते है। १२वी से १४वी सदीके बुन्देल और बघेलखडके मन्दिरोके स्तम्भ जिन्होने देखे होगे, वे कह सकते है कि इस प्रतिमामे व्यवहृत स्तम्भ भी हमारे ही कालके सूचक है। पाषाण भी कुछ ललाईको लिये हुए है, जैसा कि खजुराहो, देवगढ आदिके शिल्पमे पाया जाता है।

सख्या ६—की जैन प्रतिमाकी सम्पूर्ण आकृति देखनेसे ज्ञात होता है कि वह किसी जैन मन्दिरके गवाक्षमे रही होगी क्योकि दोनो ओर खम्भे, तत्पश्चात् पार्श्वद, मध्यमे खडी नग्न जैन मूर्ति, दाईं ओर पुष्पमाला लिये गन्धर्व, बायाँ भाग काफ़ी खडित है। समय १५वी सदीका ज्ञात

होता है। यह मूर्ति मस्तकविहीन है। लम्बाई १५ इच चौडाई ११॥ इच है।

सख्या ३३—लम्बाई १३॥ चौडाई १७, यह किसी जैन मूर्तिका परिकर प्रतीत होता है। आजू बाजू पार्श्वद और दोनो ओर ३, ४, मूर्तियाँ खड्गासन पद्मासन दायाँ ऊपरका कुछ भाग खडित है। कलाकी दृष्टिसे अति साधारण है।

सख्या ८८—प्रस्तुत अवशेष किसी जैन मदिरके तोरणका है, मध्य भागमे तीर्थकरकी मूर्ति ४॥ इचकी है, आजू बाजू परिचारिकाएँ चामर लिये अवस्थित है।

सख्या १२७—२६×१९॥ इच। प्रस्तुत प्रतिमा सयुक्त है। एक वृक्षकी छायामे दाई ओर यक्ष और बाई ओर दाई गोदमे बच्चा लिये एक यक्षणी अवस्थित है, दोनोके चरणोमे स्त्री-पुरुष बैठे है। यक्ष एव यक्षणियोके आभूषण और वस्त्र इतने स्पष्ट है कि तादृश वस्तुस्थिति उत्पन्न कर देते है। यक्षके मुखका कुछ भाग और मुकुट अजन्ताके चित्रकलाका सुस्मरण कराता है। दोनोके दाएँ बाएँ स्कन्धप्रदेशके पास कमलासनपर स्त्रियाँ हाथ जोडे बैठी है। वृक्षके मध्य भागमे जिनमूर्ति अवस्थित है, यह गोमेध यक्ष अम्बिका और नेमिनाथ क्रमश है। मूर्तिका निर्माणकाल १२वी सदीके बादका नही हो सकता, क्योकि पालकालीन शिल्पकला मूर्तिके अग-अंगपर विकसित हो रही है। उपर्युक्त मूर्तिके समान ही कुछ परिवर्तनके साथ १२७ वाली मूर्तिसे मेल खाती है। दोनोकी एक ही सख्या है।

सख्या ६९—की प्रतिमा एक देवीकी है, जो आम्रवृक्षके नीचे सिहपर सवारी किये हुए, बायी गोदमे एक बच्चा लिये बैठी है। दायी ओर एक बालक खडा है। दोनो आम्र पक्तियोके बीच तीर्थकरकी मूर्ति है।

सख्या ४२—की प्रतिमा ५२ इच लम्बी और २२ इच चौड़ी है। भगवान् पार्श्वनाथकी प्रतिमा खड्गासनस्थ है। दोनो हाथ एव दायाँ

पैर अधिक और कुछ बायाँ खडित है। दोनों ओर चरणके पास श्रावक श्राविका, पार्श्वद तदुपरि दोनों ओर पद्मासनस्थ दो-दो जैन मूर्तियाँ हैं। ऊपरके भागमें सप्तफणके चिह्न बने हुए है, निम्न भागमें दायी बायी ओर क्रमशः यक्ष, यक्षणी, धरणेन्द्र पद्मावती विद्यमान है।

सख्या ९०—यह भी किसी जैन मन्दिरके तोरणका अश है, मूर्ति प्राय खंडित है। अशोक वृक्षकी छायामे अवस्थित है।

संख्या ९३—यह भी है तो किसी तोरणका अश ही, पर उपर्युक्त अवशेषोसे प्राचीन है। मध्य भागमे तीर्थंकरकी मूर्ति बाजूके ऊपरी भागमें चतुर्भुजादेवी मनुष्यपर सवारी किये हुए अवस्थित है। समय अनुमानत. १३वी सदी है।

सख्या ४४—की प्रतिमाकी लम्बाई २९ इच, चौडाई १५॥ इच है। शिलापर स्त्रीमूर्ति चतुर्भुजी खुदी हुई है। दायाँ हाथ आशीर्वाद स्वरूप, ऊपरका गदा लिये और बाये निम्न हाथमे शख और ऊपर के हाथमे चक्र इस प्रकार चारो हाथ स्पष्ट है। मूर्तिका वाहन कोई स्त्रीका है। क्योकि पिछले भागमे केशविन्यास स्पष्ट दिखाई देता है। वाहनके दोनो ओर श्रावक-श्राविकाएँ वन्दना कर रही है। मूल देवीकी प्रतिमा हँसली, माला, जनेऊ धारण किये हुए है, परन्तु सभीमे नागावलीने मूर्तिका सौन्दर्य बहुत अंशोमे बढा दिया है। देवीके मस्तकपर पद्मासनस्थ तीर्थंकरप्रतिमा दिखलाई पडती है। दोनो ओर गन्धर्व पुष्पमाला लिये हुए खड़े है। इस प्रतिमामे व्यवहृत पाषाण **शंकरगढ़**[1]**की** तरफका है। ऐसा सुपरिण्टेण्डेण्ट

---

[1] **यह शंकरगढ़ यही होना चाहिए, जो उचहरासे कुछ मीलपर अवस्थित है। और यहाँपर भी जैन पुरातत्त्वके अतिरिक्त और भी कलात्मक साधन-सामग्री प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होती है। एक शंकरगढ़ प्रयागसे २८ मीलपर है। वहाँपर भी पुरातन मूर्तियाँ एवं एक मंदिर है। परन्तु यहाँ उल्लिखित शंकरगढ़ यह प्रतीत नहीं होता,**

ऑफ म्यूजियमके कहनेसे ज्ञात हुआ है। निर्माण काल १२वी सदीका ज्ञात होता है। कालकी दृष्टिसे यह मूर्ति अनुपम है।

संख्या ४७—की मूर्ति सर्वथा ४२के अनुरूप ही है, बहुत संभव है कि किसी मदिरके तीर्थंकरके पार्श्ववर्ती रही हो। इसके ऊर्ध्व भागमे उभय ओर हाथीके चित्र स्पष्ट रूपसे अकित हे।

संख्या ४९—लम्बाई ५२ इच चौड़ाई २९ इचकी प्रस्तर शिलाकर अष्टप्रातिहार्य युक्त जिनप्रतिमा खुदी हुई है। इसके दाये बायें घुटने एव हाथोकी उँगलियोका कुछ भाग खडित है। मस्तकपर सप्तफण दृष्टि-गोचर होते है। कलाकारने बायीं ओर सर्पपुच्छ दायी ओर एक चक्कर लगवाकर इस प्रकार मस्तकके ऊपर चढा दी है, मानो सर्पके ऊपर ही गोलाकार आसनपर मूर्ति अवस्थित हो। उभय ओरके पार्श्वद लम्बे बालवाले चमर लिये खड़े हे। पार्श्वद बुरी तरहसे खडित हो गये हें। नही कहा जा सकता कि उनके अन्य हाथोमे क्या था। पार्श्वदके दाये और बाये हाथोके पास क्रमश स्त्रीकी आकृतियाँ अकित है, वे इतनी अस्पष्ट हे कि निश्चित कल्पना नही की जा सकती कि वे किससे सम्बन्धित हे। तदुपरि दक्षिण भागपर एक कमलपत्रासनोपरि दो बालक एक ही स्थानपर एक ही आकृतिके है। इन दोनोके बाएँ हाथ् अभय-मुद्रा सूचक और दाये हाथमे कुछ फल लिये हुए है, ठीक ऐसी ही आकृति बॉयी ओर भी पायी जाती है। नही कहा जा सकता कि दोनों ओर इन चार मूर्तियोंका क्या अर्थ है। उपर्युक्त प्रतिमाओके ऊपरकी ओर फणके दोनो ओर युगल गन्धर्व पुष्पमाला लिये एव किन्नरियाँ हाथ जोड़े उडती हुई नजर आती है। दोनोके मस्तक खडित हे। इनके ऊपर छोटी-सी चौकियॉ दिखाई पडती है, जिनपर आमने-सामने दो हाथी परस्पर शुण्ड मिलाये खडे हें। अन्य प्रतिमाओके अनुसार इसमे भी छत्रको अपनी शुण्डोंके बलपर थामे हुए है। अन्य मूर्तियोमे जो हस्ती पाये जाते है, वे प्रायः निर्जन होते है। परन्तु प्रस्तुत प्रतिमामे जो हाथी है, उनपर एक-एक मनुष्य आरूढ है। यद्यपि

उन दोनोके घड खडित कर दिये गये है, तथापि चरण भाग स्पष्ट है। दोनो हाथियोंके पृष्ठभागमे १, १ स्त्रीका मस्तक दिखलाई पड़ता है। अब प्रतिमाके निम्न स्थानको भी देख ले। ऊपर ही सूचित किया जा चुका है कि कलाकारने सर्पासन बना दिया है, परन्तु वह सर्प भी गोलाकृति एक चौकी जैसे स्थानपर बना हुआ है, जिसको दोनो ग्राह थामे हुए है। दाये भागके ग्राहके निम्न भागमे एक भक्त करबद्ध अजलि किये हुए अवस्थित है। बाई ओर भी स्त्री या पुरुषकी जैसी ही आकृति रही होगी, जैसा कि अन्य प्रतिमाओमे देखा जाता है, परन्तु यहाँ तो वह स्थान ही खडित कर दिया गया है, मध्य प्रतिमाके निम्न भागमे चतुर्भुज देवी उत्कीणित है। इनके दाहिने हाथमे चक्र या कमल दिखाई पडता है, स्थान बहुत घिस जानेके कारण निश्चित नही कहा जा सकता कि क्या है। दाहिना दूसरा हाथ वरद मुद्राको सूचित करता है। बायाँ हाथ सर्वथा खडित होनेसे नही कहा जा सकता है कि उसमे क्या था। स्त्रीकी इस प्रतिमाको पद्मावती ही मान लेना चाहिए। कारण कि वही पार्श्वनाथकी अधिष्ठातृ देवी है। इसके बायी ओर हाथ जोडे एक भक्त दिखलाई पडता है, इसके ऊपर भी तीन नागफण दृष्टिगोचर होते है। बाई ओर अधिकतर भाग खडित हो गया है। परन्तु घुटनेका जितना हिस्सा दिखता है, उस परसे कल्पना की जा सकती है कि दायी ओर-जैसी ही बायी ओर भी रही होगी। इस प्रतिमाका कलाकी दृष्टिसे विशेष महत्त्व न होते हुए भी विधान वैविध्यकी दृष्टिसे कुछ महत्त्व तो है ही। निर्माणकाल १४वी शताब्दीके बादका ही प्रतीत होता है।

अजायबघरमे प्रवेश करते ही बॉयी ओर ४ अवशेष रखे हुए है जिनमे दो किसी मदिरके तोरणसे संबध रखनेवाले एव एक चतुर्भुजी देवीके है। हस्त खडित होनेके कारण नही कहा जा सकता कि वह किसकी है। पर अजायबघरवालोने लक्ष्मी बना रखा है।

सख्या ५२—इसके बॉयी ओर ऋषभदेव स्वामीकी प्रतिमा अवस्थित

है, कारण कि स्कन्ध प्रदेशपर केशावली एव वृषभका चिह्न स्पष्ट है। रचना शैलीसे ज्ञात होता है कि कलाकारने प्राचीन जैन प्रतिमाओंके आधारपर इसका सृजन किया है। अन्य मूर्तियोंकी भाति इसकी बाँयी और दाँयी ओर क्रमश कुबेर एव अबिका अवस्थित हैं। परिकरके अन्य सभी उपकरण जैन प्रतिमाओंसे साम्य रखते है।

सख्या १०४—लबाई ४८ चौड़ाई २१ इच।

आश्चर्य गृहमें प्रवेश करते ही छोटी बडी शिलाओंपर एव सती स्तम्भों-पर कुछ लेख दिखलाई पडते है। इन लेखोके पश्चिमकी ओर अतिम भागमे एक ऐसा जैन अवशेष पडा हुआ है, जिसके चारो ओर तीर्थंकरोकी मूर्तियाँ खुदी है। ऊपरके भागमे करीब १८ इचका शिखर आमलक युक्त बना हुआ है। इसे देखनेसे ज्ञात होता है कि एक मदिर रहा होगा। चारो दिशामे इस प्रकार मूर्तियाँ खुदी हुई है, कि पूर्वमे अजितनाथकी मूर्ति जिसके आसनके निम्न भागमे हस्तिचिह्न स्पष्ट है। दक्षिणकी ओर भगवान् पार्श्वनाथकी सप्तफण युक्त प्रतिमा है। इसके निम्न भागमे दायी ओर भक्त स्त्री एव बायी ओर चतुर्भुजी देवी, जिसके मस्तकपर नाग फन किये हुए हैं। असभव नही कि वह पद्मावती ही हो। पश्चिमकी ओर भी तीर्थकरकी मूर्ति है, इसके दायी ओर एक स्त्री आम्रवृक्षकी छायामे बायी ओरमे बच्चेको लिये, दाहिने हाथमे आम्र लुम्ब थामे सिहपर सवारी किये हुए अवस्थित है। नि.सदेह यह प्रतिमा अबिकाकी ही होनी चाहिए। अत उपर्युक्त तीर्थकर प्रतिमा भी नेमिनाथकी ही होनी चाहिए, क्योंकि वही इसके अधिष्ठातृ है। दायी ओर बालिका करबद्ध अजलि किये हुए है। यो तो बालकके ही समान दिखलाई पडती है, पर केशविन्यास एव स्त्रियोचित आभूषण पहननेके कारण बालिका ही प्रतीत होती है। उत्तरकी ओर जो मुख्य तीर्थंकरकी प्रतिमा खुदी हुई है, उन प्रतिमाओंकी अपेक्षा शारीरिक गठन और कलाकी दृष्टिसे अधिक प्रभावोत्पादक है। वृषभका चिह्न स्पष्ट न होते हुए भी स्कन्ध प्रदेशपर फैली हुई केशावली, इस बातकी सूचना देती है कि वह प्रतिमा युगादिदेवकी

है। बायी ओर चक्रेश्वरी देवीकी प्रतिमा भी खुदी है जो चतुर्मुखी है। चक्रेश्वरीके दायें ऊपरवाले हाथमें चक्र एवं नीचेवाला हाथ वरद मुद्रामें है, बाँया हाथ खंडित होनेके कारण यह नही कहा जा सकता कि उसमे क्या था? चक्रेश्वरीका वाहन स्त्रीमुखी ही है। इसमें भी बायी ओर भक्त विराजमान है। उसके अतिरिक्त चारो मूर्तियाँ अष्टप्रातिहार्य युक्त है। चारोके भी भामडल बहुत सुन्दर बने हुए है। किसी किसीमे प्रभा भी साफ़ है। एव बिन्दु पक्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं। इस प्रकारके प्रभामडल अतिम गुप्तोके समयमे बना करते थे। यद्यपि प्रस्तुत चतुर्भुजा मूर्ति प्राचीन तो नही जान पड़ती, परन्तु लगता ऐसा है कि कलाकारने किसी प्राचीन जैन मूर्तिका अनुकरण किया है। मूर्तिके चारो ओरके निम्न भाग ग्राह बने हुए है। मध्यमे अर्द्ध चक्राकार धर्मचक्रके समान कुछ रेखाओंको लिये हुए है। पार्श्वदोंके खड़े रहनेके कमलपुष्प सभी ओर एकसे है। चारो ओर चार स्तम्भ भी बने है, जिनके सहारे पार्श्वद टिके हुए है। चौमुखोका ऊपरी भाग शिखरका है, जिसको पाँच भागोमें विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भागको घेरकर चारो ओर पक्तियोके मध्य भागमे ४, ४, इस प्रकार २० पद्मासनस्थ प्रतिमाएँ दिखलाई पडती है, तदुपरि आमलक है। यद्यपि प्रस्तुत अवशेष पूर्णत अखंडित नही, क्योकि कुछ एक स्थान तो स्वाभाविक रूपसे पृथ्वीके गर्भमे रहनेके कारण नष्ट हो गये है। एव कुछ एक छैनीके शिकार भी बन गये है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह चौमुखी प्रतिमा किसी स्वतन्त्र मन्दिरमेकी है या बाह्य भाग की? मेरे विनम्र मतानुसार तो उपर्युक्त अवशेष किसी मानस्तम्भके ऊपरका हिस्सा लगता है, कारण कि दिगम्बर जैन सप्रदायमे जैन मन्दिरके अग्रभागमे एवं विशेषत: तीर्थ स्थानोमे मानस्तम्भ निर्माण करवानेकी प्रथा, मध्य कालमे विशेष रूपसे रही है। यदि वह मानस्तम्भका ऊपरके भागका न होता तो, शिखरों एवं आमलक बनानेकी आवश्यकता न पड़ती। ऊपरके भागमें मूर्तियाँ इसलिए बनाई जाती थी कि शूद्र दूरसे दर्शन कर सके। यह कल्पना

क्लिष्ट-सी जान पडती है। इसका निर्माणकाल स्पष्ट निर्देशित नही है, एवं न पार्श्वद आदि गन्धर्वके आभूषण ही बच पाये हैं, जिनसे समयका निर्णय किया जा सके। अनुमान तो यही लगाया जा सकता है कि यह १४ वी या १५ वी शताब्दीकी कृति होगी।

सख्या ३—लबाई १०६ इंच, चौडाई ४६ इच।

विस्तृत मटमैली शिलापर परिकर युक्त खड्गासन जिन-प्रतिमा उत्कीर्णित है। कलाकारने पार्श्वद एव अन्य किन्नर किन्नरियोंके प्रति कलाकी दृष्टिसे जितना न्याय किया गया है, उतना मुख्य प्रतिमामे नही। प्रतिमाका मुख बुरी तरहसे घिस डाला गया है। तथापि कुछ सौन्दर्य तो है ही, दोनों हाथ मूलतः खडित है, मूर्तिके पैर विचित्र बने है, जैसे दो खम्भे खडे कर दिये गये हो। शारीरिक विन्यास बिलकुल भद्दा है। मूर्तिकी छातीमे करीब ९ इच लबा ५ इच चौड़ा चिकना गड्ढा पड गया है, ऐसा ही छोटा-सा गड्ढा दायी जाँघमे भी पाया जाता है। ज्ञात होता है कि उन दिनो लोग इसपर शस्त्र पनारते रहे होंगे, क्योकि यह पत्थर भी उसके उपयुक्त है। प्रतिमाके दोनो ओर पार्श्वद एव ३३ किन्नरियाँ ध्वस्त दशामे विद्यमान है। बिलकुल निम्न भागमे दायी और बायी ओर क्रमश स्त्री पुरुष दायाँ घुटना खडे किये, बॉया घुटना नवॉये हुए, नमस्कार कर रहे है। पार्श्वदके मस्तकपर दोनो ओर खड़ी और बैठी इस प्रकार दो दो प्रतिमाएँ है। ऊपर दोनो ओर ५, ५ मूर्तियाँ है ३, ३ पद्मासनस्थ और दो दो खड्गासनस्थ, इसके बाजूपर हाथी दो पैर टिकाये एक एक अश्व दोनो ओर खडे हुए है, जिसपर एक एक मनुष्य आरूढ है। अश्व भी सर्वथा स्वाभाविक मुद्रामे स्थित हैं। प्रतिमाके स्कन्ध प्रदेशकी दोनो मकराकृतियाँ मुखमे कमल दड दबाये हुए है। बाजूमे दोनों ओर पद्मासनस्थ मूर्ति है, इनकी बायीं ओर दो खड्गासन एव बायी ओर दो खड्गासनके बीच पद्मासनस्थ जिनमूर्ति है। भामडलके निकटवर्तीका भाग खंडित हो गया है। इसके ऊपर एकाधिक किन्नर किन्नरियाँ पुष्पमाला लिये खड़े है। सभीके मस्तक खडित है, अन्य मूर्तियोंमे जिस प्रकार छत्र

थामे हस्ती बताये गये है, उस प्रकार इसमें भी रहे होगे। निम्न भागमें दोनों ग्राहके बीच मकराकृति पायी जाती है, दायी ओर चतुर्भुजी देवी एव बायी ओर यक्ष खड्ग लिये अवस्थित है। यह प्रतिमा किसी मदिरकी मुख्य रही होगी। कारण कि निर्माण विधानकी दृष्टिसे पर्याप्त वैविध्य है। यह प्रतिमा **मह** तहसील **प्योहारीसे** लाई गई है। पार्श्वदोके हाथके चामर प्राय लबे है।

सख्या १०३—ललाई लिये हुए पाषाणपर भगवान्की मूर्ति उत्थिता-सनमे उत्कीर्णित है, दोनो ओर पार्श्वद एव निकटवर्ती खड्गासनस्थ मूर्तियाँ निम्न भाग यक्ष यक्षिणी अष्टप्रातिहार्य है।

सख्या ५७—की प्रतिमा पार्श्वनाथ भगवान्की है।

व्यंकट सदनके अतिरिक्त गाँवमे कई मकानोमे जिन-मूर्तियाँ लगी हुई है। घोघर नदीके किनारे धर्मशालाके समीप पीपल वृक्षके नीचे दो सुन्दर जिन-मूर्ति पडी है। लोगोने इसे खैरमाई मान रखा है। **'बड़ी बढ़या'**के जलस्रोतपर भी भगवान् नेमिनाथजीकी वरयात्राका सुन्दर प्रतीक पडा है। लोग इसपर वस्त्र धोते है। क़िलेके गुर्गी तोरण द्वारवाले मार्गपर भी जैन मदिरके अत्यत कलापूर्ण स्तम्भ, शौचालय बने है। कुभ कलशके साथ स्पष्टत प्रतिमाका भी अकन है।

इस ओर जैनोके प्रति जनताका स्वाभाविक रोष भी है।

रीवाँके मुख्य जैन मन्दिरमे भी विशालकाय जिन-प्रतिमा है। चित्रके लिए कोशिश करनेके बावजूद भी सफल न हो सका। रीवाँके समीप यदि गवेषणा की जाय तो और भी जैन अवशेष पर्याप्त मिल सकते है।

(२) रामवन

भारतप्रसिद्ध **'भरहूत'** पहाड़की तराईमे उपर्युक्त आश्रम, प्रकृतिके मुक्त वायु-मडलमे बना हुआ है। सतनासे रीवाँ जानेवाले मार्गमे दसवे मीलपर पड़ता है। पुरातन शिल्प-कलाके अनन्य प्रेमी बाबू **शारदाप्रसादजीने** ही इसे बसाया है। एक प्रकारसे यह आश्रम प्राचीन परम्पराका प्रतीक

है । यहाँ भारतीय मूर्तिकलापर नूतन प्रकाश डालनेवाली पुरातत्त्वकी मौलिक सामग्री, पर्याप्त परिमाणमे विद्यमान है । इसमे अधिकाश भाग **वाकाटक** तथा **गुप्तकालीन** है । इस सग्रहमे कुछ प्रतिमाएँ जैनधर्मसे सबद्ध भी है, जो मध्यकालीन जान पडती है । सौभाग्यसे कुछ मूर्तियाँ सर्वथा अखडित हैं । इन कलात्मक प्रतिमाओका शब्द-चित्र इस प्रकार है --

(१) २३"×२३" की रक्त प्रस्तरकी शिलापर मस्तकपर फन धारण किये हुए, लबशरीरी भगवान् पार्श्वनाथकी प्रतिमा है । मूर्ति निर्माण एव वैविध्य दृष्ट्या मूल्यवान न होते हुए भी इसका शारीरिक विन्यास सापेक्षत आकर्षक है। पार्श्वदको छोडकर परिकर आडम्वर शून्य है । इसका निर्माणकाल इतिहासके अनुसार मध्ययुगका अतिम चरण होना चाहिए, क्योकि मूर्ति-निर्माण-कलाका ह्रास इससे पूर्व शुरू हो गया था ।

(२) २४"×१५" मटमैली शिलापर भगवान मल्लिनाथका प्रतिबिम्ब खुदा हुआ है । जैसा कि निम्नोक्त कलशके चिह्नसे स्पष्ट है । मूर्तिका मुख जितना सौम्य एव सौन्दर्यकी दृष्टिसे उत्कृष्ट है, उतना ही शारीरिक गठन निम्नकोटिका है । कलाकारने अपना कौशल न जाने मुखमण्डलतक ही क्यो सीमित रक्खा । अष्टप्रातिहार्य एव परिकरका अन्य भाग विन्ध्यप्रान्तमे प्रचलित रचनाशैलीके अनुसार है ।

(३) २१"×१२" शिलापर केवल बारह प्रतिमाएँ खड्गासनस्थ दृष्टिगोचर होती है । इनमें ऋषभदेवका महान् व्यक्तित्व अलग ही झलक उठता है । इस खडित अवशेषसे कल्पना की जा सकती है कि ऊपरके भागमें भी बारह मूर्तियाँ रही होगी । कारण कि ऋषभदेव प्रधान चौबीसी एक ही शिलापट्टपर खुदी हुई अन्यत्र भी उपलब्ध होती है । मूर्तिके निम्न भागमे गौमुख, यक्ष एवं चक्रेश्वरीकी प्रतिमाएँ बनी हुई हैं । इसका प्रस्तर जसोमें पाई जानेवाली कलाकृतियोसे मिलता-जुलता है ।

उपर्युक्त प्रतिमाओंके अतिरिक्त खण्डितप्राय: जैनावशेष वहाँपर

संगृहीत हैं, परन्तु वे इतने ध्वस्त हो चुके हैं कि उनपर कुछ भी लिखा जाना संभव नहीं ।

लखुरबाग और नचनाकी बची खुची सामग्री यहाँपर संगृहीत है ।

(३) जसो

अन्धकारयुगीन भारतके इतिहासपर प्रकाश डालनेवाली आंशिक सामग्रीको सुरक्षित रखनेका श्रेय इस भूभागको भी मिलना चाहिए । वाकाटक वंशका एक महत्त्वपूर्ण लेख इसीके अंचलमें है । **कनिंघम** साहबने इस भू-भागके स्थानको 'दरेदा' के नामसे संबोधित किया है, पर इसका वास्तविक स्थान **'दुरेहा'** है जो जसोके निकट है । **खोह, नचना** और **भूभरा** यहींसे नजदीक पडते हैं । वाकाटक, भारशिव एवम् गुप्तकालमें विकसित उत्कृष्ट शिल्प स्थापत्य एवं मूर्तिकलाके उज्ज्वल प्रतीक आज भी भीषण अटवीमें विद्यमान हैं । भारतीय इतिहास पुरातत्त्व एवं शिल्पकलाकी दृष्टिसे इस भू-भागका, बहुत प्राचीनकालसे ही, बडा महत्त्व रहा है ।

जसोको यदि जैन मूर्तियोंका नगर कहा जाय तो अनुचित न होगा । कारण कि आवश्यक कार्यके लिए प्रस्तर प्राप्त्यर्थ जहाँ कहीं भी जनता द्वारा खनन होता है वहाँ, जैन मूर्तियाँ अवश्य ही, भूगर्भसे निकल पडती हैं । इन पंक्तियोंका आधार केवल दन्तकथा नहीं है, परन्तु मैंने स्वयं ही अनुभव किया है । गत जनवरीका तीसरा सप्ताह मैंने खोजके लिए जसोमें ही व्यतीत किया था । उन दिनों खेतोंकी मेंडपर लोग मिट्टी जमा रहे थे । आठ खेतोंमें मैंने स्वयम् देखा कि दो दर्जनसे अधिक मूर्तियाँ दो दिनमें ही जमीनसे पाई गयीं । यहाँ न केवल जैन प्रतिमा ही उपलब्ध होती हैं, अपितु जैन मन्दिरोंके तोरण, नन्द्यावर्त, स्वस्तिक, अष्टमांगलिक एवं जैन शास्त्रोंमें वर्णित स्वप्नोंके अतिरिक्त अनेक जैन कलाके विभिन्न उपकरण भी प्राप्त होते हैं । यद्यपि आज जसोमें एक भी जैनका निवास नहीं है । परन्तु इन

उपलब्ध कलाकृतियोसे सिद्ध है कि किसी समय यह जैनसस्कृति एव जैनाश्रित शिल्पस्थापत्यकलाका प्रधान केन्द्र था। यहाँसे सैकडो जैन मूर्तियाँ युक्त प्रान्त एव भारतके अन्यान्य संग्रहालयोमे चली गयी, और चली जा भी रही है। तथापि एक सग्रहालय-जितनी सामग्री आज भी वहाँपर बिखरी पडी है। वहाँकी जनता मूर्तिये बाहर ले जानेमे इसलिए कुछ नहीं कहती, कि उन्हे विश्वास है कि जब चाहें, जमीनसे मूर्तियाँ निकाल लेंगे। मूर्ति बाहुल्यके कारण, जितना दुरुपयोग वहाँकी जनता द्वारा हुआ या स्पष्ट शब्दोमे कहा जाय तो भारतीय मूर्तिकलाका जितना नाश, अज्ञानतावश यहाँकी जनताने किया, उतना दुस्साहस अन्यत्र संभवतः न हुआ हो। आँखोसे देख एव कानोसे सुनकर असह्य परिताप होता है। किसानोके शौचालयसे एक दर्जनसे अधिक जैन मूर्तियाँ मैने उठवाई होंगी। नालोंपर कपडे धोनेकी शिलाके रूपमे एवं सीढियोमे, जैन मूर्तियोका प्रयोग आज भी हो रहा है। जसोकी गली-गलीमे भ्रमणकर मैने अनुभव किया कि प्रायः प्रत्येक गृहके निर्माणमे किसी-न-किसी रूपमें प्राचीन कला-कृतियोंका ऐच्छिक उपयोग हुआ है। इनमे अधिकाश जैनाश्रित कलाके ही प्रतीक है। दर्जनों जैन मूर्तियाँ **'खैरमाई'**के रूपमे पूजी जाती है। कई गृहोमे **'प्रहरी'** का कार्य जैन मूर्तियोको सौपा गया है। सबसे बडा अत्याचार वहाँकी जैन कलाकृतियोपर तब हुआ था, जब जसोके कथित महाराज जीवित थे। जसोसे 'दुरेहा' जानेवाले मार्गपर समीप ही विशाल स्वच्छ जलाशय है। इसके किनारेपर आजसे क़रीबन पन्द्रह वर्ष पूर्व एक हाथीकी मृत्यु हो गयी थी। वहीपर विशाल गर्त खोदकर हाथीको गडवाया गया, और गढेकी पूर्तिके रूपमे जसोकी बिखरी हुई प्राचीन कलाकृतियाँ, जिनका उन दिनोके शासककी दृष्टिमे पत्थरोसे अधिक मूल्य न था, डाल दी गई। इनमे अधिकांशतः जैन मूर्तियाँ ही थी, जैसा कि 'नागौद' के भूतपूर्व दीवान तथा पुरातत्त्व प्रेमी श्री **भार्गवेन्द्रसिहजी** "लाल साहब"के कहनेसे ज्ञात होता है। लाल साहब नागौद एवं जसोकी एक-एक इंच भूमिसे परिचित है एवं पुरा-

तत्त्वकी, कहाँपर कौनसी सामग्री है ? आपको भलीभांति मालूम है। मेरी भी आपने बड़ी मदद की थी।

जसोमे यो तो अनेको जैन प्रतिमाएँ होनेका उल्लेख ऊपर आ चुका है, परन्तु उन सभीका अलग अलग उल्लेख न कर केवल उन्ही प्रतिमाओकी चर्चा करना उपयुक्त होगा, जो सामूहिक रूपसे एक ही स्थानपर एकत्र है।

कुछ जैन मूर्तियाँ

राज-भवनके निकट "**जालपादेवी**"का एक मन्दिर है। इसके हातेमे बहुसख्यक जैन प्रतिमाओके अतिरिक्त मानस्तम्भ और मन्दिरोके अवशेष पडे हुए है। प्राय सभी कत्थई रगके पत्थरोपर उत्कीर्णित है। मन्दिरकी दीवालके पीछे तथा बाजारकी ओर भी कुछ मूर्तियां सजाकर रख छोडी है। परन्तु सभी मूर्तियां जिस रूपमे खडित दीख पडती है, उससे तो यही ज्ञात होता है कि समझपूर्वक इनका सौन्दर्य विकृत कर दिया गया है। कुछेकपर सिन्दूर भी पोत दिया गया है। इन मूर्तियोमे अधिकतर भगवान् आदिनाथ और पार्श्वनाथकी है। कुछ पद्मासन है, कुछ खड्गासन। भगवान् आदिनाथ और श्रमणभगवान् महावीरकी दो अद्भुत एव अन्यत्र अनुपलब्ध प्रतिमाएँ इसी समूहमे है। इनकी विशेषता निबन्धकी भूमिकामे आ चुकी है। अत पिष्टपेषण व्यर्थ ही है।

मदिरसे लगा हुआ छोटा-सा मकान है। इसमे सस्कृत पाठशालाके छात्र रहते है। इसकी दीवालमे अत्यत कलापूर्ण ६ जैन मूर्तियाँ लगी हुई है। कुछेक मूर्ति-विधानकी दृष्टिसे अनुपम एव सर्वथा नवीन भी है। प्रति वर्ष इनपर चूना पोता जाता है, इससे ऊपर चूनेकी पपड़ियाँ तो मैने स्वय उतारी थी। वहाँके एक मुसलमान कारीगरसे ज्ञात हुआ कि ऐसी कई मूर्तियाँ तो हमने गृह-निर्माणमे लगा दी है। और इनके मस्तकवाले भागकी पयरियाँ अच्छी बनती है, अत. हम लोगोको ऐसी गढ़ी गढ़ाई सामग्री काफी मिल जाती है।

जालपादेवीके मन्दिरमें प्रवेश करते ही, सामनेवाले चार अवशेष दृष्टि आकृष्ट कर लेते है। इनमें तीन तो जैन है, एक वैदिक। मुझे ऐसा लगता है कि तीनों अवशेष भिन्न न होकर एक ही भावके तीन पृथक् अश है। इसमे जो भाव बतलाये हैं, वे अन्यत्र मिलते तो है, पाषाणपर नही परन्तु चित्रकलामे। तीर्थंकर महाराजकी यात्राका भाव परिलक्षित होता है। सर्वप्रथम इन्द्रध्वज तदनन्तर देव देवी (इनके मस्तकपर सुन्दर मुकुट पडे हुए है अत देवगणकी कल्पना की है) बादमे तीर्थंकर महाराज, (इनके चारोओर समूह बताया गया है) पीछेके भागमे श्रावक-वृद उत्कीर्णित है। इसीमे आगे भगवान्का समवसरण भी निर्दिष्ट है। सौभाग्यसे यह मपूर्ण कलाकृति सर्वथा अखडित बच गई है। लबी ४॥ फुट चौडाई २॥ फुट है। जैन मन्दिरके स्तम्भोमे तीर्थंकर प्रतिमाएँ खुदवानेकी प्रथा रही है, इसके उदाहरण स्वरूप दर्जन स्तभावशेष यहाँपर अवस्थित है।

एक विशेष प्रतिमा

इसी समूहमे एक सयक्ष अबिकाकी प्रतिमा भी दृष्टिगोचर हुई। परन्तु इसमें कुछ विशेषता है। यह वह कि निम्न भागमे यक्ष दम्पती है। आम्रवृक्षका स्थान काफी लबा है, इसपर भगवान् नेमिनाथकी भव्य प्रतिमा सुशोभित है। वृक्ष-स्थाणुके मध्य भागमें एक नग्न स्त्री वृक्षपर चढ़ती हुई बनाई गई है। पासमे एक गुफा जैसा गहरा प्रकोष्ठ भी अलगसे उत्कीर्णित है। इन दोनो भावोमे राजीमतीका जीवन ही परिलक्षित होता है। गुफाका सबध राजीमतीसे है, गिरिनारकी गुफामें रहनेका उल्लेख जैन साहित्यमें आता है। वृक्षपर चढनेका अर्थ, कल्पनामें तो यही आता है कि भगवान् नेमिनाथके चरणोमें जानेको वह उद्युक्त है। अर्थात् मुक्तिमार्गके प्रदर्शकको सेवामे जानेको तत्पर है। कलाकारने सकारण ही इन भावोंका प्रदर्शन किया है। इस प्रतिमाको मैंने वहाँसे उठवाकर सुरक्षित स्थानमे पहुँचा दी है।

मंदिरके निकट ही एक लकडीका कारखाना है, लकडीके ढेरमे भी कई कला-कृतियाँ दबी पडी है। कुछेक तो खडित भी हो गई है, जितना भाग बचा है, यदि सावधानीसे काम न लिया गया तो वह भी नष्ट हो जायगा। दुर्गके द्वारपर भी जैन प्रतिमाएँ लगी है। ऊपरकी दीवाल भी खाली नही है। सस्कृत पाठशाला पुराने किलेमे लगती है।

उष्ण जलकुण्ड

यहाँसे ४ फर्लांग दूर एक शिवमंदिर है, वहाँपर भूमिसे गरम जल निकलता है। लोगोका विश्वास है कि यह कई रोगोको नाश करनेवाला जल है। इस ओर जब हमलोग गये तो आश्चर्यचकित रह गये। जलको रोकनेके लिए जनताने छोटी-सी दीवार खड़ी कर दी है। इसमे जैन-प्रतिमाओकी बहुलता है। नालोपर भी तीन छोटी-सी मूर्तियाँ, लोगोके आराध्य देवता माने जाते है। प्रति दिन काफी लोग जल चढानेके लिए आते है। जनताका विश्वास है कि बिना इनको प्रसन्न रखे कोई कामकी सिद्धि नही होती। इतनी गनीमत है कि ये देवता सिन्दूरसे अलकृत नहा हुए, पर वस्त्रोसे तो भूषित कर ही दिये गये है। ये तीनो मूर्तियाँ क्रमश शान्तिनाथ, मल्लिनाथ और नेमिनाथकी है।

यहाँसे हमलोग नालाबकी ओर जाना चाहते थे, इतनेमे किसी काछीने सूचित किया कि मेरे बगीचेमे भी पुरानी प्रतिमाएँ है, चाहे तो आप लोग पूजाके लिए ले जा सकते है। इस बगीचेमे चारो ओर घने वृक्षोमे किसी मदिरके स्तम्भोकी कीचक आकृतियाँ है। ये ४॥ फ़ुटसे कम लबे-चौडे न होगे, परन्तु न जाने कितनी शताब्दियोसे यहाँपर है, कारण कि ३ अश तो वृक्षोकी जडोमे इस प्रकार गुँथ गये है, कि उनको सरकाना तक असभव है।

राममन्दिर

जसोमे प्रवेश करते ही प्रथम राममदिर आता है। इसके प्रवेश द्वारपर ही सयक्षदम्पती नेमिनाथ भगवान्‌की मूर्ति अधिष्ठित है। इसके दोनों ओर

खड्गासन भी है। रक्तप्रस्तरपर उत्कीर्णित है। प्रतिमा सर्वथा अखण्डित है। गत वर्ष किसी ठाकुरके मकानसे यह प्रतिमा उपलब्ध हुई थी और बाबाजीने यहाँ लगवा दी। मन्दिरके निकट एक नाला पड़ता है। इसपर भी पार्श्वनाथ खड्गासनमें है।

कुमारमठ

गाँवसे कुछ दूर कुह्मडामठ नामक एक विशाल मन्दिर है, संभवतः यह कुमारमठ ही होना चाहिए। यहाँपर विस्तृत फैली अमराई है। सघन जगलका बोध होता है। यहाँ पीपलके नीचे बहुतसे अवशेष सुरक्षित है, इसमे जैन प्रतिमाएँ भी पर्याप्त है। यह मन्दिर नागर शैलीका है। कहा जाता है कि इसमे कोई शिलोत्कीर्णित लेख भी है। पर मुझे तो दृष्टि-गोचर न हुआ। मठमे कुछ टीले है। सभव है खुदाई करनेपर कुछ और भी पुरातत्त्वकी सामग्री मिले। मठके पास एक वृक्षके निम्न भागमें भगवान् ऋषभदेवकी प्रतिमा पडी हुई है। इसे **'खैरमाई'** करके लोग पूजते है। कोई भी व्यक्ति इसे स्पर्श नही कर सकता, दूरसे ही पुष्पादि चढा देते है। पूर्व तो यहाँपर बलितक चढाई जाती थी, पर अभी बन्द है। समस्त गाँवके यह प्रधान देवता माने जाते है। यहाँपर त्यौहारके दिनोमे मेला भी लगता है। नवरात्रमे तो पडे भी पहुँच जाते है।

राजमन्दिरके पाससे एक मार्ग नालेपर जाता है, वहाँ सुनारके गृहके अग्रभागमे जैन प्रतिमाओका समूह विद्यमान है। आगे चलनेपर पुरानी दीवालके चिह्न मिलते है। ईंटे भी गुप्तकालीन-सी जँचती है। इसीपर बस्ती बस गई है।

यहाँपर एक मस्जिदके पास मुसलमानोकी बस्तीमे मानस्तम्भका ६ फ़ुटका एक टुकड़ा भी ज़मीनमे गड़ा है। चारोओर जैन प्रतिमाएँ उत्कीर्णित हैं।

जसोमे इतनी विस्तृत जैन कलात्मक सामग्री बिखरी पड़ी है; यदि

यहाँपर पुरातत्त्व विभाग द्वारा खुदाई कराई जाय तो और भी पुरातनावशेष निकलनेकी पूर्ण सभावना है। जैन पुरातत्त्वके प्रधान केन्द्रके रूपमें जसो कबतक विख्यात रहा, यह तो निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता। परन्तु अवशेषोसे इतना तो कहा ही जा सकता है कि १५-१६ शतीतक तो रहा ही होगा। कारण कि १२ शतीसे लगाकर १६ शतीतकके जैनावशेष उपलब्ध होते है। यहाँकी अधिकतर सामग्री **"एन्शयन्ट मोन्युमेन्ट्स प्रिजर्वेशन एक्ट"** द्वारा अधिकृत नही की गई है, यदि कला प्रेमी इनकी समुचित व्यवस्था करे तो आज भी अवशिष्ट सामग्री चिरकालतक सुरक्षित रह सकती है। वर्ना अवशिष्ट अवशेषोसे भी हाथ धोना पडेगा। कारण कि जिसे आवश्यकता होती है, वह इनका उपयोग आज भी कर लेता है। जसोसे १५ मीलपर 'लखुरबाग' नामक स्थान पहाडोकी गोदमे है। जहाँपर गुप्त-कालीन अवशेष पर्याप्त सख्यामे मौजूद है। दुरेहामें भी जैन मदिरोके अवशेष है। **नागौदके लाल साहबसे** मुझे ज्ञात हुआ था कि लखुरबाग और नचनाके जगलोमे बडी विशाल जैन प्रतिमाएँ काफी सख्यामें पडी हुई है। वहाँपर जैन मन्दिरोके अवशेष भी मिलते है।

(४) उच्चकल्प (उचहरा)

प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय इतिहासमें इसका स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण रहा है। एक समय यह राजधानीके रूपमे भी था। वाकाटक और गुप्तकालीन शिलालेखोमे इस नगरका उल्लेख **"उच्चकल्प"** नामसे हुआ है। सन्यासी ही यहाँके शासक थे। नगरमें परिभ्रमण करनेपर प्राचीनताके प्रमाण स्वरूप अनेको अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँके काफी अवशेष (कलकत्ताके) **इण्डियनम्यूजियममे** है। शेष अवशेषोंको जनताने स्थान-स्थानपर एकत्रकर, सिन्दूरसे पोतकर खैरमाई या खैरदइयाके स्थान बना रखे है। अब यहाँसे अनावश्यक या आवश्यक एक ककड भी हटाना संभव नही। जहाँपर जैन अवशेष भी काफ़ी तादादमें मिलते है, वे मध्यकालके है।

यहाँके एक शैव मन्दिरमें खंडित चतुर्विंशतिकापट्ट तथा फुटकर जैन मूर्तियाँ है। नालेपर भी एक दीवालमें कई देवताओंके साथ जैन प्रतिमाएँ है। नालेके ऊपर एक टीला है, उसपर विशेषत शैव संस्कृतिके अवशेषोमें जैन मन्दिरोके तोरण, द्वार स्तम्भ एव कृतियाँ सुरक्षित है। कुछेक जैन प्रतिमाएँ, अन्य स्थानोके समान, यहाँपर खैरमाईके रूपमें पूजी जाती है।

यहाँपर सबसे अधिक और आकर्षक सग्रह है सती-स्मारकोंका। एक स्थान इसलिए स्वतन्त्र ही बना हुआ है। यहाँ सैकडो सतीके चौतरे है। कुछेकपर लेख भी है।

वार वार यहाँसे सामग्री ढोनेके बाद अब ऐतिहासिक एव शिल्पकलाकी दृष्टिसे कुछ भी मूल्य रखनेवाली सामग्री शेष नहीं रहीं।

(५) मैहर

शारदामाईके कारण मैहर विन्ध्य प्रदेशमे काफी ख्याति प्राप्त कर चुका है। प्रतिदिन कई यात्री यात्रार्थ आते है। इनके संबंधमे यहाँपर कई प्रकारकी किवदन्तियाँ भी प्रचलित है। इसपर विशेष जाननेके लिए **"विन्ध्यभूमिके दो कलातीर्थ"** नामक मेरा निबन्ध देखना चाहिए।

स्थानीय राजमहलके पीछे एक देवीका मन्दिर है। इसमे तीन खण्डित जैन-मूर्तियाँ पडी हुई है। वहाँपर एक स्त्रीसे पूछनेपर ज्ञात हुआ कि यह हमारी देवीजीके रक्षक है, इसलिए इन्हे द्वारपर ही रहने दिया गया है। परम वीतराग परमात्माकी प्रतिमाओका उपयोग, अज्ञानवश किस प्रकार किया जाता है, इसका यह एक उदाहरण है। इस मन्दिरके दो फर्लांग पीछे जानेपर अत्यन्त सुन्दर कलापूर्ण और सर्वथा अखण्डित शैव मन्दिर आता है। इस मन्दिरके चबूतरेके पास ही खड्गासनस्थ जिन-मूर्तियाँ है। इस मदिरसे तीन फर्लांग और चलनेपर एक नाला आता है, उसपर जैनमन्दिरका चौखट और कलश, स्वस्तिक और नन्द्यावर्त्त अंकित स्तम्भ दृष्टिगोचर होते है। इन अवशेषोंसे ज्ञात होता है कि इसके निकट ही कहीपर जिन-

मन्दिर रहा होगा। वर्ना स्तम्भ और चौखटकी प्राप्ति यहाँ क्योंकर होती ?

मैहरसे कटनीकी ओर जो मार्ग जाता है उसपर 'पौडी' ग्राम पड़ता है। इसमे अतीव सुन्दर जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई। इनकी सख्या १४ से कम न होगी, और खण्डित प्रतिमाओका तो ढेर लगा हुआ है। प्राय: अखण्डित मूर्तियाँ कलाकी दृष्टिसे सर्वाग सुन्दर हैं। सौभाग्यसे एकपर ११५७ का लेख भी उपलब्ध होता है, यह मूर्ति सपरिकर है। इस लेखका बहुत-सा भाग तो शस्त्र पनारनेवालोने समाप्त ही कर डाला है, जो शेष रह गया है, वह मूर्तियोंके समय निर्धारणके लिए उपयोगी है। एक ही इस लेखसे इस शैलीकी अनेको मूर्तियोका समय निश्चित हो जायगा। मूर्तियोकी रक्षा अत्यावश्यक है। जनताका ध्यान भी इस ओर नहीके बराबर है।

उपसंहार

उपर्युक्त पक्तियोमे विन्ध्यभूभागके केवल उन्ही जैनावशेषोका उल्लेख किया गया है, जिनको मैने स्वय देखा है। अभी अन्दरके भागमे अनेक ऐसे नगर है, जहाँके खडहरोमे जैन शिल्पकलाकी काफी सामग्री अस्तव्यस्त पडी हुई है। मुझे सूचना मिली थी कि **पन्ना, अजयगढ़, खजुराहो, देवगढ़, कालिंजर** और **छतरपुर**के पासके खडहर भी इस दृष्टिसे विशेष रूपसे प्रेक्षणीय है। इन स्थानोपर जैन दृष्टिसे आजतक समुचित अध्ययन नही हुआ, बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो सपूर्ण पुरातत्त्वकी दृष्टिसे अभी इस भूभागको कम लोगोने छुआ है। तलस्पर्शी अध्ययनकी तो बात ही अलग है। जैन एव अजैन विद्वानोंके सद्प्रयत्नोसे कही-कही सुरक्षाकी व्यवस्था की गई है, पर सापेक्षत नहीके समान है।

विन्ध्य प्रदेशमे पाई जानेवाली जैन पुरातत्त्वकी सामग्रीमें अन्य-प्रान्तोंकी अपेक्षा वैविध्य है, यहाँपर जैन प्रतिमा एवं मदिरोके साथ-साथ जैन धर्मके

कुछ प्रविष्ट प्रसंगोंका भी सफल आलेखन हुआ है। इन अवशेषोंसे जैनोंका व्यापक कला-प्रेम झलकता है। मध्यकालीन कलावशेषोमे जैनाकृतियोंको यदि अलग कर दिया जाय तो यहाँकी कलात्मक सामग्री सौन्दर्यविहीन जचेगी। महान् परितापका विषय है कि जैनोकी अच्छी संख्या होते हुए भी इस ओर उनकी उदासीनता है। भारतीय पुरातत्त्व विभाग इस प्रदेशकी ओर एक प्रकारसे मौनावलम्बन किये हुए है। मूर्तियोका, कलाकृतियोका मनमाना उपयोग जनता द्वारा हो रहा है। नूतन भवनकी नीवे इन अवशेषोंसे भरी जाती है। नवीन गृहोमे ये लोग मूर्तियोका बेधडक उपयोग करते है, पर जब कोई कलाकार वहाँ पहुँचकर साधना करता है तब पुरातत्त्व विभाग इसे अपनी सपत्ति घोषित करता है।

प्रान्तमे मै तात्कालिक प्रधान मन्त्री श्रीयुत **श्रीनाथजी मेहता** आई० सी० एस० को धन्यवाद देना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। इन्होंने मेरी यात्राका प्रबन्ध राज्यकी ओरसे करवाया था।

१ अप्रेल १९५१]

बौद्ध-पुरातत्त्व

मध्य-प्रदेशका बौद्ध-पुरातत्त्व

मध्यप्रदेशीय शिल्प-स्थापत्य विषयक कलावशेषोंके परिशीलनसे ज्ञात होता है कि **बौद्ध-संस्कृतिका** प्रभाव इस भू-भागपर, बहुत प्राचीन कालसे रहा है। शिलोत्कीर्णित लेख, गुफा एवं प्रस्तर तथा धातु-मूर्तियाँ आदि उपर्युक्त पक्तिकी सार्थकता सिद्ध करती है। बौद्धोंमें कलाविषयक नैसर्गिक प्रेम शुरूसे रहा है।

जबलपुर जिलेके **रूपनाथ** नामक स्थानपर सम्राट् अशोकका एक लेख पाया गया है। सभव है उन दिनो बौद्ध वहाँ रहे हों या उस स्थानकी प्रसिद्धिके कारण, अशोकने प्रचारार्थ शिक्षाएँ वहाँ खुदवा दी हो। यह लेख उसने बौद्ध होनेके २॥ वर्ष बाद खुदवाया था। इससे इतना तो निश्चित है कि सम्राट् अशोक द्वारा मध्य प्रदेशमे बौद्ध धर्मकी नीव पडी। मध्यप्रदेशीय शासनकी ग्रीष्मकालीन राजधानी **पचमढ़ी**मे भी कुछ गुफाएँ है, जिनका सबध बौद्ध धर्मसे बताया जाता है[1]।

मौर्य साम्राज्यके बाद मध्यप्रान्तपर जिन शक्तिसपन्न राजवशोने शासन किया, उनमेसे अधिकतर परम वैदिक थे। अतः मौर्य शासनके बाद बौद्ध धर्मका व्यवस्थित प्रचार. जैसा होना चाहिए था, न हो पाया। सम-सामयिक समीपस्थ प्रादेशिक पुरातन स्थापत्योके अन्वेषणसे फलित होता है कि तत्रस्थ शासन वैदिक होते हुए भी, बौद्ध-सस्कृति अनुन्नत नही थी। मेरा तात्पर्य **साँची** व परवर्ती बौद्ध अवशेषोसे है।

नागार्जुन

कहा जाता है कि **नागार्जुन** बरारके निवासी थे। ये बौद्ध धर्मके विद्वान्, पोषक एवं प्रचारक आचार्य तो थे ही साथ ही, महायान सप्रदायकी माध्यमिक शाखाके स्तभ भी थे। ये महाकवि **अश्वघोषकी** परम्पराके

---

[1]श्री प्रयागदत्त शुक्ल, होशंगाबाद—हुंकार, पृ० ८९,

चमकीले नक्षत्र थे। दर्शनशास्त्र एव आयुर्वेदमे इनकी अबाधगति थी। भारतीय आयुर्वेद-शास्त्रमे रस द्वारा चिकित्सा करनेकी पद्धतिका सूत्रपात, इन्हीके गभीर अन्वेषणका परिणाम है। पं० **जयचन्द्र**[1] **विद्यालंकारने** अश्वघोषके '**हर्षचरित**'के आधारपर लिखा है कि नागार्जुन दक्षिण-कोसल (छत्तीसगढ़)के राजा सातवाहनके मित्र थे। चीनी पर्यटक **ह्युआन्-चुआङ्ने** भी आयुर्वेदमे पारगत बोधिसत्त्व नागार्जुनका बहुमान पूर्वक स्मरण किया है। **बाण कवि** भी इसका समर्थन करते हैं। इसलिए इनका काल ईस्वीकी दूसरी शताब्दीसे पीछे नही जा सकता। यहाँपर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि **नागार्जुन और सिद्धनागार्जुन** एक ही थे या पृथक्? **प० जयचन्द्र विद्यालंकारने** दोनोको एक ही माना है। जैन साहित्यमे सिद्ध नागार्जुनका वर्णन विशद रूपमे आया है। मूलत वे सौराष्ट्रान्तर्गत **ढंकगिरि**के निवासी व आचार्य **पादलिप्तसूरि**के शिष्य थे। इनकी भी आयुर्वेद एव वनस्पति शास्त्रमे अद्भुत गति थी। रससिद्धिके लिए इन्होने बडा परिश्रम किया था। सातवाहन इनको सम्मानकी दृष्टिसे देखता था, पर यह सातवाहन छत्तीसगढका न होकर, **प्रतिष्ठानपुर—पैठन** (नासिकके समीप) का था। दोनो नागार्जुनके जीवनकी विशिष्ट घटनाओको गभीरतापूर्वक देखे तो आशिक साम्य परिलक्षित होता है। तन्त्रविषयक **योगरत्नमाला** और **साधनामाला** वगैरह कुछ ग्रन्थोमे पर्याप्त भाव-साम्य है, पर जहाँतक भाषाका प्रश्न है, इन ग्रन्थोके रचयिता नागार्जुन ही जान पडते है, क्योकि सिद्धनागार्जुनके समय जैन सप्रदायमे अपने भावको सस्कृत भाषामे व्यक्त करनेकी प्रणाली ही नही थी। मेरे जेष्ठगुरु-बन्धु **मनि श्री मंगलसागरजी** महाराज साहबके ग्रन्थ सग्रहमे **नागार्जुन कल्प** नामक एक हस्त लिखित प्रति है, उसमे भारतीय रस-चिकित्सा एवं अनेक प्रकारके महत्त्वपूर्ण व आश्चर्यजनक रासायनिक प्रयोगोंका सकलन है। इसकी भाषा प्राकृत मिश्रित अपभ्रश है। यह कृति

---

[1] **भारतीय वाङ्मयके अमररत्न,**

सिद्धनागार्जुनकी होनी चाहिए, क्योकि प्राकृत भाषामें होनेसे ही, मैं इसे उनकी रचना नही मानता, पर कल्पमें कई स्थानोपर पादलिप्तसूरिका नाम बड़े सम्मानके साथ लिया गया है, जो इनके सब प्रकारसे गुरु थे। प्रश्न रहा अपभ्रश प्रतिलिपिका, इसका उत्तर भी बहुत सरल है। अत्यत लोकप्रिय कृतियोमें भाषा विषयक परिवर्तन होना स्वाभाविक बात है।

नागार्जुन और **सिद्धनागार्जुन** भारतीय इतिहासकी दृष्टिसे विवेचनकी अपेक्षा रखते है। उभय-साम्य, समस्याको और भी जटिल बना देता है। सिद्धनागार्जुनके जीवन-पटपर इन ग्रन्थोंसे प्रकाश पडता है, **प्रभावकचरित्र, विविधतीर्थकल्प, प्रबन्धकोष, प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातन प्रबन्धसंग्रह** और **पिण्डविशुद्धिकी** टीकाएँ आदि।

बौद्ध नागार्जुन, **रामटेकमें** रहा करते थे। आज भी वहाँ एक ऐसी कन्दरा है, जिसका सबध, नागार्जुनसे बताया जाता है। "चीनी प्रवासी **कुमारजीव** नामक विद्वान्ने **नागार्जुनके** सस्कृत चरितका अनुवाद, चीनी भाषामें सन् ४०५ ई० मे किया था" (**रत्नपुर श्री विष्णुमहायज्ञ स्मारक ग्रन्थ पृ० ८१**)। मध्यप्रदेशके प्रसिद्ध अन्वेषक स्व० डाक्टर **हीरालाल**जी[१]ने नागार्जुनपर निम्न पक्तियोमे अपने विचार व्यक्त किये है—

> "ख्रीष्टीय तीसरी शताब्दी में अन्यत्र यह सिद्ध किया गया है कि **विदर्भ देशके** एक ब्राह्मणका लड़का रामटेककी पहाड़ीपर मौतकी प्रतीक्षा करनेको भेज दिया गया था, क्योंकि ज्योतिषियोने उसके पिताको निश्चय करा दिया था कि वह अपनी आयुके सातवे बरस मर जायगा। यह बालक रामटेकके पहाड़की एक खोहमे नौकरोंके साथ जा टिका। अकस्मात् वहाँसे **खसर्पण** महाबोधिसत्त्व निकले और उस बालककी

---

[१] **स्व० डॉ० हीरालाल—मध्यप्रदेशीय भौगोलिक नामार्थ-परिचय पृष्ठ १२-१३,**

> कथा सुनकर आदेश किया कि नालेन्द्र विहारको चला जा, वहाँ जानेसे मृत्युसे बच जावेगा। नालेन्द्र अथवा **नालिन्दा** मगध देशमे बौद्धोका एक बडा विहार तथा महाविद्यालय था। उसमे भर्ती होकर यह बरारी बालक अत्यत विद्वान् और बौद्धशास्त्र-वेत्ता हो गया। इसके व्याख्यान सुननेको अनेक स्थानोसे निमन्त्रण आये। उनमेसे एक नाग-नागिनियोका भी था। नागोके देशमे तीन मास रहकर उसने एक धर्म-पुस्तक **नागसहस्रिका** नामकी रची और वहीपर उसको नागार्जुनकी उपाधि मिली, जिस नामसे अब वह प्रख्यात है। रामटेक पहाडमे अभीतक एक कन्दरा है जिसका नाम नागार्जुन ही रख लिया गया है।"

उपर्युक्त पक्तिमे वर्णित समस्त विचारोसे मै सहमत नही हूँ। इसपर स्वतन्त्र निबन्धकी ही आवश्यकता है; पर हाँ, इतना अवश्य कहना पडेगा कि नागार्जुनने अपनी प्रतिभामे विद्वद्जगत्को चमत्कृत किया है। ८४ सिद्धोकी २ सूचियोमे भी एक नागार्जुनका[1] नाम है, पर वे कालकी दृष्टिसे बहुत बाद पडते है।

अलबेरुनी नागार्जुनके लिए इस प्रकार लिखता है—

"रसविद्याके नागार्जुन नामक एक ख्यातिप्राप्त आचार्य थ, जो सोमनाथ (सौराष्ट्र)के निकट दैहकमें रहते थे, वे रसविद्यामें प्रवीण थे, एक ग्रन्थ भी उनने इस विषयपर लिखा हैं। वे हमसे १०० वर्ष पूर्व हो गये हैं[2]।"

अलबेरुनीका उपर्युक्त उल्लेख कुछ अशोमे भ्रामक है। मुझे तो

---

[1] **श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी—'नाथ सम्प्रदाय' पृ० २९, अलबेरुनीने इन्हीं नागार्जुनको सिद्धनागार्जुन मान लिया है, जो स्पष्टतः उनका भ्रम है।**

[2] **दुर्गाशंकर के० शास्त्री—ऐतिहासिक संशोधन, पृ० ४९८।**

ऐसा लगता है कि उसने सुनी हुई परम्पराको ही लिपिबद्ध कर दिया **और** वही आज हमारे लिए ऐतिहासिक प्रमाण हो गया। जहाँतक **रसविद्याके** विद्वान् व सौराष्ट्रके दैहिक निवासी होनेका प्रश्न है, मै सहमत हूँ, **जैन-**साहित्य **नागार्जुन**को ढकगिरिका निवासी, प्रमाणित करता है, जो **सोमनाथके** निकट न होते हुए भी सौराष्ट्र-देशमें तो है ही। **सोमनाथके निकट लिखनेका** तात्पर्य यह होना चाहिए कि उन दिनो उनकी ख्याति काफ़ी **बढी हुई थी,** यहाँतक कि सोमनाथके नामसे सौराष्ट्रका बोध हो जाता था, इसलिए अलबेरुनीने भी वैसा ही लिख दिया। रसशास्त्रके आचार्य भी **ढंकवाले नागार्जुन** ही थे। अब प्रश्न रह जाता है **दैहिक** और **ढंकके** साम्यका। दैहिक या ऐसे ही नामका कोई ग्राम सोमनाथके निकट है या नही ? **ढंक** सोमनाथसे कितना दूर पड़ता है, इसके निर्णयपर ही आगे विचार किया जा सकता है। इन पक्तियोसे इतना तो सिद्ध ही है कि **अलबेरुनी** भी रसशास्त्री **नागार्जुन**को सौराष्ट्रका मानता है। जिस ग्रन्थकी चर्चा उसने की है, मेरी रायमे वह **नागार्जुनकल्प** ही होना चाहिये।

अलबेरुनीने जो समय दिया है वह नवम शतीका अन्त भाग पड़ता है। यही उनका भ्रम है। इस भ्रमका भी एक कारण मेरी समझमे आता है वह यह कि ८४ सिद्धोमे नागार्जुनका भी नाम आता है, इसका समय अलबेरुनीके उल्लेखसे मिलता-जुलता है। नागार्जुनके नाम-साम्यके कारण ही अल-बेरुनीसे यह भूल हो गई जान पडती है। सिद्धोकी सूचीवाले नागार्जुन आयुर्वेदके ज्ञाता थे, यह अज्ञात विषय है।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध है कि कोई एक नागार्जुन रसतत्रके आचार्य हो गये है और उनका आयुर्वेद-जगत्मे महान् दान भी है। **सुश्रुतके** टीकाकार **डल्हण**का मत है कि **सुश्रुतके प्रसिद्धकर्ता नागार्जुन ही है। रसवृन्द** और **चक्रपाणि** लिखते है कि **अमुक पाठ नागार्जुनने कहे है। माधवके** टीकाकार **विजयरक्षितने** नागार्जुन कृत **आरोग्यमंजरीके** कई उद्धरण

उद्धृत किये हैं[१]। **रसरत्नाकर** और **कक्षपुटल** नागार्जुनकी रचना मानी जाती है।

अलबेरुनीकी भ्रामक परम्पराके आधारपर गुजरातके शोधक श्री दुर्गाशंकर भाई शास्त्रीने तीसरे—आयुर्वेदज्ञ—नागार्जुनकी कल्पना की है, पर उपर्युक्त विवेचनके बाद इस कल्पनाकी गुंजायश नहीं रहती।

वाकाटक

वाकाटकोंका साम्राज्य बुंदेलखंडसे लगाकर खानदेशतक फैला हुआ था। स्व० **काशीप्रसाद** जायसवालने इसका मूल स्थान **वाकाट** स्थिर किया है, जो वर्तमानमें ओड़छा राज्यान्तर्गत है। नागवंशी राजा भवनागका दौहित्र राजा रुद्रसेन था। इनको नानासे राज्याधिकार प्राप्त हुए थे। इस वंशके राजाओंके ताम्रपत्र मध्यप्रदेशके **सिवनी, बालाघाट, अमरावती** और **छिन्दवाड़ा** जिलेसे प्राप्त हुए हैं। इनकी राजधानी 'पुरिका'—**प्रवरपुरमें थी**[२]। वर्तमानका **पौनार** ही प्राचीन **प्रवरपुर** जान पड़ता है। यहाँपर प्राचीन अवशेष और सिक्के भी चातुर्मासमें मिल जाते हैं। यहाँ जैन मूर्तियाँ एवं मध्यकालीन लेख भी मिले हैं। मुझे कुछेककी छापें **बाबू पारसमलजी** सराफ एम० ए०, एल-एल० बी० द्वारा प्राप्त हुई थीं। मगधके सम्राट् चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने स्वपुत्री प्रभावती गुप्त रुद्रसेनको ब्याही थी,

---

[१]दुर्गाशंकर के० शास्त्री—ऐतिहासिक संशोधन, पृ० ४९८

[२]जनरल कनिंघमके मतानुसार वर्धा नदीका पूर्वी भाग वाकाटक राज्य था और संभवतः उनकी राजधानी भद्रावती-भांदक थी। प्रशस्तियोंमें ९ वाकाटक नरेशोंके नाम मिलते हैं। अजंटामें वाकाटक वंशकी जो प्रशस्ति है, उसके अनुसार वाकाटकोंने अपने निकटवर्त्ती निम्न राजाओंको जीता था—१ कुंतल (महाराष्ट्रका दक्षिण भाग) २ अवन्ती, ३ कलिंग, ४ कोसल, ५ त्रिकूट (थाना जिला), ६ लाट (दक्षिण गुजरात), ७ आन्ध्र (वारंगल)

जिसका पुत्र प्रतापी प्रवरसेन (द्वितीय) हुआ [सन् ४४०] अजंटाके एक गुफा-लेखसे सिद्ध है कि अतिम राजा हरिसेन (सन् ५२५) के आधीन गुर्जर, कलिंग, त्रिकूट, कोसल और आन्ध्र थे। कोसलका तात्पर्य छत्तीसगढसे है।

कोशला मेकला मालवाधिपति-
भिरभ्यार्चित शासनस्य

दक्षिणके चौलुक्योने वाकाटक साम्राज्यको समाप्त किया । राजा पुलकेशी (सन् ९१०) बडा प्रतापी व्यक्ति था। अजण्टाकी गुफाएँ सदाकाल-से बरारके अन्तर्गत रही है। उनके निर्माणमे मध्यप्रान्तके राजाओने भी सोत्साह भाग लिया था। अजटा, वर्तमान कालमे बरारकी सीमासे सातवें मीलपर अवस्थित है। कुल मिलाकर २९ गुफाएँ है। इनमे कुछ चैत्य एव विहार है। गुफाओकी परिधि पूर्वसे पश्चिमकी ओर ६०० गजमें है। यद्यपि इनका निर्म्माण एक ही समयमे नही हुआ, प्रत्युत ईस्वी सन् पूर्व २०० से सन् ७०० तक होता रहा। ८-१२-१३ गुफाएँ सर्व-प्राचीन है।

६ और ७ पॉचवी शताब्दीकी है। सख्या १–५–१४–२९ गुफाओका निर्माणकाल सन् ५००–६५० ईस्वीतकका है। १ सख्यावाली सबसे बादकी है। सख्या १६ मे वाकाटक राजाका लेख उत्कीर्णित है।

अधिकाश चित्र और मूर्तियाँ भगवान् बुद्धके चरित्रसे सबध रखती है, जिनका वर्णन जातकोमे आया है। १६ वी गुफामें बुद्धके ७ चित्र है। प्राणचक्र, विजयावतरण, कपिलवस्तु प्रत्यागमन, राज्याभिषेक, अप्सरा, महाहस, गन्धर्व, मातृपोषा शिविके दातृत्वके भी दृश्य है। न० १ मे राज-नैतिक चित्र सम्राट् पुलकेशी-विक्रमादित्यका है। पुलकेशीका सबध **ईरानके** सम्राट्से था। इस गुफामे जो चित्र है, उसमे ईरानके दूत द्वारा **पुलकेशीको** नजराना दिया गया है। यह रगीन चित्र इस प्रकार है :—

"पुलकेशी गद्दी बिछे हुए सिंहासनपर लम्बा गोलाकार तकियेके सहारे

बैठा है। पीछे स्त्रियां पंखा और चंवर लेकर खड़ी है। अन्य परिचारक स्त्री और पुरुष कुछ बैठे हे और कुछ खड़े है। राजाके सामने बायीं ओर एक बालक (राजकुमार) और वे मुसाहिब बैठे हे। राजा हाथ उठाकर मानों ईरानी दूतसे कुछ कह रहा हो।

राजाके सिरपर मुकुट, गलेमे बडे बड़े मोतियोंकी माला (साथमें माणिक भी लगे है), उसके नीचे जड़ाऊ कंठा, हाथोमे भुजदण्ड और कड़े हैं। यज्ञोपवीतके साथपर पचलड़ो मोतियोकी माला, प्रवर ग्रन्थियोके स्थानपर ५ बड़े मोती, कमरमें रत्नजड़ित करधनी है। घुटनेके ऊपरतक काछनी पहने है, सारा शरीर खुला हुआ है और दुपट्टा समेटकर तकियेके सहारे है। शरीर प्रचण्ड गोरा और पुष्ट है।

पुरुष जो वहांपर है, सभी एकमात्र धोती पहने हुए है। दाढ़ी और मूछें भी नही है। स्त्रियोके शरीरपर साड़ी और स्तनोपर पट्टियाँ बधी है। राजाके सामने ईरानी दूत हाथमें मोतियोकी माला लेकर भेंट कर रहा है। उसके पीछे दूसरा ईरानी हाथमे बोतलके समान वस्तु लिये खड़ा है। तीसरा हाथमे थाल लिये खड़ा है, चौथा बाहरसे कुछ वस्तुएँ लेकर द्वारमे प्रवेश कर रहा है। उसके पास जो खड़ा है, उसके कमरमें तलवार है। द्वारके बाहर कुछ ईरानियोंके साथ अन्य दर्शक भी खड़े है, पास ही घोड़े भी। ईरानियोके सारे शरीरपर वस्त्र है। सिरपर ईरानी टोपी, कमरतक अगरखा, चुस्त पैजामा, पैरोंमें मोजे भी है। सबके दाढ़ी और मूछें है।

दरबारमें सुन्दर बिछायत है और फर्शपर सुन्दर फूल बिखरे है। सिंहासनके आगे पीकदानी और उसके पास ही एक चौकीपर पानदान और अन्य पात्र रखे है। दीवालें सुन्दर बनी है। (Plate No. 5)

अजण्टाकी चित्रकारीका निर्माण इतना सुचारु है, शैली शुद्ध और परिष्कृत है। नमूने और आदर्श विविध है। रग प्रयोग इतना आनन्ददायक है कि इन चित्रोकी बराबरी ससारके अन्य चित्र नहीं कर सकते। यहांकी चित्रकारीमे जीवन है। मनुष्योके चेहरे उनकी मानसिक

अवस्था प्रकट करते हैं। अंग चेष्टासे भरे हैं। फूल प्रफुल्लित और विकसित हैं। पक्षी उड़ रहे हैं, पशु अपनी स्वाभाविकतासे कूद रहे हैं, लड़ रहे हैं या भार उठाये जा रहे हैं। डा० डुब्रेलने इस युगके विषयमें लिखा है—

The Vakātakas reigned over an Empire that occupied a very Central Position and it is through this dynasty that the high Civilization of the Gupta Empire and the Samskrit Culture in particular, spread throughout the Deccan. Between 400 and 500 the Vakātakas occupied a prominent position, and that we may say that "In the History of the 5th Centuary is Centuary of the Vakātakas.

गुप्त-राजवशके समयमे बौद्धोकी बडी उन्नति हुई थी। शिल्प-स्थापत्य और साहित्यका विकास उस समय खूब हुआ था। मध्यप्रान्त भी उस समय बौद्ध सस्कृतिसे प्रभावित था। चीनी यात्री श्यूआन्-चुआङ ६३९ ई० में मध्य-प्रान्तमे भ्रमण करते हुए, **भद्रावती** भी आया था। उस समय भद्रावतीमे उसे एक सौ सघाराम मिले, जिनमे १४ सौ भिक्षु रहते थे। उस समय वहाँका **सोमवंशी राजा** बौद्ध धर्मानुयायी था। उपर्युक्त चीनी यात्रीने अपने ग्रन्थमे प्रान्त और राजधानीका जो वर्णन किया है, वह ऐतिहासिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। वह लिखता है कि '**कोसल देशकी राजधानी सात मीलके घेरेमें है। ५ विशाल पर्वतोंपर कुछ गुफाएँ, साधु और उनके सहयोगियोंके निवासार्थ बनाई गई हैं**'। प्रान्तमे बौद्ध धर्मके जो अवशेष पाये गये है, उनके आधारपर नि सदेह कहा जा सकता है कि १२वी शताब्दीतक बौद्ध धर्मका प्रचार, मध्यप्रान्त और बरारमे था।

कनिंघम सा० ने चाँदा जिलेके **भाण्डक-भद्रावतीको** ही पाटनगर माना है। चाँदा जिलेमे यह स्थान, बरोरासे उत्तरमे ८ वें मीलपर अवस्थित

हैं। चीनी यात्री द्वारा वर्णित भद्रावती यही है। यात्रीने जिन गुफाओंका वर्णन किया है, वे यहाँसे एक मीलकी दूरीपर हैं और इस समय **बीजासन** नामक गुफाके नामसे विख्यात हैं। एक ही पहाडी काटकर ये गुफाएँ बनाई गई हैं। एक सीधी तथा बगलमे छोटी गलिये निकालकर, इस प्रकार एक ही गुफाको तीन गुफाओका रूप दे दिया गया है। तीनों गुफाओंके मुख्य गर्भगृहमे भगवान् बुद्धकी विशाल प्रतिमाएँ उत्कीर्णित है। सामनेके भागमे जाते हुए दाहिनी ओर एक छोटीसी कोठरी है, जिसमे तीन चार व्यक्ति सरलतापूर्वक रह सकते हैं। परन्तु वायुका प्रवेश यहाँ अब संभव नही जान पड़ता। गुफाके ऊर्ध्व भागमे चार बड़े छिद्र दिखलाई पडते हैं। संभव है वायु प्रवेशार्थ निर्माण किये होंगे, पर अब तो बन्द-से हो गये हैं। गुफाके ऊपर जो पहाडीका भाग है, वह ज्यादा ऊँचा नही है। अत. वायु-प्रवेशार्थ छिद्र बनाना भी स्वाभाविक है। बुद्ध भगवान्की प्रतिमाएँ कलाकी दृष्टिसे तो मूल्यवान् है, पर आवश्यकतासे अधिक सिन्दूर लग जानेसे कलात्माका साक्षात्कार नही होता। यहाँ प्रश्न उठता है कि इन गुफाओका निर्माता कौन था? तत्रस्थ एक शिलालेखमे वहाँके बौद्ध राजा **सूर्यघोष** द्वारा बौद्ध मन्दिर बनवाये जानेका वर्णन है। इस राजाका पुत्र महलके शिखरपरसे गिर गया था। उसीकी स्मृतिके लिए यह गुफा--मंदिर बनवाया गया। सूर्यघोषके पश्चात् **उदयन** और तदनन्तर भवदेवने सुगतके मन्दिरका जीर्णोद्धार किया[1]। एक समय भद्रावती नगरी बौद्ध-संस्कृतिका विशाल केन्द्र था। चीनी यात्रीके वर्णनसे ज्ञात होता है कि वहाँ १४ सौ भिक्षु निवास करते थे। आज भी वहाँ भूमिमे अधगडे गृह पर्याप्त परिमाणमे विद्यमान हैं। यदि वहाँ खनन किया जाय तो नि संदेह बौद्ध संस्कृति एवं शिल्पकलाके मुखको उज्ज्वल करनेवाले, अतीतके भव्य प्रतीक प्राप्त होनेकी पूर्ण संभावना है। चातुर्मासके बाद कई स्थानोपर

---

[1] **राय बहादुर स्व० डा० हीरालाल—मध्य प्रदेशका इतिहास पृ० १३,**

पानीसे जमीन धुल जानेसे गडे गढाये पत्थर निकल पडते है। कृषिजीवी अपने खेतोमें कूप या बाडके लिए मिट्टी खोदते है, तो जैन और बौद्ध मूर्तियाँ तथा तत्संबधी अवशेष मिल जाते है, कारण कि भद्रावतीमे चारो ओर छोटे-बडे बहुसंख्यक टीले है। कुछ ऐसे भी है जिनके ऊपर मकानके चिह्न परिलक्षित होते हैं। यहाँपर प्रासगिक रूपसे एक बातके उल्लेखका लोभ संवरण नही किया जा सकता। वह यह कि वर्तमान जिन-मन्दिर के पश्चात् भागमे सरोवर तीरपर एक टीलेमें एक दर्जनसे अधिक **बौद्ध** मूर्तियाँ, जिनमें अवलोकितेश्वर एवं वज्रयानकी तारा भी सम्मिलित है—अघगढी, १९३९ मे, मैने देखी थी। इनमेसे कुछेकपर **"ये धम्मा हेतु पभवा"** बौद्ध धर्मका मुद्रालेख खुदा हुआ था। इनकी लिपि दसवी शतीके महाकोसलीय ताम्रपत्र एव शिलोत्कीर्णित लेखोसे मिलती जुलती है। इन अवशेषोमेंसे मुझे १० इंच लबी स्फटिक रत्नकी तारादेवीकी एक तान्त्रिक प्रतिमा भी प्राप्त हुई थी। इसपर भी लेख खुदा हुआ है जो विशुद्ध देवनागरीका प्रतीक जान पडता था। यहाँपर सैकडोकी सख्यामे बौद्धावशेष तो उपलब्ध होते ही हैं, परन्तु भद्रावतीके चारो ओर २० मीलतक अवशेष बिखरे पडे है। बरोराकी **नगर-पालिका सभा** द्वारा सरक्षित उद्यानमे भी बौद्ध मूर्तिकलाके प्रतीक सजाकर रखे गये है। इनकी समुचित व्यवस्थाका कतई प्रबन्ध नही है। एक शिल्प—जो भगवान् बुद्धकी घोर वैराग्य दशाका सूचक है, बड़ा ही सुन्दर और कलापूर्ण है। बरोरा और भद्रावतीके बीच एक ग्राममे मुझे ठहरनेका अवकाश मिला था। नाम तो विस्मृत हो गया है। वहाँके ग्रामीणोने कई बौद्ध मूर्तियोसे एक चबूतरा बना डाला है। ३ दर्जनसे अधिक मूर्तियाँ चबूतरेपर अभी रखी भी है, जिनको लोग **"खाँड़ा देव"** करके मानते है, वस्तुत. वे भूमिस्पर्श-मुद्रास्थ बुद्धदेव ही है। मेरा विश्वास है कि उपरिसूचित भू-भागका अन्वेषण करनेपर भद्रावतीके इतिहासके साधन मिल सकते है।

बालापुर तालुकेमे **पातुर**के समीप पहाडीपर जो गुफाएँ उत्कीर्णित हैं,

उनका भी संबंध **बौद्धोसे** होना चाहिए। यद्यपि पद्मासनस्थ प्रतिमाओंके कारण कुछ लोग इसे जैन गुफा प्रसिद्ध करते हैं[1]।

सोमवशके परवर्ती शासकोंके साथ **गुप्त** नाम भी जुड गया। जिससे इतिहासकारोंने इनकी परिगणना इनके पिछले गुप्तोंमे कर ली।

वरार प्रान्तमे वौद्ध धर्मसे सबधित अवशेष मिलते है, वे उपर्युक्त वशके कारण ही। मध्यप्रदेशकी सीमापर अवस्थित 'अजण्टा'की गुफाएँ भी अविस्मरणीय हैं। इनका विकास भी क्रमिक रूपमे हुआ था। सोमवशी नरेशोके समय अजण्टाके बौद्ध श्रमणोका आवागमन वरारमे निश्चित रूपसे होता रहा होगा। जनता भी उनके उपदेशोंसे अनुप्राणित होती रही होगी।

सोमवंशी शैव कब हुए ?

सोमवशीय शासक **श्रीपुर--सिरपुर** (जिला रायपुर) में आये तो बौद्ध थे या शैव, यह एक समस्या है। स्व० डा० **हीरालालजीका** मत है कि वे भद्रावतीमे ही शैव हो गये थे और बादमे उन्होने अपनी राजधानी महानदीके किनारे श्रीपुरमे स्थानान्तरित की[2]। मै डा० साहबके इस कथनसे सहमत नही हूँ। मेरा तो यह दृढ विश्वास है कि सोमवशी पाडव श्रीपुर आनेके बाद भी कुछ कालतक बौद्ध बने रहे, जैसा कि सिरपुर व तत्सन्निकटवर्ती[3]

---

[1] **जैन एण्टीक्वेरी, दिसम्बर १९५०, पृ० ३९-४०।**

[2] **"मध्यप्रदेशका इतिहास" पृष्ठ २३,**

[3] **"द्रुग बहुत प्राचीन स्थान है। यहाँपर एक बुद्धकी मूर्ति तथा ऐसे कई चिह्न मिले है, जिनसे जान पड़ता है कि यहाँ बौद्धमतका बड़ा प्रचार था। पाली अक्षरोमें (भाषामे) यहाँपर एक लेख भी मिला था"**

द्रुग-दर्पण पृ० ७३,

प्रदेश स्थित पुरातन बौद्धावशेष व एक शिलोत्कीर्ण[1] लेखसे सिद्ध होता है। बौद्धधर्मका मुद्रालेख तत्कालीन वैदिक व जैन प्रतिमाओंमें भी पाया जाता है, जो बौद्धोंके व्यापक प्रचारके उदाहरण है। इस कल्पनाके पीछे ऐतिहासिक तथ्य है, वह यह कि आठवी शताब्दी बादकी यहाँपर अनेक बौद्ध प्रतिमाएँ पाई गई है। उनमेंसे जो **गन्धेश्वर मंदिरस्थ** प्रस्तर मूर्तियाँ है, उनकी रचना-शैली महाकोसलीय मूर्तिकलाके प्रतीक-सम होती हुई भी, परिकरान्तर्गत प्रभावली पर गुप्तकालीन आलेखनोंका स्पष्ट प्रभाव है। धातु-मूर्तियाँ भी उपर्युक्त प्रभावसे अछूती नहीं है। उभय प्रकारकी कतिपय प्रतिमाओंपर **ये धम्मा हेतु पभवा** और **देय धम्मोऽयम्** बौद्ध मुद्रालेख उत्कीर्णित हैं। इनकी लिपि अष्टम शतीके बादकी है। ऐसे ही लेखोंको देखकर शायद **डाक्टर हीरालालजी**[2] ने लिखा है कि अशोकके समयके लगभग एक सहस्र वर्ष पीछेकी मूर्तियाँ **भेड़ाघाट** और **त्रिपुरोमें** पाई जाती है। पर डाक्टर साहबका यह कथन भी सर्वांशतः सत्य नहीं ठहरता, कारण कि त्रिपुरीमें अवलोकितेश्वर और भूमि-स्पर्श मुद्रास्थित बुद्धदेवकी, जो मूर्तियाँ मुझे उपलब्ध हुई है, वे कलचुरि-कालीन मध्यकालकी सुन्दरतम कृतियाँ है। अर्थात् इनका रचनाकाल ११ वी शती बादका नहीं हो सकता। अवलोकितेश्वरकी अग्रपट्टिकापर जो लेख उत्कीर्णित है, उसकी लिपि **महाराजा धंगके** ताम्रपत्रोंसे पर्याप्त साम्य रखती है। निष्कर्ष कि भले ही साहित्यिक प्रमाणोंसे प्रमाणित न हो कि बौद्ध धर्मका अस्तित्व महाकोसलमें ११ वी शतीतक था, परन्तु पुरातत्त्वके प्रकाशसे तो यह मानना ही पड़ेगा कि ११वी शतीके मध्य भागतक न केवल महाकोसलमें ही अपितु, तत्समीपस्थ विन्ध्यप्रदेशमें भी आंशिक रूपसे बौद्ध-संस्कृति जीवित थी, जिसके प्रमाण-स्वरूप चन्देलकालीन अवलोकितेश्वर की प्रतिमाको रखा जा सकता है।

---

[1] **जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी १९०५ पृ० ६२४-२९,**
[2] **मध्यप्रदेशका इतिहास पृ० १२,**

बौद्धपरम्पराके इतिहाससे स्पष्ट है कि जहाँ कहीं भी **बौद्ध** धर्म फैला, वहाँ देशकालकी परिस्थितिके अनुसार, उसकी तान्त्रिक परम्परा भी क्रमशः फैली। ऐसी स्थितिमे महाकोसल इसका अपवाद नही हो सकता। यद्यपि अद्यावधि यह निर्णीत नही किया जा सका है कि महाकोसलमे भी बौद्धोकी तान्त्रिक परम्परा सार्वत्रिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी, न अधिक **बौद्ध** साहित्यिकोने ही इसपर प्रकाश डाला है, किन्तु समसामयिक साहित्यके तलस्पर्शी अध्ययन व अन्वेषित कलाकृतियोके आधारपर, बिना किसी सकोचके कहा जा सकता है कि महाकोसलमे भी किसी समय न केवल बौद्ध-मान्य तन्त्र-परम्परा ही प्रचलित थी, अपितु उनके बडे बडे साधना-स्थान भी बन चुके थे, वह इस प्रकार जनजीवनमें घुल-मिल गई थी कि बडे बडे कवियो और दार्शनिको तकको इस धारापर प्रतिबन्ध लगानेकी आवश्यकता प्रतीत हुई थी। भारतीय तान्त्रिक परम्पराका अन्वेषण मुझे यहाँ नही करना है, मुझे तो केवल महाकोसलमे विकसित तान्त्रिक परम्पराके प्रचारमे **बौद्धो**का दान कितना है ? यही देखना है।

महाकोसलका सास्कृतिक अन्वेषण तबतक अपूर्ण रहेगा जबतक **भवभूति**के साहित्यका भलीभाति अध्ययन नही हो जाता। कभी कभी एक साधारण घटना भी, घटना विशेषके साथ सबध निकल आनेपर, इतिहासकी उलझी हुई समस्या, सरलतापूर्वक सुलझा देती है। भवभूति, बौद्धोके तान्त्रिक परम्पराके विकासका पूरा इतिहास उपस्थित कर देते है। सोमवशी नरेश भाण्डकमे रहे तबतक बौद्ध थे। सिरपुर आनेके कुछ समय पश्चात् शैव हुए; जब महाकोसलमे इन्होने अपनी राजधानी परिवर्तित की, उस समय वे तान्त्रिक परम्परा भी साथ लाये। भद्रावतीमे सौसे अधिक सघारामोकी चर्चा **ह्यूआन-चुआङ**ने अपने भ्रमण-वृत्तातमे की है। सिरपुरके समीप **तुरतुरिया**मे भी बौद्ध भिक्षुणियो का स्वतन्त्र मठ स्थापित किया गया था। ये विहार तन्त्र-परम्पराशून्य नही थे। अस्तु।

अभिनव गवेषियोने निश्चित घोषणा की है कि आठवी शताब्दीके महाकवि **भवभूति** पद्मपुर (जिला भडारा, आमगाँव स्टेशनसे १ मील) के निवासी थे। जिस **पद्मपुर**का उल्लेख कविने **वीरचरित्र**के प्रथम अकमें किया है वह उपर्युक्त पद्मपुर ही जान पडता है। पद्मपुरके निकट आज भी एक छोटीसी पहाडी है, जिसकी प्रसिद्धि **भवभूतिकी टोरिया** के नामसे है। कुछ अवशेषोंको रखकर उन्हें भवभूतिके रूपमे पूजते हैं। **मालती-माधव**मे भवभूतिने अपने समयकी तान्त्रिक परम्पराका जो चित्र खीचा है, वह समसामयिक ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमिसे भी फलित होता है। उन दिनो महाकोसलमे बौद्ध व शैव तान्त्रिकोका बाहुल्य था। आपसी प्रेम भी था। भवभूतिने उपर्युक्त नाटकमे **बौद्धो**के तान्त्रिक समाजकी आन्तरिक दशाका विवरण दिया है। विशेषकर **परिव्राजिका कामन्दकी**का चरित्र बौद्ध भिक्षुणीके सर्वथा प्रतिकूल है, जो **बौद्धोकी** भग्न दशाका सूचक है। वह मालतीको उनकी सौभाग्य-वृद्धिके लिए शिवपूजार्थ, चतुर्दशीके दिन पुष्प चुननेतकको भेजती है। इन्हीकी एक शिष्या **सौदामिनी** बौद्धधर्मका परित्याग कर किसी अघोरी **अघोरघण्टकी** चेली बन जाती है। आश्चर्य तो इस बातका है कि कामन्दकीका समर्थन सौदामिनीको प्राप्त है[1]। **अघोरघण्ट** शैव परम्पराके क्रूर तान्त्रिक थे।

उपर्युक्त घटनासे ज्ञात होता है कि ह्रासोन्मुखी बौद्ध तान्त्रिक परम्परा क्रमश शैव परम्परामे घुल मिल गई, कारण कि साधकोकी साधना-पद्धति भिन्न होती हुई भी, कुछ अशोमे समान थी। भवभूति तान्त्रिक

[1]"**वन्द्या त्वमेव जगतः स्पृहणीयसिद्धिः**
एवं विधैर्विलसितैरतिबोधिसत्त्वः ।
यस्याः पुरापरिचयप्रतिबद्धबीज—
मुद्भूतभूरिफलशालि विजृम्भितं ते ॥"

समाजसे घृणा करते थे। पर उस समय यह परम्परा इतनी विकसित हो चुकी थी कि उसका विरोध करना बहुत कठिन था। पाशुपतोको वेदबाह्य घोषित करने पर शकराचार्य जैसे विद्वान्को **प्रच्छन्न बौद्ध** होनेका अपयश भोगना पडा था।

श्रीपुर--सिरपुर--

रायपुरसे सम्बलपुर जानेवाले मार्गपर **कउवांझर** नामक ग्राम पड़ता है। यहाँसे तेरहवे मीलपर सिरपुर अवस्थित है। घनघोर अटवीको पारकर जाना पडता है। महानदीके तीरपर बसा हुआ यह सिरपुर इतिहास और पुरातत्त्वकी दृष्टिसे कई मूल्यवान् सामग्री प्रस्तुत करता है। महाकोसलके सास्कृतिक इतिहासकी कडियोको सुरक्षित रखनेवाले नगरोमे, सिरपुरका अपना स्वतत्र स्थान है। निर्माण, विकास और रक्षाका सगम स्थान सिरपुर आज उपेक्षित, अरक्षित दशामें दैनन्दिन विनाशकी ओर आगे बढ रहा है। यहाँकी भूमि मानो कलाकृतियाँ ही उगलती है। जहाँ कही भी खनन किया जाय मूर्तियाँ, कोरणीयुक्त पत्थर तुरन्त निकल पडेगे। जितने वहाँ मन्दिर है, उतने आज उपासक भी नही है। प्राकृतिक सौन्दर्य अनुपम है जिसका आनन्द शायद ही कोई कलाकार ले सकते होगे। तात्पर्य कि सिरपुर किसी समय भले ही श्रीपुर—'लक्ष्मीपुर' रहा होगा, पर आज तो यह सस्कृति प्रकृति और कलाका सुन्दर सगम स्थल है।

नगरमे प्रवेश करते ही एक उच्चस्थान पडता है, जिसमे खडहरके लक्षण परिलक्षित होते है। इस खण्डहरमें प्रवेश करते समय मुझे थोडासा रक्त-दान भी करना पडा—वह इसलिए कि काँटोके वृक्ष इतने सघन थे, कि बिना भीतर-प्रवेश किये कोई भी वस्तु स्पष्ट दृष्टिगोचर नही होती थी। खण्डहरके ठीक मध्यभागमे भगवान् बुद्धदेवकी भव्य और विशाल प्रतिमा जमीनमे गड़ी हुई थी। कमरतक छः फुटकी होती

थी, इसीसे उसकी विशालताका अनुमान किया जा सकता है। मुद्राभूमि-स्पर्श—तारा और अवलोकितेश्वरके दो प्रतिमाखण्ड भी—जो लेखयुक्त है—विद्यमान है। समीप ही किवाँचका जगल पड़ता है, इसमें भी ऐसी ही तीन मूर्तियाँ पडी हुई है। एक तो स्तम्भपर ही उत्कीर्णित है। कलाकारने इस लघुतम प्रतीकमे बुद्धदेवके जीवनकी वह घटना बताई है, जो सर्वप्रथम राजगृह जानेपर घटी थी। विशेषकर हाथीका बुद्धदेवके चरणोमे सर्वस्व समर्पण तो बहुत ही सुन्दर बन पडा है।

महानदीके तटपर **गन्धेश्वरमहादेवका** एक मन्दिर है। इसमे भी बुद्ध-प्रतिमाओका जो सग्रह है, वह निस्सन्देह कलाकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आधे दर्जनसे अधिक प्रतिमाएँ तो भूमि-स्पर्श मुद्राकी ही है, जो काफी विशाल और उज्ज्वल व्यक्तित्वकी परिचायक है। उनमेसे कुछेकपर खुदे हुए लेख व अलकारपूर्ण प्रभामडलसे यही ज्ञात होता है कि उनकी आयु तेरह सौ वर्षसे कम नही है। गुप्तकालीन प्रभाव स्पष्टत परिलक्षित होता है। सूचित प्रतिमाओमे बोधिवृक्षकी पत्तियाँ अत्यन्त कुशलतापूर्वक व्यक्त की गई है। चीवर अधिकाशत पारदर्शी है—प्रतिमाओंके निम्न भागमे नारी-मूर्ति है, जो पृथ्वीका प्रतीक है। एक शिलापट्टका उल्लेख बड़े खेदके साथ करना पड रहा है कि यह जितना महत्त्वपूर्ण एवं इस प्रान्तमे अन्यत्र अनुपलब्ध है, उतना ही अरक्षित और उपेक्षित भी है। भगवान् बुद्धदेवकी मार-विजयवाली घटनाएँ चित्रित तो मिलती है, किन्तु पत्थरोपर खुदी हुई बहुत ही कम। यहाँके मन्दिरमे छै. फुट लम्बी ३॥ फीट चौडी (६×३॥) प्रस्तर शिलापर मारविजयकी घटनाको रूपदान देकर, कलाकारने न केवल अपने सुकुमार व भावपूर्ण हृदयका ही परिचय दिया है वरन् उससे कलाकारकी चिरकालीन दीर्घ तपस्याका भी अभिबोध होता है। शृगार एव शान्तरसका एक ही स्थानपर ऐसा समन्वय अन्यत्र, कमसे कम बौद्ध-कला-कृतियोमे कम दृष्टिगोचर होगा। कहाँ तो उद्दीपित सौन्दर्ययुक्त नारीमुख एव कहाँ साधककी सम्पूर्ण विरागता और प्राकृ-

तिक शान्ति। यह पट्ट जाने-ग्रानेवाले यात्रियोके ग्रारामके लिए कुर्सीका काम देता है।

लक्ष्मणदेवालय जाते हुए मार्गमें विशाल जलाशय पड़ता है, उसके तीरपर हिन्दू देव-देवताग्रोके मदिरोमे—झोपड़ियोमें ग्रवलोकितेश्वर, तारा, वज्रयान ग्रादि तान्त्रिक नग्न मूर्तियाँ ग्रवस्थित हैं। सिन्दूरसे इस प्रकार लीप पोत दी गई है कि उसकी कला व भाव छिप-से गये हैं। मूर्तियाँ लेखयुक्त है। लक्ष्मणदेवालयके समीप ही भारतीय पुरातत्त्व विभागकी ग्रोरसे साधारण व्यवस्था की गई है जहाँ सिरपुरसे प्राप्त कतिपय ग्रवशेष रखे तो गये है सुरक्षाकी दृष्टिसे, पर है पूर्णत. ग्ररक्षित। **बरामदा टूट-सा गया है। इसकी मरम्मत बहुत ग्रावश्यक है।**

धातु-प्रतिमाएँ

सिरपुरका सात्त्विक परिचय सर्वविदित है। इसका महत्त्व सास्कृतिक दृष्टिसे तो है ही, पर बहुत कम लोग जानते है कि यहाँपर न केवल पुरातन मन्दिर, शिला व ताम्रलिपियाँ ही उपलब्ध होती है, ग्रपितु प्रान्तके सास्कृतिक मुखको ग्रालोकित करनेवाली ग्रत्यन्त सुन्दर सुगठित व कलापूर्ण धातु-प्रतिमाएँ भी प्राप्त होती है। यो तो भारतमे ग्रन्य स्थानोमें भी तथाकथित मूर्तियाँ मिलती है, पर सिरपुरका धातु-मूर्ति-सग्रह ग्रपने ढगका **ग्रनोखा है**। एक ही कालकी सुन्दरतम कला-कृतियोका इतना बडा सग्रह मैंने तो मध्यप्रान्तमें क्या, **बिहार** को छोड कर कही नही देखा **है**। प्राप्त प्रतिमाग्रोंका परिचय इस प्रकार है ग्रौर इनकी सख्या लगभग २५ है।

एक प्रतिमा ११॥×६॥ इच है। मध्य भाग ग्रंडाकृतिसूचक है। इसपर भगवान् बुद्ध, दक्षिण हस्त पृथ्वीकी ग्रोर तथा वाम गोदमे रक्खे हुए, विराजमान है। निम्न भागमे मगल मुख है। मस्तकके पास दो भिक्षुग्रोंकी ग्राकृति इस प्रकार बनी है, जैसी नालन्दाके खंडहरस्थित

डिलवाबुद्धकी मूर्तिमें बनी है। ये आकृतियाँ **सारीपुत्त और मोग्गलायन-**की होनी चाहिए। पृष्ठभागमें जो स्तम्भाकृति है, वह साँचीके तोरणद्वारके अनुरूप है। तोरणकी मध्यवर्ती पट्टिकाके पीछे दो पंक्तियोंमें—

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतोऽवदत्
अवदच्च ये निरोधो एवं वादी महाश्रमणः
देय धम्मोऽयम्

मुद्रालेख उत्कीर्णित है। मूर्तिका मुख-मंडल न केवल नेत्रानन्दका ही विषय है, अपितु उसकी नैसर्गिक सौन्दर्य-आभा हृत्तन्त्रीके तारोंको झंकृत् कर, आत्मस्थ सौन्दर्य उद्‌बुद्ध करती है। भगवान्‌के दैविक तथा आध्यात्मिक भावोंको लेकर कलाकारने इसका निर्माण किया है।

एक अन्य प्रतिमा, जो कमलपर विराजमान है। यह भी ऊपरवाली मूर्तिके समान ही भावसूचक है, पर इसमें व्यक्ति प्रधान न होकर सौन्दर्य प्रधान है। इसके अंग-प्रत्यंगपर कलाकारकी सफल साधना उद्दीपित हो उठी है। एक प्रतिमा तारादेवीकी भी है। इसमें वस्त्र-विन्यास एव आभूषणोंका चयन, जिस सफलताके साथ व्यक्त किया गया है, वैसा कमसे कम मध्यप्रदेशमें तो कही नही मिलेगा। वस्त्रके एक-एक तन्तु गिने जा सकते हैं। उसकी सिकुड़न कम विस्मयकारिणी नहीं। सबसे बढकर बात तो यह है कि वस्त्र और चोलीके स्थानपर उत्तरीय पट है, उसमें बारीक किनार है। मध्य भागमें जामेट्रीकल बेल-बूटे हैं। कहीं-कहीं चाँदीके गोल फूल, मूँगके दानेके बराबर, लगाये गये हैं। केशविन्यास व नागावलि गुप्तकालीन है। मस्तकपर जो मुकुट है, उसमे तथा कटि-मेखलाके मध्यवर्ती रिक्त स्थान में क्रमशः पुखराज और माणिक जड़े हुए हैं। मूर्ति ९॥×५॥ इंच है।

चौथी मूर्ति अपने ढगकी एक ही है। एक व्यक्ति कमलासनपर विरा-जित है। निम्न भागमें टहनीयुक्त कमलपत्र अपनी स्वाभाविकताको

लिये हुए है। इसपर व्यक्तिका दायाँ चरण स्थापित है। बायाँ चरण नाभि प्रदेशके निम्न भागमे है। हाथ पुस्तिकासे सुशोभित है। व्यक्ति-की मुख-मुद्रासे ऐसा प्रतीत होता है कि वह अध्ययन एव मननमे बहुत ही व्यस्त है। आँखोके ऊपरका भाग उठकर भालस्थलपर रेखाएँ खिच गई है—जैसे कोई बहुत बडी समस्याओने उलझा रक्खा हो। कानोमे कुडल है। जटा बिखरी हुई है। पारदर्शक एक उत्तरीय वस्त्र अव्यवस्थित रूपसे पडा है। कलाकारने इस प्रतिमामे गहन चिन्तन मुद्राको ऐसा मूर्त किया है, कि देखते ही बनता है।

इन मूतियोके अतिरिक्त एक दर्जनसे अधिक प्रतिमाएँ भगवान् बुद्धदेवके जीवन-क्रमपर प्रकाश डालनेवाली घटनाएँ प्रस्तुत करती है। मै उनमेसे एक विशाल प्रतिमाके परिचय देनेका लोभ सवरण नही कर सकता। मुझे इस प्रतिमाने बहुत प्रभावित किया। १५ इच चौडी और ८ इच लम्बी धातु-पट्टिकापर जीवनकी तीन घटनाएं सामूहिक रूपसे अकित है। प्रथम घटना 'मारविजय'की है। इसमे सबसे बडी कुशलता यह दृष्टिगोचर होती है कि महाकोसलके सक्षम कलाकारने गतिशील भावोको, अपनी चिरसाधित छैनीसे तादृश रूपसे स्थितिशील कला द्वारा, व्यक्त करनेका सफल प्रयास किया है। नारियोके नृत्यकालीन अगोकी मुकडनके साथ नेत्रोपर पडनेवाला प्रभाव व नारी-सुलभ चाञ्चल्य प्रत्येक के मुखपर परिलक्षित होता है। महाकोसलीय नारी-मूर्ति कला व नृतत्त्व शास्त्रीय परम्पराके प्रकाशमे जिसे यहाँकी नारियोका अध्ययन करनेका सुअवसर मिला है, वे ही इस पट्टिकान्तर्गत उत्कीर्णित नारियोकी प्रादेशिक मौलिकताका व शारीरिक गठनका अनुभव कर सकते है। सगीतके विभिन्न उपकरणोमे यहाँ एक बाँस भी है। वशवादन आज भी महाकोसलकी आदिवासी जातियोके लिए सामान्य बात है। आभूषण भी विशुद्ध महाकोसलीय ही है, कारण कि तात्कालिक व तत्परवर्त्ती दो शताब्दियो तक वैसे आभूषण प्रस्तरादि मूर्तियोमे व्यवहृत हुए है।

दूसरी घटना बुद्धदेवके निर्वाणसे सम्बद्ध है। एक लम्बी चौकीपर, सुन्दर गोल तकियेके सहारे बुद्धदेव लेटे हुए है। एक शिष्य सिरहाने व तीन चरणके पास सशोक मुद्रामे बैठे है।

तीसरी घटना बुद्धदेवकी तपश्चर्याका परिचय देती है। निकट ही बदरोका यूथ भी बताया गया है। अन्य धातु-मूर्तियाँ इतनी नग्न और अश्लील है कि उनका शब्दचित्र मेरी लेखनीका विषय नही हो सकता। जिन्होने नैपाली व तिब्बतीय तन्त्र-परम्परामान्य वज्रयानकी तान्त्रिक मूर्तियाँ देखी है, वे इन मूर्तियोकी कल्पना भलीभाँति कर सकते है। तीन ऐसी मूर्तियाँ है, जिनकी कमल पँखुरियोपर, **स्वर्णादित्य और मैत्रेय** ये नाम पढे जाते है।

मूर्तियोंकी प्राप्ति व निर्माणकाल

इतने विवेचनके बाद प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ये मूर्तियाँ कहाँसे आई और इनका निर्माणकाल क्या हो सकता है?

वर्तमानमे यह सब धातु-मूर्तियाँ वहाँके भूतपूर्व मालगुजार **श्यामसुन्दरदासजी** (खड्दाऊ[1])के अधिकारमे है। वे बता रहे थे कि सिरपुरमे सरोवरके तीरपर एक मन्दिर है, उसमे खुदाईका काम चल रहा था, जब जमीनमे सब्बल लगते ही खनखनाहट भरी ध्वनि हुई, तब वहाँके पुजारी **भीखणदासने** कार्य रुकवाकर नौकरोंको विदा किया और स्वयं खोदने लगा। काफी खुदाईके बाद, कहा जाता है कि एक बोरेमेसे ये मूर्तियाँ निकलीं और उसने उपर्युक्त मालगुजारको सौप दी। विशुद्ध धार्मिक व जानपदीय मानस होनेसे, पहिले तो वे स्वीकार करनेमे हिचके, पर स्वर्णसे चमचमाती हुई मूर्तियोंने उन्हे अपने घर लिवा ले जानेको बाध्य किया, जैसा कि कहीं-कहीं मूर्तियोंके उपागोंपर, पडे हुए छैनीके चिह्नों

[1] **रायपुर जिलेमें स्थानीय अग्रवालोंकी प्रसिद्धि 'दाऊ' शब्दसे है,**

से प्रतीत होता है। वे अपने निवासग्राम, **गिधपुरी** (जो सिरपुरसे २।। कोस दूर है) ले गये। दैवसयोगसे वहाँ उसी रातको भयकर अग्नि-प्रकोप हुआ। परिवारके सदस्योका स्वास्थ्य भी विकृत हो गया। भय-भीत होकर दूसरे दिन ये मूर्तियाँ पुनः सिरपुर लाई गईं। दाऊ साहबने अपने मालगुजारी बाड़ेमे रखवा दी। कभी-कभी भयके कारण इनपर पानी भी ढाल दिया जाता था और कभी धूप भी बता दिया जाता था। दाऊ साहब, यों तो इस सम्पत्तिके दर्शन हर एकको नही कराते है, शायद इसीलिए विज्ञ जनोकी दृष्टिसे अभीतक ये वचित रही, मुझे तो उन्होने उदारतापूर्वक न केवल दर्शन हीं कराये अपितु आवश्यक नोट्स लेनेके लिए भी तीस मिनटका समय दिया था। यह घटना १६ सितम्बर १९४५की है। मुझे बताया गया कि मूर्तियाँ बोरेमेसे मिली। इसमे सत्याश कम है; क्योकि कुछ मूर्तियोंपर मिट्टीका जमाव व कटाव ऐसा लग गया है कि शताब्दियो तक भू-गर्भमे रहनेका आभास मिलता है, जब कि बोरा इतने दिनोतक भूमिमे रह ही नही सकता। सभव है किसी बडे बर्तनोमे ये मूर्तियाँ निकली हो, क्योकि कभी-कभी बर्तन व सिक्के, वर्षाकालके बाद साधारण खुदाई करनेपर निकल पडते है।

महाकोसलकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमिको देखते हुए इन मूर्तियोंका निर्माणकाल सरलतासे स्थिर किया जा सकता है। इनपर खुदी हुई लिपियोसे भी मार्गदर्शन मिल सकता है। सातवीं शताब्दीके बाद भद्रावतीके सोम-वशियोंने अपना पाटनगर सिरपुर स्थापित किया। निस्सन्देह वे उस समय बौद्ध थे, जैसा कि उपर्युक्त प्रासगिक विवेचन व इन मूर्तियोंसे स्पष्ट हो चुका है। मूर्तियोपर खुदी हुई लिपियाँ सोमवश-कालीन लेखोसे साम्य रखती है। मूर्तिकला बहुत कुछ अशोमे गुप्तकलाका अनुधावन करती है, बल्कि स्पष्ट शब्दोमें कहा जाय, तो गुप्तकालीन मूर्तिकलामे व्यवहृत कलात्मक उपकरण व रेखांकनोको स्थानीय कलाकारोंने पूर्णतः अपना

लिया है। ये मूर्तियाँ सम्भवतः महाकोसलमे ही ढाली गई होंगी। इनका निर्माणकाल ईसाकी आठवी शती पूर्व एवं नवम शदी बादका नही हो सकता। इन प्रतिमाओको देखकर नालन्दा व कुर्किहारकी धातु-मूर्तियो-का स्मरण हो आता है। महाकोसलके सास्कृतिक इतिहासमे इन प्रति-माओका सर्वोच्च स्थान है। तात्कालिक मूर्तिकलाका सर्वोच्च विकास एक एक अगपर लक्षित होता है।

तारादेवी

सिरपुरसे प्राप्त समस्त धातु-प्रतिमाओमे तारादेवीकी मूर्ति सबसे अधिक सुन्दर और कलाकी साक्षात् मूर्ति सम है। महाकोसलकी यह कला-कृति इस भागमे विकसित मूर्तिकलाका प्रतिनिधित्व कर सकती है। भारतमे इस प्रकारकी प्रतिमाएँ कम ही प्राप्त हुई है। मुझे गन्धेश्वर मदिरके महन्त श्री **मंगलगिरि** द्वारा स० १९४५ दिसम्बरमे प्राप्त हुई थी। इग्लैडके अन्तर्राष्ट्रीय कला प्रदर्शनीमे भी रखी गई थी। दिल्लीमे भी कुछ दिनोतक रही।

कलाके इस भव्य प्रतीककी ऊँचाई अनुमानत. १॥ फुटसे कम नही, चौड़ाई १२″ इचकी रही होगी। यो तो यह सप्तधातुमय है, पर स्वर्णका अश अधिक जान पडता है। इतने वर्ष भूमिमे रहनेके बावजूद भी साफ़ करनेपर, उसकी चमकमे कही अन्तर नही पडा। किसी धनलोलुपने स्वर्णमय प्रतिमा समझकर परिकरकी एक मूर्तिके बायें हाथपर छैनी लगाकर, जाँच भी कर डाली है, चिह्न स्पष्ट है। यह परम सौभाग्यकी बात है कि वह छैनीसे ही सन्तुष्ट हो गया, वर्ना और कोई वैज्ञानिक प्रयोगका सहारा लेता तो कलाकारोको इसके दर्शन भी न होते! परिकरके मध्यभागमें सुन्दर आसनपर तारा विराजमान है। दक्षिण करमें सीताफलकी आकृति-वाला फल दृष्टिगोचर होता है, सभवतः यह बीजपूरक होना चाहिए। वाम हस्त आशीर्वादका सूचक है—ऊपर उठा हुआ है। पद्म भी

स्पष्ट है। अगुष्ठ और कनिष्ठामे अँगूठी है। दक्षिण अगुष्ठमें तो अँगूठी दिखलाई पडती है, पर कनिष्ठा फलसे दब-सी गई है। दोनों हाथोमे दो-दो ककण और बाजूबन्द है, गलेमे हँसुली[1] और माला है, इनकी गाँठे इतनी स्पष्ट और स्वाभाविक है कि एक-एक तन्तु पृथक् गिने जा सकते है। कटिप्रदेशमें करधनी[2] बहुत ही सुन्दर व बारीक है, इसकी रचना

---

[1]हँसलीका प्रचार भारतवर्षके विभिन्न प्रान्तोमें सामान्य हेरफेरके साथ दृष्टिगोचर होता है। गुप्तकालीन प्रस्तर एव धातु-मूर्त्तियोंमे एवं पहाड़पुर (बंगालके बारहवीं शतीके) अवशेषोमें इसका प्रत्यक्षीकरण होता है, एवं हर्षचरित, कादम्बरी आदि तत्कालीन साहित्यसे फलित होता है कि उस समय रत्नजटित हसलियोंका प्राचुर्य्य था। उसकी पुष्टिके लिए पुरातात्विक प्रमाण भी विद्यमान है। छत्तीसगढ़ प्रान्तमें तो हँसुली ही आभूषणोंमें शिरोमणि है। यहाँके प्राचीन लोक-गोतोमे हँसुलीका उल्लेख बड़े गौरवके साथ किया गया है,

[2]कटिमेखला भी स्त्रियोका खास करके प्राचीन समयका प्रधान आभरण था। यदि भिन्न-भिन्न प्रकारसे निर्मित कटिमेखलाओंपर प्रकाश डाला जाय तो निस्सन्देह एक ग्रन्थ सरलतासे तैयार हो सकता है।

भारतीय इतिवृत्त और पुरातत्त्वके अनुसन्धानकी उपेक्षित दिशाओंमे आभूषणोंका अन्वेषण भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। भारतके विभिन्न प्रान्तोसे उपलब्ध होनेवाले आभूषण, उनमें कलात्मक दृष्टिसे क्रमिक विकास कैसे कैसे कौन-कौनसी शतीमें होता गया, तात्कालिक साहित्यमें जिन आभूषणोंके उल्लेख मिलते है उनका व्यवहार चित्रो और स्थापत्य कलामे कबसे कबतक बना रहा? और वे आभूषण प्रान्तीय कलाभेदसे किन किन प्रकारसे कलाविदों द्वारा अपनाये गये, आदि विषयोके अन्वेषणपर भारतीय विद्वानोंका ध्यान बहुत ही कम आकृष्ट हुआ है। ये आभूषण यों तो भारतीय आर्थिक विकास एवं सामाजिक प्रथा व लोक-सुरुचिके

भी साधारण नही है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और आकर्षक भाग है—इसका केश-विन्यास। यह केशविन्यास गुप्तकालीन कलाका सुस्मरण दिलाता है। केशराशि एकत्र होकर तीन आवलीमे मस्तकपर लपेट दी गयी है। प्रत्येक आवलीमें भी आभूषण स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। विविध प्रकारके फूलोंसे गुँथा है। भालस्थलके ऊपर के भागमें सँवारे हुए केशोंपर एक पट्टी बँधी हुई है, जिससे केशराशि बिखरने न पावे। मध्य भागमे चणक प्रमाण स्थान रिक्त है। इसमें कोई बहुमूल्य रत्न रहा होगा, कारण कि सिरपुरकी और मूर्तियोमे भी रत्न पाये गये हैं। अवशिष्ट केशोकी वेणी दोनो ओर लटक रही है। कर्णमे कुडलके[1] अतिरिक्त

परिचायक है परन्तु हमारा अनुभव है कि पुरातन शिल्पकलात्मक अवशेष, देवदेवीकी प्राचीन प्रतिमाएं, जिनपर लेख उत्कीर्णित नहीं है, ऐसे कलात्मक उपकरणोंका समय निर्धारण करनेमें उपर्युक्त आभूषण अन्वेषण और मनन-में सहायक हो सकते हैं। कभी कभी ये अवशेष पुरातत्त्वकी मूल्यवान् कड़ियें जोड़ देते हैं, अतः भारतीय पुरातन शिल्पस्थापत्य-कलामें एवं साहित्यिक ग्रंथोंमें प्राप्त होनेवाले आभूषणविषयक लेखोंका अध्ययन पुरातत्त्व और सांस्कृतिक दृष्टिसे आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य्य है,

[1]मध्यकालीन भारतमें कर्णमें विविध आभूषण परिधान करनेका उल्लेख पाया जाता है। कुछ प्राचीन मूर्त्तियाँ ऐसी मिली है जिनके कर्ण-सच्छिद्र हैं। आठवीं शतीके शिल्पावशेषोंमें इसका प्रचार प्रचुरतासे था। यों तो वाल्मीकि रामायण आदि प्राचीन ग्रंथोंमें इसका उल्लेख आता ही है। प्रस्तुत प्रतिमाके केयूर आवश्यकतासे अधिक बड़े होते हुए भी सौन्दर्यकी रक्षा करते हैं। सिरपुरके भग्नावशेषोंमें केयूरोंका बाहुल्य है। इतना अवश्य है कि उत्तरभारतीय और पश्चिमभारतीय अवशेषोंमें उत्कीर्णित केयूरोंमें पर्याप्त विभिन्नत्व है। उत्तरभारतीय कुछ प्रतिमाओंमें हमने केयूर रत्नजटित भी देखे हैं,

पुष्पोंका बाहुल्य है। बायाँ भाग विशेष रूपसे सजा हुआ है, सदड कमलसे गुँथा है। दायें कानमें आभूषण बायेसे बिल्कुल भिन्न प्रकारके हैं, जो स्वाभाविक है। गुप्तकालीन अन्य मूर्तियोमे इस शैलीका जमाव मिलता है। गलेकी त्रिवली बहुत साफ़ है। भौहे सीधी है; जो गुप्तकालकी विशेषता है। भालस्थलकी छोटीसी बिन्दी, दोनो भौहोके बीच शोभित है। आँखोका निर्माण सचमुच आकर्षक है। आँखे चाँदीकी बनाकर ऊपरसे जड़ दी गई है। मध्यवर्ती पुत्तलिका-भाग कटा हुआ है। नागावली और यज्ञोपवीत शोभामे अभिवृद्धि कर रहे है। ताराके वक्षस्थलपर चोली है, इसमें चाँदीके फूल जडे है। साडीका पहनाव भी है। सम्पूर्ण साड़ीमें स्वाभाविक बेल-बूटे उकेरे हुए हैं। धातुपर इतना सुन्दर काम मध्य-प्रदेशमें अन्यत्र नही मिला। मुखमुद्रा, शरीरकी सुघड़ता, कलाकारकी दीर्घकालीन साधनाका परिणाम है। इस प्रकार ताराकी भव्य प्रतिमा प्रेक्षकोंको सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। मूल प्रतिमाके दोनो ओर स्त्रीपरिचारिकाएँ खड़ी है। दोनोकी मुद्रा भिन्न है। दाईं ओरवाली स्त्री अपना दायाँ हाथ, निम्न किये हुए है और बाँयें हाथमें सदड कमल-पुष्प लिये है। कमलकी पँखुड़ियाँ बिल्कुल खिली हुई है। इनकी अँगुलियोमे स्वाभाविकता है। बाई ओरवाली स्त्री दोनो हाथमें पुष्प लिये समर्पित कर रही हो, इस प्रकार खडी है। बाये हाथमे कमलदड फँसा रखा है। उपर्युक्त दोनो परिचारिकाओके आभूषण, वस्त्र और केशविन्यास समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि दाईं ओरवाली परिचारिका, उत्तरीयवस्त्र धारण किये है जब बाईं ओर केवल चोली ही है। तीनो प्रतिमाओकी रचना इस प्रकार है कि चाहे जब परिकरसे अलग की जा सकती है। तन्निम्न भागमे ढली हुई ताम्रकील है। परिकरमें इनके लिए स्वतत्र स्थानपर छिद्र है।

मूर्तिका सौन्दर्य व्यापक होते हुए भी, बिना परिकरके खुलता नहीं है। इसके परिकरसे तो मूर्तिका कलात्मक मूल्य दूना हो जाता है। परि-

करकी रचनाशैली विशुद्ध गुप्तकालीन है। इसके कलाकारकी व्यापक चिन्तन और निर्माण शक्तिका गभीर परिचय, उसके एक-एक अंगसे भली-भाँति मिलता है। परिकरके निम्न भागमें कमलकी शाखाएँ, पुष्प और पत्र बिखरे पड़े हैं—ऐसा लगता है कि इन कमलकी शाखाओंपर ही मूर्ति आधृत है। कमलपत्रपर दाईं ओर जाँघिया पहने एक भक्त हाथ जोड़कर नमस्कार कर रहा है। उसके पीछे और सामनेवाले भागमे जाँघिया पहने एक व्यक्ति है, हाथोंमे पूजोपकरण है। इनके मस्तकोपर सर्पकी तीन-तीन फने हैं। जहाँ भक्त अधिष्ठित है, वहाँ एक चौकी सदृश भागपर जलयुक्त कलश, धूपदान और पचदीपवाली आरती पडी हुई है। मुझे तो ऐसा लगता है मानो परिकरमे पूरे मंदिरकी कल्पनाको, रूप दे दिया गया है। इस ढगकी परिकरशैली अन्यत्र कम ही विकसित हुई होगी। पूजोपकरणके ऊपर एक उच्च स्थानपर दो सिंह है, तदुपरि एक रूमालका छोर लटक रहा है। इसके ऊपर घटाकृति समान कमलासन है। कमलके इस आकारका अकन बड़ा सफल हुआ है। कमलमे अमुक समय बाद फल भी लगते हैं, जो कमलगट्टेके रूपमे बाज़ारमे बिकते है। तारा देवीका आसन भी कमलके फल लगनेवाले भागपर है[1]। कारण कि उसके आसनके नीचे गोल-गोल बिन्दू काफ़ी तादादमे हैं। कोर भी इससे बच नही पाई, जैसा कि चित्रसे स्पष्ट है। मुख्य आसनके दोनो बैठे हुए हाथी, उनके गडस्थलपर पंजे जमाये हुए, सिह खड़े है। इनकी केशावली भी कम आकर्षक नही। मुख्य मूर्तिके पीछे जो कोरणीयुक्त दो स्तम्भ हैं वे गुप्तकालीन हैं। मध्यवर्ती पट्टी—जो दोनोको जोड़ती है, विविध जातिकी कलापूर्ण रेखाओंसे विभूषित है। पट्टिकाके निम्न भागमें मुक्ताकी मालाएँ, बंदरवारके

---

[1]इन बिन्दुओंवाला आसन गुप्तकालीन है। प्रयाग संग्रहालयमें चंद्रप्रभ स्वामीकी मूर्तिके आसनमें ऐसा ही रूप प्रदर्शित है।

—महावीर-स्तुति ग्रन्थ, पृ० १९२,

समान है। दोनों स्तम्भोंके बीच बोधिवृक्षकी पत्तियाँ हैं। यह तोरण साँचीके तोरणद्वारकी अविकल प्रतिकृति है। तोरणके ऊपर मध्य भागमें भगवान् बुद्धदेव ध्यानमुद्रामे हैं। पीछेके भागमे गोल तकिया दिखलाई पडता है। भामडल विशुद्धगुप्तकालीन है। ऊपर मगलमुख है। आजू-बाजू वज्रयानकी मूर्तियाँ हैं।

इस प्रतिमाको देखकर भारतके कलामर्मज्ञ **श्री अर्द्धेन्दुकुमार गांगुली, शिवराममूर्ति, मुनि जिनविजयजी,** आदि कलाप्रेमियोने इसका निर्माण काल अन्तिम गुप्तयुग स्थिर किया है। इस युगकी मूर्तिकलाकी जो-जो विशेषताएँ हैं, वे प्रासगिक वर्णनके साथ ऊपर आ चुकी हैं।

डा० **हजारीप्रसादजीके** मतसे यह वज्रयानकी तारा है।

तारादेवीके अतिरिक्त जो धातुमूर्तियाँ सिरपुरमे विद्यमान हैं, उनका अस्तित्व समय भी अन्तिम गुप्तकाल ही माना जाना चाहिए। छीटके वस्त्रका सर्वप्रथम पता हमे अजटाके चित्रोसे लगता है। मूर्तिकलामे भी उसी समय इसका व्यवहार होने लगा था। धातुमूर्तियोंपर अजटाकी रेखाओका भी काफी प्रभाव है। अग-विन्यास, शरीरका गठन, आँखोकी मादकता, वस्त्रो और आभूषणोका सुरुचिपूर्ण चयन, उपर्युक्त प्रतिमाओकी विशेषता है। स्वर्णाशके साथ रत्नोका भी बाहुल्य है। अत शासकद्वारा निर्मित होना अधिक युक्तिसगत जान पडता है। असभव नही यह पूरा सेट सोमवशी राजाओने ही अपने लिए बनवाया हो।

तुरतुरिया[1]

ऊपर मै लिख ही चुका हूँ कि सिरपुर भयकर अटवीमे अवस्थित है। आजके सिरपुरकी सीमा तो बहुत ही सकुचित है। जनसख्या भी नगण्य-सी

---

[1]यहाँ एक पानीका झरना है, जिसमे पानी 'सुर सुर' या 'तुर तुर' करता है। इसलिए इस स्थानका नाम तुरतुरिया पड़ गया।

श्री गोकुलप्रसाद, रायपुर-रश्मि, पृ० ६७,

है। पर जिन दिनोंकी चर्चा ऊपर की गई है, तबका सिरपुर सापेक्षतः अधिक बडा था। आज भी इधर-उधरके खडहर इस बातकी साक्षी दे रहे है। **तुरतुरिया,** यद्यपि आज सिरपुरसे १५ मील दूर अवस्थित है। भयकर जगल है। एक समय यह सिरपुरके अन्तर्गत समझा जाता था। वहाँपर भी पुरातन खडहर और अवशेषोंका प्राचुर्य है। बौद्ध-सस्कृतिसे सम्बन्धित कलाकृतियाँ भी है। किसी समय यहाँ बौद्ध भिक्षुणियोका निवास था। भगवान् बुद्धदेवकी विशाल और भव्य प्रतिमा आज भी सुरक्षित है। लोग इसे वाल्मीकि ऋषि मानकर पूजते है। पूर्वकाल भिक्षुणियोका निवास होनेके कारण, पच्चीस वर्ष पूर्व यहाँकी पुजारिन भी नारी ही थी। **तुरतुरिया, खमतराई, गिधपुरी** और **खालसा** तक सिरपुरकी सीमा थी। यदि सभावित स्थानोपर खुदाई करवाई जाय, और सीमा-स्थानोमें फैली हुई कलाकृतियोंको एकत्र किया जाय, तो श्रीपुर-सिरपुरमे विकसित तक्षण कलाके इतिहासपर अभूत-पूर्व प्रकाश पड़ सकता है। मेरा तो मत है कि खुदाईमे और भी बौद्ध कला-कृतियाँ निकल सकती है, और इन शिल्पकलाके अवशेषोंके गम्भीर अध्ययनसे ही पता लगाया जा सकता है कि सोमवशीय पाटनगर परिवर्तनके बाद कितने वर्षतक बौद्ध बने रहे। इतने लम्बे विवेचनके बाद इतना तो कहा ही जा सकता है कि भद्रावतीसे श्रीपुर आते ही, उन्होने शैव-धर्म अगीकार नही किया था। या भद्रावतीमे ही शैव नही हुए थे, जैसा कि **डा० हीरालाल सा०** मानते है। इसकी पुष्टि ये अवशेष तो करते ही है, साथ ही साथ १२०० सौ वर्षका प्राचीन **भवदेव रणकेशरीका** लेख भी इसके समर्थनमे रखा जा सकता है[1]।

---

[1]**ब्रह्मचारी नमोबुद्धो जीर्ण्णमेतत् तदाश्रयात्**
पुनर्नवत्वमनयद् बोधिसत्वसमःकृति ॥३५॥ ज० रा० ए० सो० १९०५,
मगधके बौद्ध राजाओंके साथ यहाँका न केवल मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध ही था, अपितु राष्ट्रकूटोंकी कन्याएँ भी बिहार गई थीं।
पृथ्वीसिह म्हेता—"बिहार, एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन,"

त्रिपुरीकी बौद्ध-मूर्तियाँ

त्रिपुरीका ऐतिहासिक महत्त्व सर्वविदित है। कलिचुरि-शिल्पका **त्रिपुरी** बहुत बड़ा केन्द्र रहा है। ईसवी नवी शताब्दीमे **कोकल्लने** त्रिपुरीमे स्वभुजाबलसे अपना शासन स्थापित किया। मध्यप्रदेशके इतिहासमे कलचुरि राज्य-वश महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सस्कृति और सभ्यताका विकास इसके समयमे पर्याप्त हुआ था। उच्च कोटिके कवि व विभिन्न प्रान्तीय बहुश्रुत-विज्ञ-पुरुष वहाँकी राज्य सभामे समादृत होते थे। शासक स्वयं विद्या व शिल्पके परम उन्नायक थे। वे धर्मसे शैव होते हुए भी, गुप्तोके समान, परमत सहिष्णु थे। कलचुरि शासन-कालमे, महाकोसलमे बौद्ध धर्मका रूप कैसा था, इसे जाननेके अकाट्य साधन अनुपलब्ध है, न समसामयिक साहित्य व शिला-लिपियोसे ही आशिक सकेत मिलता है, परन्तु तात्कालिक बिहार प्रान्तका इतिहास कुछ मार्ग दर्शन कराता है। बिहारके पालवशी राजाओका कलचुरियोके साथ मैत्री पूर्ण सम्बन्ध था, वे बौद्ध थे। अत कलचुरि इनके प्रभावसे सर्वथा वचित रहे हो, यह तो असभव ही है। प्रसंगतः मै उपर्युक्त पक्तियोमे सूचित कर चुका हूँ कि सिरपुरके सोमवशके कारण महाकोसलमे बौद्धधर्मकी पर्याप्त उन्नति रही, पर अधिक समय वह बौद्ध न रह सका। शैव हो गया। ऐसी स्थितिमें समझना कठिन नही है कि भले ही राज्य-वशसे बौद्ध धर्मका, किसी भी कारण विशेषसे, निष्कासन हो गया, पर जनतामे पूर्व धर्मकी परम्पराका लोप, एकाएक सभव नही, कारण कि महाकोसलमे प्राप्त बौद्ध-मूर्तियाँ उपर्युक्त पक्तियोकी सार्थकता सिद्ध करती है, एव बौद्धमुद्रा लेख जैन व वैदिक अवशेषोपर भी पाया जाता है, यह बौद्ध सस्कृतिका अवशेषात्मक प्रभाव है।

त्रिपुरीमें यो तो समय समयपर कई बौद्ध मूर्तियाँ खुदाईमे प्राप्त होती ही रही है; परन्तु साथ ही त्रिपुरीका यह दुर्भाग्य भी रहा है कि वहाँ निकली हुई संपत्तिको समुचित सरक्षण न मिल सकनेके कारण, मनचले लोगोने व

कुछ व्यवसायी लोगोने उठा-उठाकर, वहांके सौन्दर्यको नष्ट कर दिया। यदि किसी पर्यटकके नोटके आधारपर, किसी कलाकृतिकी गवेषणा की जाय, तो निराश ही होना पडेगा। मै स्वय इसका भुक्त-भोगी हूँ। इतने विशाल सास्कृतिक क्षेत्रपर न जाने राज्य शासनका ध्यान क्यो आकृष्ट न हुआ ?

त्रिपुरीकी बहुत सी सामग्री तो **इंडियन म्युजियममें कलकत्ता** चली गई, जिसमें भगवान् बुद्धकी प्रवचन-मुद्राकी एक महत्त्वपूर्ण प्रतिमा भी सम्मिलित है। बुद्धदेवकी यह मूर्ति कलाकी दृष्टिसे अत्यत महत्त्वपूर्ण है।

२४ फरवरी १९५१ मे, मै जब त्रिपुरी गया था, तब मुझे अन्य पुरातत्त्व विषयक महत्त्वपूर्ण सामग्रीके साथ, **अवलोकितेश्वर** एवं **बुद्धदेवकी** भूमिस्पर्श मुद्रास्थित मूर्तियाँ मिली थी। दोनो मूर्त्तियाँ क्रमश एक चमार व लढियासे प्राप्त हुई थी। प्रथम तो दीवालमे लगी हुई थी, दूसरी एक वृद्धाके घरमे रखी हुई थी। याचना करने पर मुझे उन दोनोंने प्रदान कर दी थी। उनका परिचय इस प्रकार है—

अवलोकितेश्वर

यो तो अवलोकितेश्वरकी प्रतिमाएँ विभिन्न प्रान्तोंमें अपने-अपने ढगकी अनेक पाई जाती है। उनमे अवलोकितेश्वरके मौलिक स्वरूपकी रक्षा करते हुए, एवं बौद्ध-मूर्ति-विज्ञानके नियमोके अनुकूल बहुतसे प्रान्तीय कलातत्त्व समाविष्ट कर दिये है। प्रस्तुत प्रतिमा उन सबसे अनूठी और विशिष्ट है। अवलोकितेश्वरका प्राचीन स्वरूप अजन्ताकी चित्रकारीमें है, जो कि खड़ा हुआ स्वरूप है। बैठी हुई जितनी मुद्राएँ उपलब्ध है उनमे दाहिना पैर रस्सीसे कसा हुआ शायद नही है। प्रस्तुत प्रतिमामें बाये कन्धेसे तन्तु सूत्र प्रारभ होते है, वहाँसे वे कर्णकी नाई (Diagonally) दायी ओर नाभीके ऊपरसे, दाये नितम्बपरसे दायी जघाके नीचे लपेटा मार, दाये घुटनेके निम्न भागको कसते हुए समाप्त होते है। प्रस्तुत अवलोकितेश्वरके मुकुटको देख भगवान् शकरके किरीट मुकुटका स्मरण हो आता है।

मस्तकपर स्थित मुकुटकी आकृति भी शिव मुकुटकी ही नाईं है। मुकुटकी आकृति भले ही भगवान् शकरकी नाई हो, अपरिचितको यह भ्रम तो सहज ही होता है—परतु ललाटपर जो स्पष्ट रेखाओंसे मुद्रा सूचित होती है वह भगवान् बुद्धकी अपनी विशिष्ट प्रवचन मुद्रा है। बायें हाथपर जो कमलका फूल, सदण्ड दृष्टिगोचर होता है, वह भी इसके अवलोकितेश्वरका समर्थक है।

अवलोकितेश्वरकी विभिन्न आभरणोसे भूषित इस मूर्तिमे हाथोमे ककण और बाजूबद, कंठमे हार, चरणोंमे पैजन और कर्णफूल, केयूर सभी स्पष्टत: अकित है।

अब हम अवलोकितेश्वर-आसन रचनाको देखे। ऐसे आसनकी रचना गुप्तकाल एवं अतिम गुप्तोके युगमे होती थी। इसे "घटाकृति" कमलका आसन कहते है। यही एक ऐसा आसन रहा है, जिसे बिना किसी धार्मिक भेद-भावके सभी कलाकारोने स्वीकार किया था। प्रतिमाकी मुखमुद्रामे गभीर चिन्तन स्पष्टत. परिलक्षित है। सबसे आश्चर्यकी बात है कि यह प्रतिमा जिस पत्थरसे गढी गई है, वह अत्यत निम्न कोटिका है। अर्थात् आप सादा-सा कड़ा पत्थर लेकर उसे अगर घिसने लगे तो धूल-कण बडी सरलतासे खिरने लगते है। यहाँतक कि यह पत्थर हाथसे छूनेपर भी रेत कण हाथमे लगा देता है। यह कहे बिना नही रहा जाता कि जितना ही रद्दी यह पत्थर है, अवलोकितेश्वरकी प्रतिमा उतनी ही सुन्दर एव भावपूर्ण है। इसके निर्माणयुगमे इससे न जाने कितने भक्तोने शान्ति और भक्तिका रसास्वादन किया होगा। परन्तु आजका उपहास मिश्रित सत्य यह है कि यह एक उपेक्षित प्रतिमा रही, जिसे मैंने पाया।

प्रतिमाके अधोभागमे तीनो ओर एक पक्तिमे लेख खुदा हुआ है। क्षरणशील पत्थर होनेके कारण एव वर्षोंतक अस्तव्यस्त स्थितिमे पडे रहनेके कारण, वह स्पष्ट पढा नही जा सका। बायी ओरवाली पाद-पीठका भाग घिस-सा गया है। सामने भागपर जो पट्टिका दृष्टिगोचर होती

है वह भी अस्पष्ट है। परिश्रमपूर्वक जो भाग पढा जा सका है—वह इस प्रकार है—**"देवधर्मोयं एसार्थ पव. . . . .क. . या. . .लेवाव, जयवादि. . . प्रभ. ."** पठित अश किसी भी निर्णय पर नही पहुँचाता। लिपिके आधारपर केवल मूर्तिका निर्माण काल ही स्थिर किया जा सकता है। प्रस्तुत लिपिके 'र' 'ल' 'य' 'ज' आदि कुछ वर्ण अतिम गुप्तोंके ताम्रपत्रोंमें व्यवहृत लिपिसे मिलते है, परन्तु **धंग**के लेखोमे व्यवहार की गई लिपि इस लेखसे अधिक निकट है, भौगोलिक दृष्टिसे विचार करनेसे भी यही बात फलित होती है।

धंगके समयमे महाकोसल कलचुरियोके अधिकारमे था। उन दिनों मूर्ति-कला उन्नतिके शिखरपर थी। निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत मूर्ति, कला एव लिपिकी दृष्टिसे ११ वी शतीके बादकी नही हो सकती।

बुद्ध-देव—भूमि-स्पर्श मुद्रा—(२०″×१६″)

इस मुद्राकी स्वतन्त्र और विशाल अनेक प्रतिमाएँ इस भू-खडमे उपलब्ध हो चुकी हैं, जैसा कि सिरपुरके अवशेषोसे जाना जाता है, परन्तु इस प्रतिमाका विशेष महत्त्व होनेके कारण ही इसका विस्तृत परिचय देना आवश्यक जान पडता है। भूमि-स्पर्श मुद्राके अतिरिक्त इसके परिकरमे भगवान् बुद्धके जीवनकी विशिष्ट नौ घटनाओका अकन किया गया है। यह **त्रिपुरीके** एक लढियाके अधिकारमे थी। मुझे उसीके द्वारा प्राप्त हुई है।

बुद्धदेवकी मुख्य प्रतिमाका विस्तार १३″×९″ है। पाँव और हाथोंकी अगुलियाँ सुघड स्वाभाविक हैं। दाहिने हाथकी अगुलियोकी दशा भूमिकी ओर है। इसका गाभीर्य उस कथाका पोषक है, जो भगवान् बुद्धके बुद्धत्व-प्राप्तिकी घटनासे सबधित है। वक्षस्थल और अधोभागका गठन बडा कलात्मक एव मानव सुलभ स्वास्थ्यका परिचायक है। सबसे आकर्षक वस्तु है वक्षस्थलपर पडा हुआ चीवर—जिसकी किनारका डिजा-इन नैसर्गिक फूल-पत्तियोका बना है। पाषाणपर वस्त्रकी सुकुमारता एवं

स्वाभाविक रेखाओंका व्यक्तिकरण पाषाणकी बहुत कम प्रतिमाओंमे पाया गया है। यद्यपि महाकोसलके कलाकार, ई० सन् की सातवी शताब्दीमें इस प्रकारकी शैलीको सफलतापूर्वक अपना चुके थे, परन्तु पत्थरपर नही। पत्थरकी इस प्रतिमाका-निर्माण काल १२ वी शतीके बादका नही हो सकता। तात्पर्य यह है कि ७ वी शताब्दीके शिल्पियोकी वैचारिक एव कला परम्पराको १२ वी शतीके कलाकार किसी सीमातक सुरक्षित रख सके थे। इसके समर्थनमे और भी उदाहरण दिये जा सकते है।

मूर्तिकी मुखमुद्रा सौम्य और अन्तर्मुखी प्रवृत्तिका आभास देती है। ओठोकी सुकुमार रेखाए, ठोडीके बीचका छोटासा गड्ढा, तीक्ष्ण नासिका, और कमल-पत्रवत् चक्षुओने **सिद्धार्थके** शारीरिक वैभव और व्यक्तित्वका समन्वय प्रस्तुत किया है। कानोकी लबाई भले ही मूर्ति-विधानके अनुरूप हो, परन्तु सौन्दर्यकी अपेक्षा उपयुक्त नही जान पड़ती। मूर्तिके परिकरपर भी विचार करना आवश्यक है क्योकि यही उनकी विशेषता है। परि-करान्तर्गत जीवनकी प्रधान व अप्रधान जो भी घटनाएँ बतलाई गई है, उनका क्रम इस कृतिमे नही रह पाया है, जैसे प्रथम घटना त्रस्त्रयु स्वर्गसे लौटनेसे सबध रखती है। जब इसमे उसे दूसरे नबरपर रक्खा गया है। प्रथम घटना जो इसमे दिखलाई गई है, उसमे बुद्धदेवका लालन पालन हो रहा है। बुद्ध-देवका बाल स्वरूप बडा मोहक है। दूसरी रचना स्वर्गच्यवनसे सबद्ध है। इसमे सुन्दरी विलास-मयी मुद्रामे खडी हुई है। दाहिने हाथके नीचे कटि-प्रदेशके पास लघु बालक इस प्रकार बताया गया है, मानो वह कटि प्रदेशसे उदरमें प्रवेश करना चाहता हो। लोगोको इसे पढ़कर तनिक भी आश्चर्य न होना चाहिए, कारण कि इस प्रकारकी सैकड़ों मूर्तियाँ बिहारमें पाई गई है। तीसरी प्रतिमामे सवस्त्र सिद्धार्थ वाये हाथमें दाये हाथकी उगली टिकाये बैठे है, प्रतीत होता है मानसिक ग्रथिये खोलकर उन्नतिके पथपर अग्रसर होनेकी चिन्तामें हों। दोनों ओर शिष्य-मडली अंजलि बद्ध है। चतुर्थ मूर्ति खडी हुई और वर मुद्रामे है। बुद्ध-दानके भावमें परिलक्षित

हो रहे है, दाहिना हाथ नीचेकी ओर करतल सम्मुख बताया है। बायें हाथमे सघाटी है। दायी ओर दो शिष्य हाथ जोडे हुए है। बायी ओर एक व्यक्ति खड़ा है, पर उसका मस्तक नही है। उसका बायाँ हाथ उदरको स्पर्श कर रहा है—चवरको धारण किये हुए है। बायी ओर भी चार उपविभाग है। प्रथम मूर्तिमे गौतमके चरणोमे हाथी नत-मस्तक है। स्पष्ट है, राजगृहमे बुद्धदेवके द्वेषी देवदत्तने नालागिरि नामक हस्तीको बुद्धदेवपर छोड़ा था। किन्तु बुद्धकी तेजपूर्ण मुखाकृति एव अद्भुत सौम्य मुद्राके प्रभावसे परास्त होकर, हाथी क्रूर परिणामको छोडकर उनके चरणोमे नतमस्तक हो गया। बाजूमे दायी ओर आनन्द खडे है। सचमुचमे कलाकारने इस घटनाको उपस्थित करनेमे गजब किया है। उठते हुए हाथीका पृष्ठाक फूल-सा गया है। बुद्धदेवकी मुद्रामे तनिक भी परिवर्तनके भाव नही आये—आते भी कैसे। दूसरी घटना धर्मचक्र-प्रवर्तनसे सबध रखती है[1]। बुद्धदेव पल्थी मारकर आसनपर विराजमान है। करोकी भाव-भगिमासे तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो वक्ता गहन और दार्शनिक युक्तियोको समझा रहा हो, परन्तु बात वैसी नही है। दोनो हाथ वक्षस्थलके सम्मुख अवस्थित है। दाये करका अगूठा और कनिष्ठिका बाये हाथकी मध्यमिकाको स्पर्श करती हुई बताई है। इसी भावसे बुद्धदेवने **सारनाथ**मे कौण्डिन्य आदि पचभद्र-वर्गीयको बौद्ध धर्ममे दीक्षित किया था। आसनके दोनो ओर मैत्रेय और अवलोकितेश्वरकी मूर्तियाँ है। तीसरी घटना वानरेन्द्रके मधुदानसे गुथी हुई है। कौशाम्बीके निकट पारिलियक वनमे वानरेन्द्र द्वारा बुद्धको मधुदान दिये जानेके उल्लेख बौद्ध साहित्यमे मिलते है। इसी भावको यहाँ प्रदर्शित किया गया है, बुद्धदेव हाथ पसारे बैठे है। वानरेन्द्र पात्र लिये खड़ा है, चौथी प्रतिमा पद्मासन ध्यानमें है। अनजानको जैन प्रतिमा होनेका

---

[1]कुछ वर्ष पूर्व त्रिपुरमें धर्मचक्र प्रवर्तन-मुद्राकी स्वतंत्र और विशाल प्रतिमा प्राप्त हुई थी, जो कलाकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण थी,

भ्रम हो सकता है । प्रसगत. लिखना अनुचित न होगा कि पद्मासनस्थ मुद्रामें ध्यानी-विष्णुकी मूर्तियाँ भी मिलती हैं । बुद्धदेवकी भी मुकुटयुक्त मूर्तियाँ ऐसी ही मुद्रामे बिहार एव उत्तरप्रदेशमे पाई जाती है । सच कहा जाय तो यह मुद्रा जैन-मूर्ति कलाकी बौद्धोको खास देन है । मुख्य प्रतिमाके निम्न भागमे मूर्ति है । दोनो ओर उपासक व उपासिका अंकित है; मध्यमे तत्त्वचिन्तन करते हुए दो बौद्ध भिक्षु है ।

इन प्रधान घटनाओके अतिरिक्त बुद्धदेवके निर्माणको भी भली प्रकार व्यक्त किया गया है । निर्माण मुद्राके दोनो ओर ४, ४ व्यक्ति खडे हैं । बौद्ध साहित्यमे उल्लेख है, कि भगवान् बुद्धके निर्माणोपरान्त उनकी अस्थियाँ आठ भागोमे बाँटी गई । उन्हें लेनेके लिए निम्न प्रदेशोके नरेश आये थे— मगध, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, रामदाम, वेदोप, पावा और कुशीनगर । ये आठो अस्पष्ट मूर्तियाँ उन्ही आठ प्रतिनिधियोकी होनी चाहिए । इस प्रकार सपूर्ण परिकर और प्रधान प्रतिमाका निरीक्षण कर लेनेके बाद हमारा ध्यान प्रभावली एव गवाक्षोकी ओर जाता है ।

जहाँतक गवाक्षोका प्रश्न है, उनमे निश्चित रूपसे बिहारकी शिल्पकला, विशेषकर नालन्दाकी मेहराबोका अनुकरण है । साथ ही साथ हाथीके ऊपर जो घटाकार शिखराकृति बनी है, वह भाग भी मागधीय कलाकारोंकी देन है । ९वी शतीके बादके महाकोसलीय शिल्पपर जो मागध प्रभाव पडा उसका एक कारण यह भी जान पडता है कि महाकोसलीय शिवगुप्तकी माता मगधके राजा सूर्यवर्माकी पुत्री थी । अत सभव है उनके साथ कुछ कलाकार भी आये हो और उन्होने स्वभाववश अपना प्रभाव छोडा हो तो आश्चर्य नही । नालन्दा एव राजगृहमे सैकडो मिट्टीकी मोहरे उपलब्ध हुई है, जिनमे यही घटी अकित है, जिनका समय ७वी शतीसे १२ वी शतीतक माना जाता है । बिहारकी शिल्प-स्थापत्य एव गुप्त कालमे प्रभावलीका अंकन करनेमें तीन सीमाएँ चित्रित की जाती थी । सबसे बाहरकी परिधिमे आगकी लपटें बनती थी । लपटोमे क्षीण रेखाये स्पष्ट

बनाई जाती थी। बीचकी सीमाओंमें गोलाकार लघु-बिन्दु खोदे जाते थे। तीसरी अर्थात् सबसे भीतरी परिधिमें कभी सादा खुदाव रहता था, और कभी बेलबूटेदार। प्रतिमाके ठीक सिरके ऊपर एक व्याल (मंगल-मुख) की मूर्ति रहती थी। अन्तिम गुप्तकालमें प्रभावलीकी तीन सीमाएँ तो रहती थी किन्तु उनमें कुछ सामयिक परिवर्तन हो गये थे। सबसे बाहिरी परिधिमें आगकी लपटें इतनी सफाईसे नहीं बनती थीं। इन लपटोंकी जो क्षीण रेखाएँ बारीकीसे स्पष्ट बनाई जाती थी, वे अब नहीं—अर्थात् लपटे अब सीधी ऊपरकी ओर उठती हुई ही रह गई थी। बीचकी सीमाओंमें गोलाकार लघुबिन्दु ज्यों के त्यों रहे, किन्तु असल परिवर्तन हुआ तीसरी परिधिके खुदावमें। इसमें अब तत्कालीन युगमें सामयिक अलंकरण खोदे जाते थे। शिरोभागके ठीक ऊपर मगलमुख भी जरा भद्दा-सा बनाया जाता था। स्पष्टत. यह परिवर्तन ह्रासोन्मुखी था।

गुप्तोत्तर कालमे ३ सीमाए रही। ध्यान देनेकी बात है कि जो ह्रास अतिम गुप्तकालमे दिख पडा, उसकी गति अब और भी तीव्र हो उठी थी। लपटे मोटी और भद्दी रेखाएँ मात्र रह गई थी। बिन्दुओमे गुलाई मात्र रह गयी थी। बेल-बूटो एवं अलकरणोके स्थानपर कमलकी पखुड़ियाँ पर्याप्त समझी जाने लगी। इस कालतक गुप्तकालीन शिल्प-परपराके कुछ तक्षक बच गये थे, जैसा कि सिरपुरकी बौद्ध मूर्तियोंसे ज्ञात होता है।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध है कि प्रस्तुत प्रतिमाका निर्माण गुप्त सत्ताकी समाप्तिके काफी बाद हुआ। कलचुरि वंशके प्रारंभिक कालमें इसकी रचना होना स्वाभाविक जान पड़ता है कारण कि इन दिनों सिरपुरके तक्षक बौद्ध-मूर्ति विधानकी परम्परासे पूर्णतः परिचित ही न थे, स्वय मूर्तियाँ बनाते भी थे। अतः निर्माण-काल १० वीं शतीके बादका तो हो ही नहीं सकता। मूर्तिके परिकरमे खुदे हुए स्तम्भ इसकी साक्षी स्वरूप विद्यमान हैं।

उपर्युक्त पक्तियोंसे तो यह सिद्ध हो ही गया है कि महाराज अशोकके बाद तेरह सौ वर्षोंतक मध्यप्रदेशके किसी न किसी भागमें, किसी सीमातक

बौद्ध धर्म अवश्य ही रहा। डा० हीरालालजीने जो समय बौद्ध धर्मके अस्तित्वका सूचित किया है, उससे ३०० वर्ष आगे माना जाना चाहिए। संभव है डा० सा० के समय, ये अवशेष, जिनके आधारपर ३०० वर्षोका काल बढ़ाया जा सका है, भूमिमें दबे पडे हो।

प्रासगिक रूपसे एक बातका स्पष्टीकरण करना समुचित प्रतीत होता है। मैंने बौद्ध धर्मकी जितनी प्रतिमाएँ—क्या धातुकी और क्या पाषाणकी—देखी, उनमे कमल-पत्रका—नीचेकी ओर झुकी हुई पखुडियोके रूपमे कमल सिहासन—बाहुल्य पाया। प्राचीन ग्रन्थोंमे भी बौद्ध धर्ममें अलौकिक ज्ञानको कमल-पुष्पसे दिखाया गया है। उनके अनुसार कमलकी जडका भाग ब्रह्म है। कमलनाल माया है। पुष्प सपूर्ण विश्व और फल निर्वाणका प्रतीक है। इस प्रकार अशोकके स्तम्भका शिलादण्ड (कमल-नाल) माया अथवा सासारिक जीवनका द्योतक है। घटाकार शिरा ससार है—आकाश-रूपी पुष्प दलोमे वेष्टित है—और कमलका फल मोक्ष है। इस विषयपर सुप्रसिद्ध कलामर्मज्ञ हैवेलकी युक्ति बहुत ही सारगर्भित और तथ्यपूर्ण है—"यह प्रतीक खासतौरपर भारतीय है। इसका प्रारभिक बौद्ध-कलामे बेहद प्रचार था। यह इत्तिफ़ाककी बात है कि इसकी शक्ल ईरानीके पीटलोसे मिलती है, किन्तु कोई वजह नही कि इसीसे हम इसे ईरानी चीज़ मान ले। शायद ईरानियोने ही यह विचार भारतसे लिया हो। भारत तो कमलके फूलोका देश है।" निसदेह कमल भारतका अत्यत प्रसिद्ध और मनोहर पुष्प है। जिन दिनो यक्ष पूजाका भारतमे बोलबाला था, उन दिनो कमलका भी कम महत्त्व नही था। भारतीय शिल्पकलामे जितना महत्त्वपूर्ण स्थान कमल पा सका है, उतना दूसरे पुष्प नही। योगमार्गमे भी यौगिक उदाहरणोमे कमलको याद रखा गया है।

जबलपुर, म. प्र.
१५ अगस्त १९५०

हिन्दू-पुरातत्व

मध्य प्रदेशका हिन्दू-पुरातत्त्व

भारतीय पुरातन शिल्प-स्थापत्यके इतिहासमे मध्यप्रान्त एव बरारका स्थान कई दृष्टियोसे, इतर प्रान्तोकी अपेक्षा, अधिक महत्त्वपूर्ण है, कलाकारोने इन जड पाषाणोपर अपने अनुपम कला-कौशल द्वारा, मानव-मस्तिष्ककी उन्नत विचारधाराकी अद्भुत सजीवता चित्रित की है। मुझे तो इनमे मध्य-प्रान्तका प्राचीन सामाजिक जीवन, राष्ट्रोन्नति एव मानव-समुदायका वास्तविक इतिहास दिखाई देता है। यह वैभव मानो मूक भाषामे सहृदय कलाकारोसे पूछ रहा है कि क्या आजके परिवर्तनशील युगमे भी हमारी यही हालत रहेगी। ससारकी अविश्रान्त प्रगतिमे हम भी बहुत-कुछ सास्कृतिक सहयोग दे सकते है। यद्यपि मध्य-प्रान्तमे विशिष्ट अवशेष अपेक्षाकृत कम ही है, फिर भी उनमे भारतका मुख उज्ज्वल करने की एव पुरातन गौरवगाथाका सुरक्षित रखनेकी पूर्ण क्षमता है। इनसे, मानव-मस्तिष्कको, उच्चस्थान एव आध्यात्मिक विकासमे महान् सहयोग मिल सकता है। तद्गत लोकोत्तर जीवनकी आत्माका प्रकाश किस दार्शनिकको आकृष्ट न कर सकेगा ? किन्तु भारतीय पुरातत्त्वके इतिहासमे इस अतुलनीय सपत्तिके भाण्डारसम, मध्य-प्रान्तकी चर्चा नहीके बराबर ही है।

यह सर्वमान्य नियम है कि प्रत्येक राष्ट्रकी सर्वतोमुखी उन्नतिका मूल-तम स्वरूप, तात्कालिक प्रस्तरोपरि उत्कीर्णित कलात्मक अवशेषोसे ही जाना जा सकता है। साथ ही दूसरे देश या धर्मवाले भी यदि कोई आकर्षण रखते है, तो केवल कलाके बलपर ही। मध्य-प्रान्तका कुछ भाग ऐसा है, जिसका स्थान ससारमे ऊँचा है। आदिमानव-सभ्यता-सस्कृतिका पालन यहीपर हुआ था। शुद्ध सास्कृतिक जीवनगत तत्त्वोका आभास आजतक, तत्रस्थ ग्रामीण जनताके जीवनमे ही दृष्टिगोचर होता है। **गृह्य-सूत्र** एव वेदमे प्रतिपादित नृत्योका प्रचार आज भी किंचित् परिवर्तित रूपमें

छत्तीसगढ़में हैं। प्रारंभसे ही इस प्रान्तमें वैदिक संस्कृतिका प्रचार रहा है। सर्वप्रथम अगस्त्य ऋषि विन्ध्याचल उल्लंघकर यहाँ आये और तपश्चर्या करने लगे। रामायणमें उल्लेख है कि इन्होंने द्रविड भाषामें आयुर्वेदके ग्रन्थ रचकर प्रचारित किये, एवं अनार्य दस्यु जातियोंमें आर्य-सभ्यताका प्रचार किया। शृंगी आदि सप्त ऋषियोंकी तपोभूमि रायपुर जिलेका सिहावा[1]

---

[1]यहीं महानदीका उद्गम स्थान है। धमतरीसे आग्नेय कोणमें ४४ मील पर है। प्राकृतिक सौंदर्यका यह एक अविस्मरणीय केन्द्र है। यहाँके ध्वंसावशेषोंमें छह मन्दिर अवस्थित हैं। ११९२ ई० का एक लेख भी पाया गया था, जिसमें उल्लेख है कि चन्द्रवंशी राजा कर्णने पाँच मंदिर बनवाये। जैसा कि—

> तीर्थे देवह्रदे तेन कृतं प्रासादपञ्चकम्
> स्वीयं तत्र द्वयं जातं यत्र शंकरकेशवौ ॥८॥
> पितृभ्यां प्रददौ चान्यत् कारयित्वा द्वयं नृपः
> सदनं देवदेवस्य मनोहारि त्रिशूलिनः ॥१०॥
> रणकेसरिणे प्रादात्पञ्चमं सुरालयम्
> तद्वंशक्षीणतां ज्ञात्वा भ्रातृस्नेहेन कर्णराट् ॥११॥
> ×　　×　　×
> चतुर्दशोत्तरे सेयमेकादशशते शके ।
> वर्द्धतां सर्वतो नित्यं नृसिंहकविताकृतिः ॥१३॥

एपिग्राफिका इंडिका भा० ९, पृ० १८२

कर्णकी वंशावली कांकेरके शिलालेखमें भी मिलती है। कहते हैं कि यहाँ शृंगीऋषीने तपश्चर्या की थी, उनकी स्मृति स्वरूप आज भी एक टपरा बना हुआ है। ५ मीलपर "रतवा"में अंगिरस और २० मील 'मेचका'में मुचकुन्दका आश्रम बताया जाता है। यहाँसे आठ मीलपर देवकूट नामक स्थान, सघन जंगलमें पड़ता है। इस ओर जो पुरातन अवशेष पाये जाते हैं, वे ११वीं शतीके बादके ही हैं। यह इलाका जंगलमें पड़नेसे, पुरातत्त्व-शास्त्रियोंकी निगाहसे आजतक बचा हुआ है। कब तक बचा रहेगा?

इलाक़ा बताया जाता है। आज भी अटवीमें पहाड़ोंके सबसे ऊँचे शिखरोंपर इन महर्षियोंकी गुफाएँ उत्कीर्णित है, जहाँ प्रकृति-सौन्दर्य और अपार शान्तिका सागर सदैव उमडा करता है। इन गुफाओंका रचना-काल अज्ञात है, फिर भी इतना तो बिना किसी अतिशयोक्तिके कहा जा सकता है कि ये, अजन्ता और जोगीमारा गुफाओंसे तो बहुत ही प्राचीन हैं। ये बडी विशाल हैं। प्राचीन भारतकी तक्षण-कलाके इतिहासमें इनका स्थान उपेक्षणीय नही।

राम और **कृष्णका** संबध भी इस प्रान्तसे रहा है, क्योंकि दण्डकारण्यकी स्थिति छत्तीसगढमें ही बताई जाती है। रामने यहाँ आकर लोकोपयोगी कार्योंकी नीव डाली थी। कहा जाता है कि उन्होंने यहाँ आकर कुछ लोगोंको ब्राह्मण जातिमे दीक्षित किया, जो **'रघुनाथिया ब्राह्मण'** नामसे आज भी विख्यात है और मध्य-प्रान्त और उडीसाकी सीमाके भीषण जगलोंमें वर्तमान है।

भारतीय इतिहासकी दृष्टिसे प्रान्तपर **मौर्य-वंशी** राजाओका अधिकार था। ये क्रमश. जैन और बौद्ध धर्मके अनुयायी होते हुए भी, सहिष्णु थे। इस समय वैदिक सस्कृतिका प्रचार अपेक्षाकृत कम था। **शुंग और आन्ध्र** वशके समयमें वैदिक संस्कृति यहाँ चमक उठी। ये वैदिक धर्मके उद्धारक, प्रचारक और सरक्षक थे। गुप्त-युगमें भारत पूर्णोन्नतिके शिखरपर था। ससारकी शायद ही कोई कला या विद्या ऐसी थी, जिसका विकास उस समय यहाँ न हुआ हो। वैदिक सस्कृतिका उन्नत रूप तत्कालीन साहित्यिक ग्रन्थ, शिलोत्कीर्ण लेख, मुद्राएँ एवं ताम्रपत्रोंसे विदित होता है। यहाँपर वाकाटकोंका साम्राज्य भी था, जिनकी राजधानी **प्रवरपुर-पौनार** थी। समुद्रगुप्तने अपनी दिग्विजयमे वाकाटक-साम्राज्य जीतनेके बाद, उसके चेदिका दक्षिण भाग तथा महाराष्ट्र-प्रान्त तत्कालीन वाकाटक-सम्राट् रुद्रसेनके पास ही रहने दिये थे। इस प्रकार छोटा हो जानेपर भी वह साम्राज्य काफ़ी समृद्ध था। गुप्त-नरेश शिल्प-कलाके अनन्य उन्नायक थे। जब

समुद्रगुप्त दक्षिण-कोसलमे दिग्विजयार्थ आये, तब उन्हे **एरणका** स्थान बहुत ही पसन्द आया। उन्होने वहाँ विशाल नगर एव विष्णु-मदिर बनवाये। शिलालेखमे इसे **स्वभोगनगर** कहा गया है। इस समयसे कुछ पूर्वका एक काष्ठ-स्तम्भ-लेख **बिलासपुर** जिलेके **किराड़ी** नामक गाँवसे प्राप्त हुआ है, जो तत्कालीन मध्य-प्रान्तीय शासन-प्रणालीपर मार्मिक प्रकाश डालता है। इसमे **पुलपुत्रक गृहनिर्माणिक** (गृह बनानेवाला)—का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि उस समय प्रान्त तक्षण-कलामे कितना उन्नत था, इसके लिए कि एक स्वतन्त्र पदाधिकारी रखना पडता था। गुप्त-कालमे शिल्प-कला अपना सपूर्ण रूप लेकर न केवल पाषाणपर ही अवतरित हुई, बल्कि एतद्विषयक साहित्यिक ग्रन्थोके रूपम भी दिखाई दी। **मानसार** जो समस्त शिल्पशास्त्रोमे अनुपम है, इसी कालकी रचना मानी जाती है। तिगवा जिला जबलपुर ग्रामम एक गुप्तकालीन मन्दिर अद्यावधि विद्यमान है, जिसके विषयमे प्रान्तके बहुत बडे अन्वेषक डा० हीरालालने लिखा है—"**यह प्राय डेढ हजार वर्षका है। यह चपटी छत-वाला पत्थरका मन्दिर है। इसके गर्भगृहमें नृसिहकी मूर्ति रखी हुई है। दरवाजेमें चौखटके ऊपर गगा और यमुनाकी मूर्तियाँ खुदी हैं। पहले ये ऊपर बनाई जाती थीं, किन्तु पीछेसे देहरीके निकट बनवाई जाने लगीं। मन्दिरके मण्डपकी दीवारमें दशभुजी चण्डीकी मूर्ति खुदी है। उसके नीचे शेषशायी भगवान् विष्णुका चित्र खुदा है, जिनकी नाभिसे निकले हुए कमलपर ब्रह्माजी विराजमान हैं**[१]।"

तिगवाँके मन्दिरमे गगाकी मूर्ति बहुत ही सुन्दर और कलापूर्ण है। उसका शारीरिक गठन, अग-विन्यास, उत्फुल्ल वदन एव तात्कालिक केश-विन्यास किस कलाप्रेमीको आकृष्ट नही करते ? यहाँस कुछ दूर **भोपाल** रियासतमे भी कुछ गुप्तकालीन मन्दिर है, जहाँका कृष्ण-जन्म-प्रदर्शनका

---

[१]**स्व० हीरालाल, जबलपुर-ज्योति, पृ० १४०,**

शिल्प अभीतक मेरी स्मृतिको ताजा बनाये हुए है। माता देवकी लेटी हुई है और सद्योत्पन्न कृष्ण उनके पास पड़े हैं। आसपास कुछ मनुष्य उनकी रक्षार्थ खड़े है। गुप्त-वशके बाद मध्य-प्रान्तका शासन छिन्न-भिन्न होकर **राजर्षितुल्य-कुल, सोमवंश, त्रिकलिंगाधिपति, राष्ट्रकूट** आदि राजवशोंमे विभाजित हो गया। तदनन्तर नवी शतीमे कलचुरियोका उदय हुआ। **त्रिपुरी, रत्नपुर-खल्वाटिका** (खलारी) आदि कलचुरियोकी शाखाएँ थी। समस्त चेदि-प्रान्तमे कलचुरियोंके अवशेष बिखरे पड़े है, जिनमे-से कुछ-एकका परिचय सर **कनिंघमने** पुरातत्त्व विभागकी अपनी सातवी रिपोर्टमें एव स्व० **राखालदास** वन्द्योपाध्यायने अपने एक ग्रन्थमें दिया है। इनसे प्रकट है कि कलचुरि-नरेशोंने शिल्प-स्थापत्य कलाको आशातीत प्रोत्साहन देकर, समस्त प्रान्तमे व्याप्त कर दिया। इनकी सूक्ष्मता चित्रकारीको भी मात करती है। इन अवशेषोका सबध केवल भौतिक दृष्टिसे ही नही, अपितु आध्यात्मिक दृष्टिसे भी गहरा है। बादमे **गोंड** वंशका आधिपत्य, प्रान्तके कुछ भागपर था। ये गौड कौन थे ? इनका आकस्मिक उदय कहाँसे हो गया ? कहा अवश्य जाता है कि ये आदिवासियोमेंसे है और रावणके वशज है। इनके कालमे कोई खास उन्नति हुई हो, हमे ज्ञात नही। इन लोगोका कोई क्रमबद्ध इतिहास भी प्राप्त नही है। कहते है कि इनके कालमे यदि कोई पढा लिखा या पण्डित भी मिलता, तो दशहरेके दिन दन्तेश्वरीके चरणोंमे सदाके लिए सुला दिया जाता था। ऐसी स्थितिमे इनका इतिहास कौन लिखता ? **मदनमहल** (जबलपुर) के पास कुछ अवशेष और **सिंगोरगढ़ादि** कुछ दुर्ग ही ऐसे है, जो गौड-पुरातत्त्वकी श्रेणीमे आ सकते है।

मध्य-प्रान्तमे मुगल-कलासे सबध रखनेवाले प्राचीन मकानातके चिह्न भी मिलते है। बरारके एलिचपुर व बालापुरमे मुग़लोके कुछ अवशेष अवश्य मिलते है, जिनमे मुगल-कलाके पल्लवित लक्षणोंका व्यक्तीकरण हुआ है। भोसलोके बनवाये हुए महल, मन्दिर, दुर्ग आदि भी मिलते है,

जिनकी कलामे कोई ऐसे तत्त्व नही, जो इनको स्वतन्त्र स्थान दिला सकें। मध्य-प्रान्तकी रियासतोमें भी कुछ पुरातत्त्व विशेष उपलब्ध हैं, यहाँपर ई० पू० पाँचवी शतीसे लगाकर आजतकका जो विशाल पुरातत्त्व फैला पडा है, उसमेंसे जितनेका साक्षात्कार मै कर सका, उसका सक्षिप्त परिचय, मेरी यात्रामे आये नगरानुसार यहाँ दिया जा रहा है।

रोहणखेड़—इस नगरका अस्तित्व राष्ट्रकूटोंके समयमे था। स्थानीय पुरातन अवशेषोंमे शिव-मन्दिर सर्वप्राचीन है। चपटीछत, चतुष्कोण-षट्कोण स्तम्भ, विशाल गर्भद्वार, तोरणस्थ विभिन्न बेल-बूटोके साथ हिन्दू-धर्ममान्य तान्त्रिक देव-देवियोंका बाहुल्य, मन्दिरकी शोभाको और भी बढा देते है। मन्दिरके निकटवर्ती चट्टानपर ५ पक्तियोंका एक शिलालेख है, जिसके प्रत्येक श्लोकान्त भागमे '**ॐ नमः शिवाय**' आता है। शिलालेखमें राजवश, संवत् आदि विलुप्त हो गये है। केवल '**तदन्वये भूपतिः . . . कूट**' इस पक्तिसे प्रकट होता है कि यह मन्दिर सभवत. किसी राष्ट्रकूट-नरेशका बनवाया हुआ है। दूसरा कारण यह भी है कि राष्ट्रकूटो द्वारा इलोरा पर्वतपर निर्मित कैलाश-मन्दिरके शिखरका कुछ भाग और उसकी कोरणी इस मदिरसे मेल रखती है। मन्दिरके पाषाणोको परस्पर अधिक दृढतासे जोड़नेके लिए बीचमे ताम्रशलाकाएँ दी गई हैं। शिखरका भाग खंडित है। बरामदेमें शेषशायी विष्णुकी प्रतिमा, बहुत ही सूक्ष्म एव प्रभावोत्पादक कलापूर्ण ढंगसे, उत्कीर्णित है। दुर्गा, अबिका आदि देवियोकी मूर्तियाँ अरक्षितावस्थामे विद्यमान हैं। इस मन्दिरके पीछे जमीदारी भी है। मराठी भाषाके आद्य गद्यकार **श्रीपति**, '**शिव-महिम्नस्तोत्र**' निर्माता **पुष्पदंत** यहाँके निवासी थे।

बालापुर—अकोलासे १४ मीलपर, **मन** और **म्हैस** नामक नदीके तटपर अवस्थित है। इसके तटपर **जयपुर**-नरेश **सवाई जयसिंहजी** की **छत्री** बनी हुई है। (इनका देहान्त तो बुरहानपुरमें हुआ था, फिर छत्री यहाँ कैसे बनी, यह एक प्रश्न है।) यहाँके क़िलेमें **बालादेवीका**

प्राचीन मन्दिर है। जैनदृष्टिसे बालापुरका[1] विशेष महत्त्व है। १७वी शतीके जैनसाहित्यमें बालापुरका उल्लेख मिलता है यहाँपर मुग़ल कालमे कागज़ बनते थे।

कौण्डिन्यपुर—यह आरबीसे चार मीलपर, वर्धा नदीके तट पर है। कृष्णका जिस भीष्मक राजाकी पुत्री रुक्मिणी से विवाह होनेवाला था, वे यहीके राजा थे। यह स्थान आज भी तीर्थ स्थानके रूपमे पूजित है। यह तीर्थ ५०० वर्षसे भी प्राचीन है, क्योंकि आज भी नगरके बाहर क़िलेके ध्वस्त अवशेषोमे प्राचीन मन्दिरोके चिह्न विद्यमान है। नगरसे उत्तरमे एक विशाल खण्डहरमे कुछ अच्छे, पर खण्डित अवशेष पड़े है, जिनमे कृष्ण-प्रधान दशावतारकी विशाल प्रतिमापर वि० स० १४९६ का एक लेख अंकित है। इससे विदित है कि यह प्रतिमा **पहतेओर**-निवासी किसी व्यवहारीने विधापुर (? बीजापुर) मे निर्माण करवाकर, प्रतिष्ठित की। मूर्त्तिपर मुगल-कलाका प्रभाव स्पष्ट है। बड़े-बड़े मीनार, जालीदार गवाक्ष, मस्तकपर विशाल लब-गोल गुम्बज आदि प्रतिमाके उपलक्षण है। कृष्णलीला और गोवर्द्धनधारी कृष्णादिके भावोको व्यक्त करनेवाले शिल्प भी है। पहनावेसे स्पष्टतया महाराष्ट्रीय मालूम पडते है। इन सभीके चेहरे कुछ लबे और गोल है। ये महाराष्ट्रीय शिल्प-कलाके अच्छे उदाहरण है।

केलभर—इसे प्राचीन साहित्यमे **चक्रनगर** भी कहा गया है। यहाँके टूटे हुए क़िलेमे एक छोटा दरवाजा दिखाई देता है, जिसपर विभिन्न देव-देवियोके सुन्दर आकार खुदे है। यहाँसे ४ मीलपर एक छोटी-सी पहाड़ीपर किसी चमारके पास प्रस्तर लेख है, जो किसीको दिखाना पसन्द नही करता, क्योंकि उसका विश्वास है कि यह गड़े हुए धनकी तालिका है। मैंने उससे कहा कि हम तो साधु लोग है, तब उसने हमें एक लेख बताया। उसीसे

---

[1] मुनि कान्तिसागर, "जैनदृष्टिसे बालापुर",
श्री जैन-सत्य-प्रकाश व० ६ अं०, १-२-३-४,

मालूम हुआ कि सं० १७०३ वैशाख शु० ६ को **दाजीभाऊ** नामक व्यक्तिने **गजानन** महाराजकी प्रतिमा केलझरमें स्थापित की।

यह मन्दिर अभी भी तीर्थके रूपमे पूजित है। यहाँ सीताफल खूब होते हे

भद्रावती—जैमिनीके महाभारतमे इसे **युवनाश्वकी** राजधानी कहा गया है। यहाँपर बिखरे हुए सैकडों कलापूर्ण अवशेषोसे प्रकट है कि किसी समय यहाँ हिन्दू-संस्कृतिका भी प्रभाव था। मूर्त्ति-विज्ञान और तक्षण-कलाकी दृष्टिसे प्रत्येक कला-प्रेमीको एकबार यहाँकी यात्रा अवश्य करनी चाहिए। यहाँका **भद्रनाग**का मन्दिर पुरातन कलाकी दृष्टिसे अध्ययनकी वस्तु है। यह नागदेवताका मन्दिर है, जो सारी भद्रावतीके प्रधान अधिष्ठाता थे। इसके गर्भगृहमे नागकी बहु-फनवाली बडी प्रतिमा तथा बाहरकी दीवारोपर जैसा शिल्पकलात्मक काम किया गया है, उसकी सूक्ष्मता, गम्भीरता और प्रासादिकता देखते ही बनती है। शेषशायी-विष्णुकी प्रतिमा अतीव सुन्दर और कलाकारकी अनुपम कुशलता का परिचय देती है। मूर्तिकी नाभिकी आवलियाँ तदुपरि रोम-राजि, कमलकी पखुडियाँ, नालकी विलक्षणता, ब्रह्माके मुखसे भिन्न-भिन्न भाव आदि बडे ही उत्कृष्ट है। पास ही लक्ष्मी चरण-सेवन कर रही है। दशावतारी पट्टक यहाँपर भी हैं। दीवारोपर अंकित शिल्प कहीसे लाकर लगवाये गये ज्ञात होते है। बाहरके बरामदेमे वराहकी प्रतिमा अवस्थित है। पास हीमे १८ वी शतीके एक लेखका टुकडा पडा है। इस मन्दिरसे कुछ दूर एक नई गुफा निकली है, जिसमे कुछ प्राचीन अवशेष है। जैन-मन्दिरके पश्चात् भागमें चण्डिकादेवीका भग्न मन्दिर है। यह मन्दिर लगता तो जैनियोका है, पर अभी हिन्दुओ द्वारा भी माना जाता है। बरामदेमे कुछ मूर्तियाँ विराजमान है। मन्दिरके निर्माण-का लेख तो कोई नही है, पर अनुमानतः यह १४ वी शतीका होगा। मन्दिरसे चार फर्लांग दूर **डोलारा** नामक विशाल जलाशयके तटपर एक टीला है, जो ध्वस्त मन्दिरका द्योतक है। तन्निकटवर्ती शिल्पोंमें योगिनी

शिल्प तथा पार्वतीकी मूर्त्तियाँ हैं। जलाशयके सेतुकी निर्माण-कला अवश्य विचारणीय है। उसके निम्न भागमें पाषाण रोपकर, ऊपर शिलाएँ जमा दी गई है। बीचमें किसीके सहारे बिना ही सेतु टिका हुआ है। कार्त्तिकेय, गणेश, शिवपार्वती, सूर्य, कृष्ण और सरस्वती आदिकी प्रतिमाएँ बडी ही महत्त्वपूर्ण है। ये जलाशय-तटपर पडी हुई है। सपूर्ण भद्रावतीको पुरातन अवशेषोकी महानगरी कहा जाय, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यदि यहाँ शोध एव खनन-कार्य किया जाय तो निस्संदेह अनेक रत्न निकलनेकी सभावना है।

त्रिपुरी :

जबलपुरसे ७वे मील पश्चिमका **तेवर** ही प्राचीन त्रिपुरी है। यही महाकोसलकी राजधानी थी। इसकी परिगणना **डाहल** राज्यान्तर्गत होती थी। इसका इतिहास बहुत प्राचीन है, ईस्वी पूर्व ३री शतीकी मुद्राओंमे तथा **परिव्राजक** महाराजा **संक्षोभके** सन् ५१८वाले ताम्रपत्रमे **त्रिपुरीका** उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। **लिंग** एव **पद्मपुराणमें** भी इस स्थानकी चर्चा है। कलचुरियोने नवी शतीमे इसे राजधानी बनाकर त्रिपुरीके महत्त्वको द्विगुणित कर दिया। इनके समयमे त्रिपुरीका बहुमुखी वैभव भारतव्यापी हो चुका था। शासकोका बौद्धिक स्तर निस्सन्देह उच्च कोटिका था। शिल्पकलाके तो वे परमोन्नायक थे ही, परन्तु उच्च कोटिके साहित्यिक कलाकारोका सम्मान करने के लिए भी सोत्साह प्रस्तुत रहते थे। महाकवि **राजशेखर** भी कुछ दिनोतक त्रिपुरीमे रहे थे। तात्पर्य कि यहाँकी साहित्यिक परम्परा बड़ी ही विलक्षण थी। यहाँतक कि राजनैतिक इतिहासकी सामग्री स्वरूप जो ताम्रपत्र उपलब्ध हुए है, एवं पत्थरोंपर जो लेख खुदे है, उनका साहित्यिक महत्त्व भी कम नही।

मुझे दो बार त्रिपुरी जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। १९४२में त्रिपुरीको मुझे दो घंटे ही देने पडे थे। किन्तु फरवरी १९५०का चतुर्थ

सप्ताह मुझे यही व्यतीत करना पडा। इस समय मुझे कलचुरियों द्वारा विकसित तक्षण-कलाके अवशेषोको व मूर्तियोंको भलीभाँति देखनेका अवसर मिला। इतना पश्चाताप मुझे अवश्य हुआ कि जिन कलात्मक अवशेषोका भावग्राही वर्णन मैने अन्यत्र पढा था, वे वहाँ न मिले। जब कभी ग्रामीणो द्वारा आकस्मिक खुदाईमे अवशेष या मूर्तियाँ निकलती है, तब वे लाकर कही व्यवस्थित रूपसे रख देते है, और बुद्धिजीवी या व्यवसायी प्राणी मौका देखकर उठा लाते है। अभी भी यह क्रम जारी है।

जहाँतक स्थापत्यका प्रश्न है, वह कलचुरि कालसे सम्बन्ध जोड सके, ऐसा एक भी नही है। अवशेष अवश्य इतस्तत बिखरे पड़े है। सबसे अधिक ललित कलाकी सामग्री मिलती है—विभिन्न मूर्तियाँ। **बालसागर**के किनारेपर, त्रिपुरीमे प्रवेश करनेके मार्गपर जो मन्दिर है, उसमे तथा सरोवर-के मध्यवर्ती देवालयकी दीवालोमे, कलचुरि कालकी अत्यन्त सुन्दर कृतियाँ भद्दे तरीकेसे चिपका दी गई है। **खैरमाई** (बड़ी)के स्थानपर ध्यानि, विष्णु, सलेख कार्त्तिकेय आदि देवोकी मूर्तियोंके अतिरिक्त पश्चात् भागमे सैकड़ो मूर्तियोंके सर एव बस्ट पडे है। ग्राममे **हरि लढ़िये**के घरके सामने विराट् वृक्षके निम्न भागमे भी मूर्तियाँ पडी है। इन पर लेख भी है। इसी भाड़के जड़ोकी दरारोमे देखनेपर मूर्तियाँ फँसी दिखलाई पड़ती है। छोटी **खैरमाई** एव ग्राममें कई स्थानोपर कुछेक घरोमें मूर्तियाँ पाई जाती है। इनमेंसे कुछेक कलाकी दृष्टिसे भी मूल्यवान् है। नगरीके मध्य भागमे **त्रिपुरेश्वर महादेव**की मूर्तिके अतिरिक्त अन्य प्रतिमाएँ भी विद्यमान हैं। लोगोका ऐसा ख्याल है कि यहाँ किसी समय मदिर था, जैसा रुख वर्तमानमें है, उससे तो कल्पना नही होती, कारण कि मूर्तियाँ गहरे स्थानपर रखी गई है। इनकी रचनाशैलीसे कलचुरि कालकी प्रतीत होती है। उनके समयमे यदि स्वतंत्र मन्दिरका अस्तित्व होता, तो किसी न किसी ताम्र या शिला-लेखमे इसका उल्लेख अवश्य ही रहता, क्योकि कलचुरि स्वय शैव थे, अतः त्रिपुरेश्वर महादेवके मन्दिरका स्पष्ट उल्लेख

न करें, यह असम्भव है। बालसागरके तटपर कुछ मूर्ति-विहीन शैवमन्दिर आज भी विद्यमान है। यहाँके कचरेमेसे गजलक्ष्मीकी एक प्रतिमा प्राप्त हुई है।

त्रिपुरीके समीप ही **कर्णवेलके** अवशेष है। अभी वहाँ अच्छा जंगल पैदा हो गया है। केवल स्तम्भ मात्र रह गये हैं, एक स्तभका चित्र दिया जा रहा है। कलचुरियोंकी यह सामान्य कृति भी, उनकी परिष्कृत रुचिकी परिचायक है। कर्णवेलमे दुर्गकी दीवालोंके चिह्न दो मीलतक स्पष्ट दिखलाई पडते हैं। स्थान-स्थानपर गड्ढे भी मिलेगे। इनमेंसे गढे-गढाये पत्थर निकालकर मालगुजारने बेचकर सांस्कृतिक अपराध किया, तब हम पराधीन थे। परन्तु स्वाधीन होते हुए भी इस ओर जो उदासीनता बढ़ती जा रही है, वह खलती है।

हिन्दू सस्कृतिकी गौरवगरिमाको व्यक्त करनेवाली प्रचुर देव-देवियोंकी प्रतिमाओंकी यहाँके समान शायद ही कही सामूहिक उपेक्षा हो रही होगी। यहाँकी कृतियोमें आभूषणोका बाहुल्य है। मुझे भी सौ-लगभग उपेक्षित मूर्तियाँ व शिल्पावशेष यहाँकी जनता द्वारा, प्राप्त हुए थे, जिनकी चर्चा अन्यत्र की गई है। और वे सब जबलपुरके **शहीद स्मारकमें** रखे जावेंगे।

गढ़ा

जबलपुरसे पश्चिम ४ मीलपर पड़ता है, पर अब तो वह इसका एक भाग ही समझा जाने लगा है। यह गोड राजाओंका पाटनगर था; जैसा कि **मदनमहल** से (जो यहाँसे एक मील दूर पहाडीपर बना है) ज्ञात होता है। **राजा संग्रामशाह** इसमे रहते थे। महलके पास ही **शारदाका** मन्दिर है। सग्रामशाहकी मुद्राओसे ज्ञात होता है कि उस समय वहाँ टकसाल भी रही होगी। गढ़ामें जलाशयोकी सख्या काफी है। पुरातन अवशेष भी प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होते है, जो जलाशयके किनारे पर, रखे हुए है। यहाँपर एक **बरजीके** घरकी दीवालमे ध्यानी-विष्णुकी सुन्दर प्रतिमा लगी हुई है। थानाके सम्मुख ही एक तान्त्रिक मन्दिर

बना है। कहा जाता है कि इसका निर्माण विशिष्टशैलीसे हुआ है। पुष्यनक्षत्र आनेपर ही कार्य किया जाता था। आज भी गढ़ामे तान्त्रिकों-का अच्छा जमाव व प्रभाव है। एक पुरातन वापिका भी है। यहाँ खुदाई की अत्यावश्यकता है।

बाजनामठ

जबलपुरसे प्राय: ६ मील दूर, **संग्रामसागरके** किनारेपर बने हुए **भैरव**-मन्दिरको ही बाजनामठ कहते है। कहा जाता है यह भी सिद्ध स्थान है। इसका निर्माण गोंड राजा **संग्रामशाहने** करवाया था, वे भैरवके अन्यतम उपासक थे। एक बार किसी तान्त्रिकने षड्यन्त्र कर, राजाका बलिदान देना चाहा था, पर राजा ठीक समयपर चेत गया, अतः उनका प्रयत्न विफल रहा। भैरवका मन्दिर गोंड स्थापत्यका प्रतीक है। इसका गोल गुम्बज प्रेक्षणीय है। नवरात्रमे यहाँपर दूर-दूरके तान्त्रिक आते है। यह स्थान एकान्तमे होनेके कारण कभी-कभी भयजनक लगता है। पासमे मुर्दे भी जलाये जाते है। इस स्थानकी सुरक्षापर समुचित ध्यान देना वाछनीय है।

इसी **संग्रामसागरके** ठीक मध्य भागमे **आमखास** नामक एक स्थान पड़ता है। यह एक प्रकारसे छोटा-सा द्वीप ही है। महल बना हुआ है। एक आमका वृक्ष लगा है। इसीसे इसका नाम **आमखास** पड़ गया है, पर मूलत वह **दीवानेखास** ही रहा होगा। जबलपुरके **स्व० बाबू ऋषभदास** भूरा तो, जबलपुरके समस्त खडहर स्थानोके दैनिक पर्यटक ही थे, वे मुझे बता रहे थे कि आमखासवाला महल नीचे तीन तलोतक गहरा है। बैठनेको बड़े-बडे हॉल है। कभी कभी विषधर भुजग भी निकलता है। इस प्रकारकी इमारते कलचुरियोके समय भी बना करती थी, सर्वसाधारणको इन बातोका पता कम रहता था। बिलहरीमे ऐसी वापिका मै स्वय देख चुका हूँ, जो तीन खडोमें विभाजित है।

जबलपुरके निकटवर्ती स्थानोंमे पुरातत्त्वकी प्रचुर सामग्री बिखरी पड़ी है, उनमेसे कुछ ये है—**गोपालपुर, लमेटाघाट, ग्वारीघाट, भेड़ाघाट, कर्णबेल** आदि आदि।

भेड़ाघाट : यहाँका-सा प्राकृतिक सौन्दर्य प्रान्तमे अन्यत्र दुर्लभ है। नीचे नर्मदा अविश्रान्त गतिसे प्रवाहित हो रही है, और एक मीलकी दूरीपर जलप्रपात प्रेक्षणीय है। यहाँका चौसठ योगिनीका मदिर भारतमें विख्यात है, जिसे गौरीशकर-मन्दिर भी कहते है। इसे सन् ११५५-५६ ई० (कलचुरि स० ९०७मे) **अल्हणदेवीने** निर्माण करवाया था। यह गोल आकारका होनेसे **गोलकी-मठ** भी कहलाता है[1]। इसकी दीवार लगभग ७ फीट ऊँची है। मन्दिरकी रचना-शैली और पाषाणोंके देखनेसे प्रतीत होता है कि मन्दिर दो बारमे बना होगा, अथवा किसी मन्दिरसे पाषाण लाकर यहाँ लगवा दिये गये होगे। मन्दिरका अधोभाग प्राचीन है, किन्तु इर्द-गिर्दका भाग आधुनिक-सा प्रतीत होता है। मन्दिर और मण्डपके मध्य भागमे छोटे अन्तरालके दाहिनी ओर एक लेख खुदा है, जिसमे लिखा है—'**महाराज विजयसिंह देवकी माता महाराणी गोसलदेवी स्वपौत्र अजयदेवके साथ नित्यप्रति भगवान् वैद्यनाथके दर्शनार्थ आती थीं।**' मुख्य गर्भद्वारमे गौरीशकरकी प्रधान मूर्ति है, जिसमें शिव-दुर्गा नन्दीपर सवार हैं। शिव हाथमे त्रिशूल और पार्वती दर्पण धारण किये है। उभय पक्षस्थित स्तम्भोपर ब्रह्मा और विष्णुकी मूर्तियाँ

---

[1]इस मठके प्रधान आचार्य सद्भावशंभु थे, जो दाक्षिणात्य थे। युवराजदेवने इस मठको ३ लाख गांव दान स्वरूप भेंट दिये थे।

तस्मै निस्पृहचेतसे कलचुरि
क्ष्मापालचूड़ामणिः
ग्रामाणां युवराजदेवनृपति.
भिक्षां त्रिलक्षं ददौ।

हैं। दाहिनी ओर सूर्य तथा बाईं तरफ विष्णुकी सुन्दर प्रतिमा, जो लक्ष्मीको गोदमे लिये हुए, गरुडारूढ है। बाँई ओर दीवारमें अष्टभुजी गणेशकी प्रतिमा है। इस प्रतिमाकी विशेषता यह है कि यह नाचती हुई बताई गई है। कलाकी दृष्टिसे यह मूर्ति सर्वोत्तम है। दूसरे भागमे कलचुरि सम्राट् **गांगेयदेव, कर्णदेव** तथा **यशःकर्णदेवकी** समकालीन मूर्तियाँ है, जो सामूहिक शिल्पकोरणीका एक नमूना है। यहाँपर एक बिस्तरपर लेटे मानवकी ३॥।×२ फीटकी प्रतिमा है। एक स्त्री झुककर उसके कानमे कुछ कह रही है और वह भी कानपर हाथ लगाकर श्रवण करनेका प्रयास कर रहा है। और भी तीन-चार स्त्रियाँ पासमें लेटी हुई है। मन्दिरके चारो ओर गोलाकार दीवारमे चौसठ योगिनियोकी प्रतिमाएँ विराजमान है। जिनकी बनावट स्थूल और कडकीले पाषाणकी है। अधिकतर प्रतिमाएँ कलचुरि मूर्ति-कलाकी उत्कृष्टतम तारिकाएँ हैं। इन मूर्तियोको देखनेसे मालूम होता है कि इनके भावोको विचारनेमे, और मस्तिष्क-स्थित ऊर्मियोको इन पाषाणोंपर उत्कीर्णित करनेमें अनेक वर्षोंका व्यय करना पडा होगा। इनमे मुखमुद्राका सौन्दर्य-युक्त विकास, शारीरिक गठन, अग-प्रत्यगपर कलाका आभास, सूक्ष्मता, आभूषणोका बाहुल्य आदि विशिष्टताएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विचारोत्तेजक है। कलचुरि-कलाका ज्वलन्त उदाहरण इससे बढ़कर प्रान्तमे नही मिलेगा। ये प्रतिमाएँ तन्त्रशास्त्रोसे सम्बन्धित है। जिस योगिनी-का जैसा रूप-वर्णन उपर्युक्त ग्रन्थोमे आया है, ठीक उसीके अनुरूप उनकी रचना कर, कलाकारने अपने कौशलका सुपरिचय देकर, कलचुरि-राजवश-को सदाके लिए अमर बना दिया है। इनके बिना प्रान्तीय मूर्ति-विज्ञानका इतिहास सर्वथा अपूर्ण रहेगा। इन मूर्तियोंमें गणेशकी एक मूर्ति महत्त्वपूर्ण है। उसमें गणेश स्त्री-रूपमें है । इन मूर्तियोके अतिरिक्त शैव-धर्मसे सम्बन्धित विशाल शिल्प-स्थापत्य भी प्राप्त है, जो कलचुरि-राजवशका शैव-प्रेम सूचित करता है। कुछ **वात्स्यायनके कामसूत्रके** विषयको

स्पष्ट करनेवाली प्रतिमाएँ भी हैं, पर उनमें अश्लीलताका अभाव नही है।

प्रत्येक योगिनीका मूर्तिपर नामोल्लेख इस प्रकार है—(१) छत्र-सवरा, (२) अजीता (३) चंडिका (४) आनन्य (५) ऐगिनी (६) ब्रह्माणी (७) माहेश्वरी (८) रकारी (९) जयती (१०) पद्महस्ता (११) हसिनी १२, १३, १४ ज्ञात नही। (१५) ईश्वरी (१६) इन्द्र-जाली (१७) राहनी १९, २० पढा नही जाता। (२१) ऐंगनी (२२) उत्ताला (२३) नालिनी (२४) लम्पटा (२५) ददुरी (२६) झयामाला (२७) गाँधारी (२८) जाह्नवी (२९) डाकिनी (३०) बाघिनी (३१) दर्पहारी (३२) नाम स्पष्ट नही है। (३३) लकिनी (३४) जहा (३५) घंटाली (३६) शाकिनी (३७) ठडुरी (३८) अज्ञात (३९) वैष्णवी (४०) भीषणी (४१) शवरा (४२) छत्रधारिणी (४३) खंडिता (४४) फणेन्द्री (४५) वीरेन्द्री (४६) डकिनी (४७) सिंहसिंहा (४८) झाषिनी (४९) कामदा (५०) रणजिरा (५१) अन्तकारी (५२) अज्ञात (५३) एकदा (५४) नदिनी (५५) बीभत्सा (५६) वाराही (५७) मन्दोदरी (५८) सर्वतोमुखी (५९) थिरचित्ता (६०) खेमुखी (६१) जाबवती (६२) अस्पष्ट (६३) अोतारा (६४) अस्पष्ट (६५) यमुना (६६-६७) अस्पष्ट (६८) पाडवी (६९) नीलांबरा (७०) अज्ञात (७१) तेरमवा (७२) षडिनी (७३) पिंगला (७४) अहरवला (७५-७६) अस्पष्ट (७७) जठरवा (७८) अज्ञात (७९) रिघवादेवी।

कालिकापुराण और **दुर्गापूजा पद्धतिमें** जो चौसठ योगिनियोंके नाम लिखे है, वे पाँच-छः नामोंको छोड इनसे मिलान नही खाते, परन्तु का० पु० और दु० पू०के नाम भी मिलान नही खाते, केवल २४ मिलते हैं[1]।

[1] रायबहादुर हीरालाल—जबलपुर ज्योति, पृ० १६३-४

उपर्युक्त पंक्तियोमें जो योगिनियोकी संख्या दी गई है, वह अधिक है। ६४ योगिनियोंके अतिरिक्त देवियाँ भी इसमे सम्मिलित कर दी गई हैं। ज्ञात होता है कि बढते हुए तंत्रवादने इनकी संख्यामें वृद्धि तो कर डाली पर जो शास्त्रीय एकरूपता क़ायम रहनी चाहिए थी, वह न रह सकी, मेरा तो अनुमान है कि साधकको जिसका इष्ट था, उसकी मूर्ति बनवाता गया और यहाँ प्रतिष्ठित करवाता गया। यदि ऐसा न होता तो शास्त्र परम्परापर पनपनेवाले तात्रिक केन्द्रमे इतना अन्धेर न मचता।

कालके प्रभावसे जैनधर्म भी तत्रपरम्परासे न बच सका। योगिनियोंकी मान्यताने न केवल जैन धर्ममें प्रवेश ही किया अपितु बादमे इस परम्परापर प्रकाश डालनेवाले तत्रात्मक ग्रन्थोका भी सृजन होने लगा। परन्तु आश्चर्यकी बात तो यह है कि हिन्दुओके अनुसार जैनोकी योगिनियोके नामोंमे एकरूपता क़ायम न रह सकी। मेरे सम्मुख अभी **विधिप्रपा** और **भैरव पद्मावतीकल्प** अवस्थित है, दोनोमे विभिन्न रूपसे योगिनियोके नाम पाये जाते है। इतनी बडी शक्ति परम्परामे जब नामैक्य न रह सका तो साधना पद्धतिमे एकताकी कल्पना ही व्यर्थ है।

पनागर

जबलपुरसे उत्तरमे ९ मीलपर यह बसा हुआ है। पुरातत्त्व-अभ्यासियोंने इसे आजतक पूर्णतया उपेक्षित रखा है। **फकीरे काछीके** घरके पीछे अमरूदके पेडकी सुदृढ जडोमे, सात फीटसे अधिक ऊँची, सपरिकर सूर्य-मूर्ति बुरी तरहसे फँसी पडी है। वह कुछ खडित भी हो गई है। मूर्ति श्याम शिलापर उत्कीर्णित है। पानी अधिक गिरनेसे ऊपर खूब काई जम गई है। मूर्तिका विशाल परिकर व अन्य उपमूर्तियाँ कलाका भव्य प्रतीक है। भग्नावस्थामे भी वह अपने स्वाभाविक सौन्दर्यको लिये हुए है। कलचुरि कालीन अनेक आभूषणसे विभूषित है। तूर्णालकार तो बहुत ही सुन्दर है। मुख्यप्रतिमाके निम्न भागमें दोनों ओर

स्त्री परिचारिकाएँ मस्तक विहीन हैं। कटिप्रदेश, हाथोंकी भावभंगिमा बड़ी आकर्षक है। इनके आगे एक-एक परिचारक है। मूर्तिका परिकर साँचीके तोरणकी याद दिला देता है। प्रभावलीपर अन्तिम गुप्तकालीन प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि मूर्तिपर समय-सूचक कोई लेख नहीं है। पर इसकी रचनाशैलीसे ज्ञात होता है कि वह १०वी शतीके पूर्व और १२वी शतीके बादकी नही हो सकती। कलचुरि कालकी कृति मान लें तो अनुचित नही। इस शैलीकी सूर्य-मूर्तियाँ **त्रिपुरी, बिलहरी** व **श्रीपुरमें** भी पाई गई है।

बसंता काछीका खेत इससे लगा हुआ है। इसमे पुरातन स्तंभोंके उपरि भाग—आकृतिसूचक तीन अवशेष पड़े हैं। ३॥। फ़ीटसे अधिक लम्बाई चौडाई है। इसमे मुख्यतः तो कीचकाकृति है, पर तीनों ओर अन्य सुन्दरतम मूर्तियाँ भी उत्कीर्णित है। यद्यपि स्तभ बहुत सुरक्षित तो नही है, पर मूर्तियोवाला भाग मिट्टीमे दबा रहनेसे प्रतिमाएँ अखडित है। ऊपर ताम्रशलाका खोसनेकी रेखाएँ बनी है।

कन्धी काछीका खेत **बसंताके** खेतके ठीक सामने ही सडकके उस पार पड़ता है। इसमे कुछ लघुतम मन्दिर पडे हुए है, जो सर्वथा अखंडित व सुन्दर खुदाववाले हैं। इन मंदिरोकी ऊँचाई, सशिखर ५ फीटसे कम न होगी। ये चलते-फिरते मंदिर हैं। ऐसे मंदिर एक ही शिलाखडको व्यवस्थित रूपसे उकेरकर मध्यकालमे बनाये जाते थे। ऐसे कुछ मंदिर **प्रयाग-नगरपालिका-संग्रहालयमें**, ठीक सामने ही रखे हुए है।

वराह मदिरके भग्न चौतरेके ऊपर बाजूमें, (यह पुरातत्त्व विभाग द्वारा सुरक्षित स्मारकोमे सम्मिलित है) जलाशयके तटपर, तथा **खैरदय्या** के स्थानोपर अन्य अवशेष रखे हुए है। अरक्षित-उपेक्षित २५ अवशेष मैंने सग्रहीत किये थे, जिनमें हरगौरी, पार्वती, जिनेश्वर, गणेश, सूर्य, विष्णु अहि-कालियदमन आदि मुख्य है। यहाँ खनन किया जाय तो और भी बहुमूल्य सामग्री प्रचुर-परिमाणमें प्राप्त की जा सकती है।

कटनी

जबलपुरसे उत्तर ७० मील है। मध्यप्रदेशीय इतिहास और पुरातत्त्व प्रसिद्ध अन्वेषक **स्व० डा० हीरालालजी** यहींपर रहते थे। उनका बचा-खुचा संग्रह यहाँपर विद्यमान है। गृह-प्रवेश द्वारके ऊपर ही अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा रखी गई है। भीतर भी पुरातन रेखाओंवाले पत्थरोंका एक द्वार बना है। बगीचेमें जैनमूर्ति रखी हुई है, जो **बिलहरीकी** वापिकासे लाई गई थी। तामपत्र, मुद्राएँ व कतिपय ऐतिहासिक ग्रन्थोंका सामान्य संग्रह है। कटनीके निकट डा० साहबके दाहसस्कारवाले स्थानपर एक साधारण चौतरा बना हुआ है। अफ़सोसकी बात है कि उनका परिवार, सभी तरहसे सम्पन्न होते हुए भी, उनकी प्रशस्ति तक नही लगवा सका है, जबकि चौतरेमे इसलिए स्थान भी छोड़ा गया है। मसुरहा घाटपर मुझे यहाँ दशावतारी विष्णुकी भव्य प्रतिमा प्राप्त हुई थी, इसका परिचय पृष्ठ ३६९पर है।

कारीतलाई

कटनीसे ३० मील ईशानकोणमे अवस्थित है। कारीतलाई प्राचीनतम कलाकृतियोंका महान् केन्द्र है। सहस्राधिक अवशेष अपहृत होनेके बाद भी आज अनेक श्रेष्ठतम कला-सम्पन्न मूर्तियाँ सुगढ़ित, पत्थर, स्तम्भ, आदि अवशेष प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होते है। दुर्भाग्यसे इतने महत्त्वपूर्ण और ऐतिहासिक केन्द्रका अध्ययन, समुचित रूपसे, **जनरल कनिंघमके**[1] बाद किसीने नही किया। उपलब्ध मूर्तियोंमें दशावतार, सूर्य, महावीर

---

[1] **"जनरल कनिंघमने सन् १८७९ ईस्वीमें एक श्वेत पत्थरकी बृहदाकार नरसिंहावतारकी मूर्ति देखी थी" इसपर स्व० डा० हीरालाल लिखते है—"उसका अब पता नहीं है"।**

जबलपुर-ज्योति, पृ० १२१,

व गणेशकी मूर्तिके अतिरिक्त जैनमूर्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं। अधिकतः लेखयुक्त हैं। जबलपुर कोतवालीवाली विस्तृत शिला-लिपि यहीसे प्राप्त हुई थी। जिस प्रकार कलचुरि-शिल्पकी दृष्टिसे **बिलहरी और त्रिपुरीका** महत्त्व है, यहाँका महत्त्व भी उनसे कम नही।

बिलहरी

कटनीसे नैऋत्य कोणमें नवें मीलपर अवस्थित है। ४ मीलके बाद मार्ग कच्चा है। २ नाले बीचमे पड़नेसे, मोटर सरलता पूर्वक नहीं जा सकती। १९५० फरवरीके प्रथम सप्ताहमें मुझे **बिलहरी** जानेका सु-अवसर प्राप्त हुआ था। मै चाहता तो यह था कि अधिक दिनोंतक रहकर कुछ अनुशीलन किया जाय, किन्तु परिस्थितिवश समय न निकाल सका। बिलहरी एकान्तमें पड जानेसे एवं मार्गकी दुर्गमताके कारण कोई भी विद्वान् जानेकी हिम्मत कम ही करता है। हम जैसे पादविहारियोंके लिए मार्ग-काठिन्य जैसी समस्या नही उठती।

बिलहरीका प्राचीन नाम **पुष्पावती** कहा जाता है। इस नाममें कहाँतक प्राचीनत्व है, नही कहा जा सकता। यहाँ जो भी प्राचीन लेख, शिल्पकृतियाँ एव अन्य ऐतिहासिक उपकरण उपलब्ध हुए है, उनकी आयु कलचुरिकालसे ऊपर नही जा सकती, न पौराणिक साहित्यमें ही **पुष्पावती**-की चर्चा ही है। तात्पर्य दशम-एकादश शतीकी शिल्प रचनाएँ उपलब्ध होती है, अत. कलचुरियुगीन स्थापत्य एवं मूर्तिकलाके अभ्यासियोंके लिए बिलहरी उत्तम अध्ययनकेन्द्र है। यद्यपि प्राचीन वस्तु-विक्रेताओं—जो निकटमे ही रहते है—ने सुन्दर कलात्मक प्रतीक वैयक्तिक स्वार्थोंकी क्षुद्रपूर्तिके लिए, बिलहरीके भू-भागको सौन्दर्यविहीन करनेकी किसी सीमातक चेष्टा की है तथापि अवशिष्ट सामग्री भी एतद्देशीय कलाका प्रतिनिधित्व कर रही है। यहाँके स्थापत्योमे अखण्डित कृति बहुत ही कम है।

लक्ष्मणसागर

बिलहरीमें प्रवेश करते ही विशाल जलाशय एव उसके तटपर बनी हुई **गढ़ी** ध्यान आकृष्ट कर लेती है। गाँवको देखते हुए तालाब काफ़ी सुन्दर, स्वच्छ एवं स्वास्थ्यवर्धक है। कहा जाता है कई **बीसियोंसे** इसका पानी सूखा नही है। सरोवरको देखते ही बिलहरीकी विराट् कल्पना सजीव हो उठती है। लोकोक्तिके अनुसार इसका निर्माता कोई **चन्देल लक्ष्मणसिंह था**, परन्तु इतिहाससे सिद्ध है कि चन्देलवशमें इस नामका कोई राजा नही हुआ। हाँ, चन्देल राजाओ द्वारा निर्मित गढीके कारण लोगोने कल्पना कर ली हो कि लक्ष्मणसागरका निर्माता और गढीका कर्त्ता एक ही हो तो आश्चर्य नही। गढ़ी चन्देलोने बनवाई होगी, कारण कि कलचुरि जब दुर्बल हो गये थे तब बिलहरीपर चन्देलोने अधिकार कर लिया था। लक्ष्मणसागर तो **नोहलादेवीके** पुत्र **लक्ष्मणराजने** ही बनवाया था, क्योकि यहाँपर विस्तृत लेख[1] उपलब्ध हुआ है, जिससे जाना जाता है कि **नोहलादेवीने** एक शिवमदिर बनवाया था ऐसी स्थितिमें पुत्र द्वारा तालाब बनवाया जाना स्वाभाविक है।

किनारेपर बनी हुई गढ़ी प्राय नष्ट हो गई है। सन् ५७के विद्रोही सैनिकोंने इसमे आसरा लिया था, जिसके फलस्वरूप गढीसे हाथ धोना पडा। एक बुर्जपर आज भी सैकड़ो गोलियोके चिह्न बने हुए है परन्तु बुर्जमे से १ कंकड़ी भी नही खिरी। इस गढीके पत्थरोंका उपयोग सडकोके पुलोंमे हुआ है। गढीका पिछला स्थान एकान्तमे पडता है। वहाँपर पुरातन मूर्तियाँ भी पडी है। खडित गढी भी देखने योग्य है।

विष्णुवराह मंदिर

बिलहरीमे प्रवेश करते ही विष्णुवराहके मन्दिरपर दृष्टि स्तम्भित

---

[1]यह लेख नागपुर म्यूज़ियममें सुरक्षित है।

हो जाती है। यही मंदिर अपने आपमें पूर्ण है। इसमे एक लेख भी पाया गया है, जो कनिंघम सा०की रिपोर्टमे प्रकाशित है। जितना प्राचीन लेख है उतना प्राचीन मदिर नही जान पड़ता, मैंने वास्तुकलाकी दृष्टिसे इसे देखा, परन्तु मुझे एक भी ऐसा चिह्न नही दिखलाई पडा जो इसे १२वी शताब्दी तक ले जा सके। मेरे मतसे तो मदिरका जो ढाँचा दृष्टिगोचर होता है, वह निश्चित रूपसे मुसलमानोके पहलेका नही है। बल्कि शिखर-पर मुगलशैलीका स्पष्ट प्रभाव भी है। मुगल शासकोके कानोंतक बिलहरीकी गौरवगरिमा पहुँच चुकी थी। **आइने अकबरीमें** बिलहरीके पानका उल्लेख है। सूचित सरोवरके तटपर आज भी पानकी बडी बडी बाडियाँ लगी है। यहाँका पान सापेक्षत बडा और सुस्वादु होता है।

मदिरकी **चौखट** अवश्य ही कलचुरि मूर्ति एव तोरणका प्रतीक है। पाषाण एव शिल्पशैली भी प्राचीनताकी ओर सकेत करती है। मदिरमे व्यवहृतशैलीसे इसका कोई साम्य नही। ऐसा लगता है कि जिस प्रकार **गुर्गीके** तोरणको **रीवांके** राजमहलके मुख्य द्वारमें जडवा दिया है, ठीक उसी प्रकार यह भी, कही से लाकर इस मदिरमें स्थापित कर दिया है। ऊपरसे बैठाये जानेके चिह्न स्पष्ट है। तोरणमे उत्कीर्णित मूर्तियाँ भावशिल्पका स्वस्थ आदर्श उपस्थित करती है। मदिरका गर्भ-गृह भी आधुनिकतम प्रतीत होता है।

बाहरके भागमे टूटी-फूटी मूर्तियाँ एव स्थापत्यावशेषोके खड रक्खे गये हैं। तारोसे हाता घिरा हुआ है। पुरातत्त्व विभागने इसे अपने अधिकारमे रखा है।

मठ

राजा लक्ष्मणराजने बिलहरीमे एक मठ बनवाया था, आज भी गाँवके भीतर एक मठ दिखलाई पड़ता है। मैंने भी इसे सरसरी तौरसे देखा है। मठका ऊपरी भाग दूरसे ऐसा लगता है, मानो कोई राजमहल हो। क्रमशः

विकसित छोटी-छोटी गुमटियाँ एवं गवाक्ष बड़े ही सुन्दर लगते हैं, परन्तु ऊपरका भाग इतना जीर्णप्राय हो गया है कि नही कहा जा सकता कब कौनसा भाग खिर जाय। निम्न भागको देखनेसे तो ऐसा लगता है, कि यह मठ न होकर कोई स्वतन्त्र मन्दिर ही रहा होगा कारण कि बडा गर्भ-गृह बना हुआ है। चारो ओर प्रदक्षिणाका स्थान ही शेष है। छतमें डॉट एवं बेलबूटोकी जो रेखाएँ है वे विशुद्ध मुगलकालीन है। इनमे गेरुए रगके प्रयोगकी प्रधानता परिलक्षित होती है। इससे लगे हुए अधकारग्रस्त कुछ कमरोमे भी लिंग-विहीन जिलहरियाँ पडी है और चमगीदड़ोका एकच्छत्र साम्राज्य है। बिना प्रकाशके प्रवेश सम्भव नही। प्रश्न रह जाता है कि इसका निर्माता कौन है? लक्ष्मणराज द्वारा विनिर्मित तो यह मठ हो ही नही सकता कारण कि प्राचीनताकी झलक कहीपर भी दृष्टिगोचर नही होती, बल्कि विशुद्ध मुगलकालीन कृति जान पड़ती है कारण कि मुगल कलमका प्रभाव छतोकी रेखाओंसे स्पष्ट जान पड़ता है। ग्राम वृद्धोंसे विदित हुआ कि डेढ सौ वर्ष पूर्व, संन्यासियोका यह मठ बहुत बडे केन्द्रके रूपमें प्रसिद्ध था, जनता उन्हे सम्मानकी दृष्टिसे देखती थी। अनाचार सेवनसे यह केन्द्र स्वत. नष्ट हो गया। आज हालत यह है कि चारों ओर इतने पौधे उत्पन्न हो गये हैं कि प्रवेश करना तक कठिन हो गया है। **लक्ष्मणराज** द्वारा निर्मित कथित मठके लिए अन्वेषणकी अपेक्षा है। मठके सम्बन्धमे एक और बात ध्यान देने योग्य है कि यह कभी जैन-मदिर या साधनाका स्थान न रहा हो? कारण कि जैनकलाके प्रतीक सम स्वस्तिक और कलशका अकन इसमे है। समीपस्थ वापिकाकी जैनमूर्तियाँ भी इसका समर्थन करती है। आज भी मठके निकट दर्जनो जैनकला कृतियाँ विद्यमान है।

माधवानल, कामकन्दला महल और पुष्पावती ?

बिलहरीसे १।। मील दूर **कामकन्दला-मठके** अवशेष छोटेसे टीलेपर

बिखरे पड़े है। किंवदन्ती है कि **माधवानल** उच्चकोटिका गायक था। **कामकन्दला** नामक वारागनासे विवाह कर **पुष्पावतीमें** रहने लगा था । उसने अपने लिए जो महल बनवाया था, उसका नाम कामकन्दलासे जोड़ दिया। स्थानभेद एव कुछ परिवर्त्तनके साथ यह लोक-कथा पश्चिम भारतमे १७ शतीतक काफी प्रसिद्ध रही। जैनकवियोंने भी इस शृंगारिक लोक-कथाको अपने ढंगसे लिपिबद्ध किया।

माधवानल कामकन्दला एक भारतीय लोककथा है। इसका प्रचार प्रायः सर्वत्र—कुछ परिवर्तनके साथ पाया जाता है । इस प्रणय कहानीपर प्राय प्रत्येक प्रान्तवालोने कुछ न कुछ लिखा है । उपलब्ध आख्यानकोमें कुछ एकका उल्लेख यहाँ अपेक्षित है। **वाचक कुशललाभकी माधवानल[1]कथा** (रचनाकाल वि० सं०१६७७ फा० कृ० १३ रविवार, जैसलमेर,) और एक अज्ञात कविकी **मनोहर[2] माधवविलास-माधवानल** (लेखनकाल स० १६८९ का० पूर्णिमा)के अतिरिक्त हिन्दी भाषामे भी आख्यानक उपलब्ध हुए है[3]।

इन सभीमे माधवानलका निवासस्थान **पुहपावती-पुष्पावती** बताया है । परन्तु वाचक कुशललाभको छोड़कर किसीने उसकी भौगोलिक स्थितिका स्पष्ट निर्देश नही किया। वाचकवर्य्य सूचित करते है—

देश पूरव देश पूरव गंगनइ कंठि
तिहाँ नगरी पुहपावती राजकरइ हरिवंस मंडण
तसु घरि प्रोहित तास सुत, माधवानल नाम बंभण
कामकन्दला तसु घरणि सीलवंत सुपवित्त
विबुधभोग जिम विलसिया, ते वर्णविसुं चरित्र

---

[1]**आनन्द-काव्य-महोदधि, गुच्छक सप्तममे प्रकाशित,**
[2]**जैनगूर्जर कविओ भा० ३, खं० १, पृ० १०३८,**
[3]**हिन्दुस्तानी, भा० १६, अं० ४, पृ० २७१-२८०,**

बिलहरीमें किवदन्ती प्रचलित है कि पुहपावती इसका प्राचीन नाम है, और किसी समय इसका विस्तार १२ कोसतक था। स्व० डा० हीरालाल[1] आदि कुछ विद्वान् **बिलहरी** और **पुष्पावती**को एक ही नगरी माननेकी चेष्टा करते नजर आते है। परन्तु इस किवदन्तीका आधार क्या है? अज्ञात है। आजतक कोई भी लेख व ग्रन्थस्थ उल्लेख मेरे अवलोकनमे नही आया जो दोनोको एक माननेका सकेत करता हो। बिलहरीका और भी कुछ नाम रहा होगा यह भी अज्ञात है। ऐसी स्थितिमे बिना किसी अकाटच प्रमाणके **बिलहरी**का प्राचीन नाम **पुष्पावती** स्थापित कर देना या मान लेना, किसी भी दृष्टिसे उचित नही।

जिस **पुष्पावती**का माधवानल निवासी था, वह तो पूर्वदेशमे गगाके किनारे कही रही होगी, जैसा कि वाचक **कुशललाभ**के उल्लेखसे सिद्ध है। इस चौपाईमे आगे भी बीसो उल्लेख पुष्पावतीके आये है। वहाँपर गोविन्दचद राजा था, और वह हरिवशी था। बिलहरीको थोड़ी देरके लिए पुष्पावती—किवदन्तीके आधार पर मान भी लिया जाय तो भी एक आपत्ति यह आती है कि यहाँपर गोविन्दचन्द[2] नामक हरिवशीय कोई भी राजा हुआ ही नही। न बिलहरीके निकटकी नदीका ही कोई ऐसा नाम है, जो गगाके नामसे समानता रखती हो।

मैंने इन आख्यानकोंको इसी दृष्टिसे पढा है और बिलहरी तथा तत्सन्निकटवर्ती स्थानोका अन्वेषण भी किया है, वहाँपर प्रचलित रीति-रिवाजोको भी समझनेकी चेष्टा की है, परन्तु मुझे ऐसा सकेत तक नही मिला कि इन आख्यानक-वर्णित रिवाजोके साथ उनकी तुलना

---

[1] **जबलपुर-ज्योति, पृ० १५७,**

[2] **"ते हिज गंग वहइ सासती, तिण तटि नगरी पुहपावती**
गोविन्दचन्द करइ तिहाँ राज ․․․․ ।

आनन्द-काव्य महोदधि, पृ० १०,

कर सकूँ। विशुद्ध पुरातत्त्व और इतिहासकी दृष्टिसे देखा जाय तो बिलहरीका अस्तित्व कलचुरि कालसे ही ज्ञात है। इतः पूर्व इसकी स्थिति कैसी रही होगी, आवश्यक साधनोके अभावमे कुछ भी नही कहा जा सकता। पुरातन जो अवशेष बिलहरीके खडहरोमे बिखरे पड़े है, उनसे भी यही ज्ञात होता है कि १००० वर्षके ऊपर बिलहरीका इतिहास नही जा सकता। मान लीजिये यदि इत पूर्व इसका सांस्कृतिक या राजनैतिक विकास हुआ भी होता तो तात्कालिक लेखोमे या ग्रन्थस्थ उल्लेखोमे इसका नाम, किसी न किसी रूपमे अवश्य रहता। जब त्रिपुरीका उल्लेख पाया जाता है तो इतनी विस्तृत व उन्नत नगरी कदापि अनुल्लिखित न रहती।

इतने विवेचनके बाद प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पुष्पावती, बिलहरीका नाम कैसे पड़ा और क्यो पडा, यदि पुष्पावती नाम न पड़ता तो माधवानल-कामकन्दलाका सम्बन्ध भी इस नगरीसे न जुडता।

यह प्रश्न जितना सरल है उतना उत्तर सुगम नही। इसपर अधिक ऊहापोह किया जा सके वैसी साधन-सामग्री भी उपलब्ध नही है। परन्तु हाँ, धुँधला प्रकाश मिलता है, इससे कल्पना कुछ आगे बढती है। उपर्युक्त पक्तियोमे मैने तथाकथित आख्यानक हिन्दीमे भी मिलनेका सूचनात्मक उल्लेख किया है, उसमे माधवानन्द-माधवानल चलते चलते बाधवगढ (रीवाँ) आनेकी सूचना है, नर्मदा नदीके तटपर बसी **कामावतीका** व **हीरापुर**[1]का उल्लेख है। **रीवाँ बिलहरीसे** सभवत ७५ मील होगा। और हीरापुर सागर जिलेमे ५० मील उत्तरमे अवस्थित है। इसके निकट

---

[1]**बुंदेलखंडकी सीमापर है—**

रत्नाकर सागर जिला पन्ना हीराखांन
हीरा रचित सरोजहू, हीरापूरे सिरान,
सागर-सरोज, पृ० १५५,

नदी भी होनी चाहिए। एक बात और ध्यान देनेकी है, वह यह कि तरनतारण स्वामीका जन्म भी पुष्पावतीमे हुआ था, ऐसा कहा जाता है, उनका विहार प्रदेश, अधिक सागर-दमोह व बुदेलखडका भू-भाग रहा है। बिलहरी इसीके अन्तर्गत है। तारणस्वामीके अनुयायियोका मानना है कि यह वही पुष्पावती है जिसे लोग बिलहरी कहते है। वहाँ जैनोका उन दिनो—१४ शतीमे व इससे कुछ पूर्व-बहुत बडा केन्द्र था। माधवानलका बघेलखडसे गुज़रना ये सब बाते मिलजुलकर एक भ्रामक परम्परा बन गई, किन्तु तारणस्वामीके साहित्यमे ऐसी बात नही पाई जाती। उत्तरवर्ती अनुयायी-भक्तोंसे इस किवदन्तीका सूत्रपात हुआ। यह विषय काफी विचारकी अपेक्षा रखता है। हाँ, इतना मै कह देना चाहूँगा कि इस ओर तारण-परम्पराके उपासकोकी सख्या हजारोमे है।

वाचक कुशललाभने माधवानलका जो मार्ग बताया है, उसमे न तो नर्मदाका उल्लेख है और न मध्यप्रदेशके किसी भी गाँव, पर्वत और ऐसे ही किसी स्थानकी चर्चा है, जिससे उनका इस ओर आना प्रमाणित हो सके। माधवानलके हिन्दी आख्यानका कुछ मेल कुशललाभ कथासे बैठता है। राजा गोविन्दचन्द, पुष्पावती, कामावती और कामसेन, आदि नाम दोनो कथाओमे समान है। पर मार्गमे बड़ा अन्तर है। हिन्दी-आख्यान रीवाँके कामदपर्वत—कामतानाथ—चित्रकूट[1]—का उल्लेख करते है तो कुशललाभ केवल कामावतीका ही।

मुझे तो ऐसा लगता है कि यह लोककथा होनेसे प्रत्येक प्रान्तके

---

[1]यह स्थान रोवाँसे ८६ मील गहरे वनोंमे है, इसे आम्रकूट-अमरकूट भी कहते हैं, कालीदासका आम्रकूट शायद यही हो, जिला छिंदवाड़ामें भी अमरकूट नामक एक स्थान है। पर मेरी सम्मतिमें रोवां वाला स्थान अधिक युक्ति-संगत जान पड़ता है।

कवियोने अपने अपने प्रान्तोंके ग्राम, नगर, पर्वत और नदियोंके नाम जोड़ दिये होंगे, कारण कि ऐसी कथाओंका ऐतिहासिक महत्त्व प्रधान नही होता, मुख्य तो जन-रंजन रहता है।

छत्तीसगढमे डोंगरगढ़के कुछ अवशेष भी इस आख्यानके साथ जुड़-से गये है। अस्तु!

अब पुनः बिलहरी[1]के कथित माधवानल कामकन्दलाके महलकी ओर लौट चलें।

इन त्रुटित अवशेषोंको सम्यक्रीत्या देखनेसे तो ऐसा लगता है कि, यह कथित महल ढह गया है, कारण कि अवशेषोका जमाव ऐसा ही है, कुछ खम्भे एवं ऊपरकी डाँटें आज भी सुरक्षित है। इनके ऊपरसे कोसों तकका सौन्दर्य देखा जा सकता है। गिरे हुए अवशेष एव टीलेकी परिधि एक फर्लांगसे ऊपर नही है, अतः यह महल तो हो ही नही सकता। गिरे हुए पत्थरोको हटाकर जहाँतक हमारा प्रवेश हो सकता था, हमने देखा, वह महल न होकर एक देवालय था। गर्भगृहके तोरणको—जो पत्थरोमें दबा हुआ-सा है, देखनेसे तो यही ज्ञात होता है कि यह शैव मन्दिर है। नाग-कन्याएँ एव गणेशजीकी मूर्तिके अतिरिक्त शिवजीकी नृत्य मुद्राएँ तोरणकी **चौखटमे** खचित हैं। इसे शिवमन्दिर माननेका दूसरा और स्पष्ट कारण यह है कि ठीक तोरणसे ५ हाथपर विस्तृत जिलहरी पड़ी हुई है। ज्ञात हुआ कि इसमेंसे एक लेख भी प्राप्त हुआ था, जो नागपुरके संग्रहालयमें चला गया। मेरे विनम्र मतानुसार यह अवशेष उसी शैवमन्दिरके होने चाहिए, जिसे **केयूरवर्ष**की रानी **नोहलादेवीनें** बनवाया था। मंदिरके **सभा मडपके स्तंभ** व कुछ भाग बच गया है, उससे इसका प्राचीनत्व सिद्ध है। मन्दिरमें व्यवहृत पत्थर बिलहरीका रक्त प्रस्तर है। समझमें नही

---

[1]यहाँके किसी सज्जनने भी इस आख्यानको बिलहरीके महत्त्वको प्रकट करनेके लिए लिखा है, प्रकाशित भी हो गया है।

माता कि यह स्पष्टतः शैवमन्दिर होते हुए भी, **कामकन्दला** नामके साथ कैसे सम्बद्ध हो गया ।

हाथीखाना

उपर्युक्त मन्दिरके समान यह भी मन्दिरका ही ध्वसावशेष है । लोगोने इसे **कर्णका हाथीखाना** मान रखा है । यह स्थान गाँवसे एक मील, उपर्युक्त मन्दिरके मार्गमे ही पडता है । चारो ओर अच्छा हाता-सा घिरा है । सम्भव है दीवालके त्रुटित अवशेष हो । इन अवशेषोको देखनेसे यही ज्ञात हुआ कि इसका सम्बन्ध तान्त्रिक साधकोसे होना चाहिए, जैसा कि स्तम्भोपर उकेरी हुई मैथुनाकृति सूचक मूर्तियोसे ज्ञात होता है । शिखरके तीनो ओर बाह्य गवाक्षोमे स्थापित दुर्गा, सरस्वती और नृसिहकी मूर्तियाँ विद्यमान है । शिवगणका सफल अकन इन अवशेषोके स्तम्भोमे परिलक्षित होता है । पत्थर लाल है । कामशास्त्रके आसन यहाँकी तीन शिलापर उत्कीर्णित है ।

चण्डीमाईका स्थान—भी गाँवके बाहर सघन वृक्षोसे परिवेष्टित है । यद्यपि देवी मूर्तियोकी बाहुल्यताके कारण लोगोने इसे चण्डीमाईका स्थान मान रखा है, किन्तु जो मन्दिर बिल्कुल अखडित-सा है, उससे तो यही ज्ञात होता है कि यह विष्णु-मन्दिर रहा होगा, कारण कि मन्दिरकी चौखटके ठीक ऊपरके भागमे गरुडासीन विष्णु विराजमान है । दोनो छोरपर जो दो नारीमूर्तियाँ है, वे महाकोसलकी नारी-सौन्दर्यकी शृगारिक तारिका है, दोनो नारियाँ दर्पणमे अपने सौन्दर्यको देख रही है । मुखमुद्रापर सन्तोषकी रेखा व नारी चाञ्चल्य हृदयको स्पदित कर देता है । सर्वथा अखडित मन्दिर न जाने आज क्यो उपेक्षित है । इसके आगे विष्णु, शैव एवं तान्त्रिक मूर्तियोका ढेर लगा है । तत्समीपवर्ती एक वृक्षके नीचे भी मूर्तिखड पड़े है ।

उपर्युक्त मदिरोके अतिरिक्त दर्जनो मुगलकालीन मन्दिर सारे गाँवमें

—गली-गलीमें फैले हुए है। कुछेकमें घरतक बस गये है। कई मन्दिरोंके प्रस्तरोसे गृहोका निर्माण तक हो गया—हो रहा है, सभव है भविष्यमे भी यह परम्परा जारी रहे। इन मन्दिरोकी संख्यासे तो ऐसा लगता है कि मुगल कालमे भी बिलहरी उन्नतिके शिखरपर थी।

मूर्तियें

इसे मूर्तियोंकी नगरी कहा जाय तो लेशमात्र भी अत्युक्ति न होगी, क्योकि सैकडो सख्यामें यहाँपर प्राचीन प्रतिमाएँ पाई जाती है। बिलहरी, कलचुरिशैलीकी मूर्तिकलाका चलता-फिरता सग्रहालय है। मै लगातार पाँच दिनोतक सभी गलियोमे कई बार खूब घूमा, पर कोई स्थान ऐसा न मिला, जहाँपर एक या अधिक मूर्तियोका सग्रह न पडा हो। बहुत कम घर ऐसे मिले जिनकी दीवाल या आँगनमे मूर्तियाँ न लगी हो। यहाँतक कि कुछ सुनारोकी सीढियोतकमें मूर्तियाँ लगी हुई है। सरोवरके किनारे **खैरदैयाके** मन्दिरके पास तो एक दर्जनसे अधिक अखडित मूर्तियाँ उलटी गडी है। चबूतरोमे, वृक्षोके निम्न भागमे दर्जनो मूर्तियाँ पडी है। इनकी सुधि नवरात्रमे ही ली जाती है। इन मूर्तियोमे जैन, बौद्ध, शैव और वैष्णव—सभी सम्प्रदाय परिलक्षित होते है। कुछ-एक कलाकी साक्षात् प्रतिमा ही है। नगरमे बहुत स्थानोंपर जो हाते बनाये गये है—उनमें भी स्थापत्यके अच्छे-अच्छे प्रतीक लगे हुए हैं। यहाँके लोग कहते है कि बिलहरीका कोई पत्थर ऐसा नही, जो खुदा न हो। इस कथनमें भले ही अतिशयोक्ति हो, पर असत्याश तो अवश्य ही नही है।

गणेशजीकी अतीव सुन्दर कई मूर्तिये बाजारकी **खैरमाईके** स्थानपर है। मेरा तो पाँच दिनका ही अनुभव है, पर यदि स्वतन्त्र रूपसे यहाँपर अध्ययन एवं खुदाई करवाई जाय तो, और भी महत्त्वकी कलात्मक सामग्री मिल सकती है। आश्चर्य तो मुझे **पुरातत्त्व विभागके** उन उच्च वेतनभोगी कर्मचारियोपर होता है—जो जनतासे महावेतन

पाते है--जिन्होंने इतनी महत्त्वसम्पन्न कलाकृतियोकी घोरतम उपेक्षा की और आज भी कर रहे हैं । यदि वे ज़रा परिश्रम करते और कमसे कम चुनी हुई विभिन्न मूर्तियाँ, विष्णुवराह मन्दिरके हातेमे ही रखवा देते तो, उनकी सुरक्षा भले ही न हो, पर सौदागरो द्वारा बाहर जानेसे तो बच ही जाती ! जो मूर्तियाँ मन्दिरके चौतरेपर रखी है, उनसे कई गुनी अधिक सुन्दर पूर्ण मूर्तियाँ और अवशेष अरक्षित दशामे पडे हैं । यहाँका मार्ग दुर्गम होनेसे कुछ महत्त्वकी व पूर्ण वस्तुएँ बच भी गई है, चूकि सौदागरोमे इतना नैतिक साहस नहीं कि बडी चीजे जनताकी आँखोमे धूल झोककर ले जा सके ।

बिलहरीमे दो-तीन और भी ऐसी चीजे है जिनके उल्लेखका लोभ सवरण नही किया जा सकता ।

वापिकाएँ

प्राचीन कालमे वापिकाएँ निर्माणकी प्रथा बहुत प्रचलित थी। भारतमें सर्वत्र हजारो पुरानी बावलियाँ मिलती है । मुक्तोमे इसकी भी परिगणना की गई है । राहीको इनसे बडी शान्ति मिलती है । जहाँ जल कष्ट अधिक रहता है, वहाँकी जनता इसका अनुभव कर सकती है । यद्यपि महाकोसलमे वापिका-निर्माणविषयक प्राचीन लेख नही मिले हैं, पर वापिकाएँ सैकडो मिलती है । इन सभीमे किनकी आयु कितने वर्षकी है, इसका निर्णय तो दृष्टिसम्पन्न अन्वेषक ही कर सकता है । मेरा तो भ्रमण ही सीमित भू-भागमे हुआ है, अत· इस विषय मे अधिक प्रकाश नही डाल सकता । हाँ, कुछेक वापिकाएँ मैंने मध्यप्रदेशमें अवश्य देखी है । इनमे **गोसलपुर**, भद्रावती, आमगाव, **पनागर, तेवर, सिहोरा, चोरबावड़ी** आदि मुख्य है । मै प्रथम ही कह चुका हूँ कि महाकोसलके कलाकार बडे सजग और अग्रसोची थे, उनकी कला **"कलाके लिए कला"** ही न थी **जीवनके लिए भी थी** । उन्होने जल

द्वारा तृपा शान्तिके अर्थतक वापिकाकी उपयोगिता सीमित न रखी, प्रत्युत शान्तिके बाद कुछ प्रमाद आना स्वाभाविक है, अतः विश्राम-सयोजना भी साथ रखी। तात्पर्य महाकोसलकी वापिकाओमे विश्रान्ति स्थान भी बनाये जाते थे। विन्ध्य-प्रान्तमे भी यही शैली रही थी। मैहरकी वापिका इसका उदाहरण है। बिलहरीमे मुझे दो सुन्दर वापिकाएँ देखनेको मिली, दोनो ग्राममे ही है। तालाब और नदीके कारण आज उनकी कुछ भी उपयोगिता नही रह गई है। पर जब उष्णता बढती है, तब इनकी उपयोगिताका अनुभव होता है। जलकी गरजसे नही पर तज्जनित शीतके लिए। दोपहरकी धूपसे बचनेके लिए लोग इनमे विश्राम करते है। क्योंकि एक तो दुमजिली है। विश्रान्ति एव जलग्रहणके स्थानका मार्ग ही पृथक् है, इसमे सैकड़ो व्यक्ति आराम कर सकें, ऐसी व्यवस्था है। बाहरसे तो वापिका सामान्य-सी जचती है पर भीतरसे महल ही समझिये। ऐसी वापिकाएँ खास राजा-महाराजाओंके लिए बना करती थी। ऐसी वापिकाओमे अन्धकार इतना रहता है कि दिनको एकाकी जाना कम सभव है। मैंने इस वापिका का द्वार भी काफ़ी छोटा पाया, बद भी किया जा सकता है। आध्यात्मिक चिन्तन और लेखनके लिए इससे सुन्दर दूसरा स्थान बिलहरीमे तो न मिलेगा। जल हरा हो गया है। यह वापिका भी उत्तम कलाकृति है। एक वापिका मठसे सटी हुई है। साधारण है। पर इसकी निर्माणशैली देखने योग्य है। इसके जलसे खेतकी सिचाई होती है।

कुंड—यहाँपर जलके दो कुड भी है। इनके साथ भी कई किंवदन्तियाँ जुडी हुई है। इनकी विशेषता यह है कि इसका जल कभी भी समाप्त नहीं होता—कितने ही मनुष्य क्यो न आ जायँ। कुडका तलिया साफ दिखता है। शायद नपी-तुली कोई झीर आती होगी। यहाँ पिडदान भी होता है। मेरा तात्पर्य **भैसाकुंड**से है। किसी समय यह बिलहरी के मध्य में था।

मधुछत्र—यहाँकी विशेष कलाकृति है, मधुछत्र, जो **चंडीमाईके**

स्थानसे थोडी दूरपर अवस्थित है। कुछ और भी गढे-गढाये पत्थर पडे हुए है। मधुछत्र एक वृक्षके सहारे खडा किया हुआ है। इसकी लम्बाई-चौडाई-मुटाई देखकर आश्चर्य होता है। पूरा पट्ट ९४+९४ इच है। इसमे ५०+५० भाग अलंकृत है। ७+७ कर्णिका है। मध्य भागमे अत्यन्त सुन्दर कमलाकृति बनी हुई है। इस आकृतिको समझनेके लिए इसे चार भागोमें विभक्त करना होगा। प्रथम कमल १३+१३ दूसरा २०+२० तीसरा २९+२९ और चौथा ३८+३८ है। सम्पूर्ण पट्टकके मध्य भागमे इस प्रकार शोभायमान है। चारो ओर नक्काशीका अच्छा काम है। ९ इच तो इसकी मुटाई ही है। अनुमान किया जा सकता है कि इसका वजन कितना होगा। वहाँके लोगोंका कहना है कि पहले तो यो ही पडा हुआ था। बादमे जब खडा किया तब २०० मनुष्योका बल लगा था। निस्स-देह महाकोसलकी यह महान् कलाकृति है। प्रान्तमे जितने भी अवशेष और स्थापत्य मैंने देखे, उनमे मधुछत्र नही था। अत यह प्रथम कृति तबतक समझी जानी चाहिए, जब और प्राप्त न हो जाय। यह बिलहरीके ही किसी प्राचीन मदिरकी छतमे लगा होगा। इसकी कोरनी, पत्थर व रचनाशैलीसे मेरा तो यह मत स्थिर हुआ कि हो न हो यह कामकन्दलाके नामसे सम्बद्ध शैव-मंदिरकी छटाका ही भाग होगा, क्योकि वर्तमान स्तभाकृति-रचना व जो गर्भगृह वहाँपर है वह ९०-९० इचसे कुछ कम ही लम्बा चौडा है। सरकारको चाहिए कि इस सर्वथा अखंडित कला-कृतिका समुचित उपयोग करे। कमसे कम सुरक्षाकी तो व्यवस्था करे ही। क्योकि लाल चिकना प्रस्तर होनेके कारण ग्रामीण इसपर शस्त्र पनारते रहते है।

मैंने मध्यप्रान्तीय सरकारके भूतपूर्व **गृहमंत्रीका** ध्यान इस ओर आकृष्ट करते हुए सुझाया था कि जबलपुरके **शहीद स्मारकमें** जो आश्चर्यगृह बनने जा रहा है—इसीमे मेरा सग्रह भी रहेगा—उसकी छत्तमे इसे लगा दिया जाय। पर, **मन्त्रियोंको सास्कृतिक सुझ बोकी क्या परवाह रहती है !**

इतनी विस्तृत शिल्प सामग्रीसे स्पष्ट होता है कि आजका यह ग्राम, कलचुरियोके समयमे शिल्पसाधनाका अच्छा केन्द्र था, या कलचुरि शिल्प परम्पराके तक्षक यहाँ पर्याप्त सख्यामे रहकर, अपनी साधना करते रहे होंगे। कारण यहाँसे पहाड़ समीप ही है और यहाँकी कृतियोमें बिलहरीका लाल पत्थर ही अधिकतर व्यवहृत हुआ है। बिलहरीकी ओर शोधकोको ध्यान देना चाहिए।

कामठा

गौदियासे बालाघाट जानेवाले मार्गपर **बंगेरीके टोलेसे** इसका मार्ग फूटता है। युद्धकालमे वायुयानोका यह विश्राम स्थान था। पर बहुत कम लोग जानते है कि इतिहास और शिल्पकलाकी दृष्टिसे भी **कामठाका** महत्त्व है। यद्यपि यहाँपर वास्तुकलाकी उपलब्ध सामग्री अधिक तो नहीं है, और न बहुत प्राचीन ही है,पर जो भी है, उनका अपना महत्त्व है। पुरातन शिल्पकलाकी कड़ियोंको समझनेके लिए इनकी उपयोगिता कम नही। कामठाके विद्यालय के उत्तरकी ओर १॥ फर्लांगपर उत्तराभिमुख एक शैव-मन्दिर है। दूरसे तो वह साधारण-सा प्रतीत होता है। निकट जानेपर ही उसके महत्त्वका पता चलता है। यद्यपि वह तीन सौ वर्षोंसे ऊपरका नही जान पडता, जैसा कि उसकी रचना शैलीके सूक्ष्मावलोकनसे परिज्ञात होता है, पर इसमे पुरातन शैलीका अनुकरण अवश्य किया गया जान पड़ता है। मन्दिरकी नीव ऊपर हीसे स्पष्ट दिखलाई पडती है। ऐसा लगता है, जैसे मजबूत चौतरेके ऊपर ही इसका अस्तित्व हो। मन्दिर सभामण्डप सहित ३३ × २० फ़ीट (लम्बा चौड़ा) है। सभामण्डप २० × १६ फ़ीट है। मध्य भागकी लम्बाई-चौड़ाई ११ × ८ फ़ीट है। नींव और सभामण्डपके बाह्य भागमे जो पत्थर लगे है, वे मेगनीज है। मण्डपके ठीक मध्यभागमे नादिया है। सभामण्डप दश स्तम्भोपर आधृत है।

मन्दिरका बाह्य भाग भीतरकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण व सौन्दर्य

सम्पन्न है। अग्रभागकी ऊपरवाली दोनों पट्टियोपर दशावतार व शैव-चरित्रसे सम्बन्धित घटनाओंका सफलांकन है। तीनों ओर जो आकृतियाँ खचित है वे भारतीय लोकजीवन और शिवजीकी विभिन्न नृत्य मुद्राओंपर प्रकाश डालती है। शिवगण भी अपने-अपने मौलिक स्वरूपोमे तथा-कथित पट्टियोपर दृग्गोचर होते है। साथ ही **कामसूत्र**के २० से अधिक आसन खुदे हुए है। कुछ खण्डित भागोसे पता चलता है कि वहाँ भी वैसे ही आसन थे, जैसा कि बची-खुची रेखाओंसे विदित होता है। पर धार्मिक रुचिसम्पन्न व्यक्ति द्वारा, वे नष्ट कर दिये गये है। बाह्य भागकी सबसे बड़ी विशेषता मुझे यह लगी कि प्रत्येक कोणोपर एक नान्दीका, इस प्रकार अंकन किया गया है कि दोनों दीवालोमे उनका धड है और मस्तक मिलनेवाले कोणोंपर, एक ही बना है[1]। कलाकारकी कल्पना इन कृतियोंमें झलकती है, उसके हाथ, काम करते थे, पर हृदयमे वह शक्ति नही थी जो रूप-शिल्पमें प्राण सचार कर सके।

मन्दिरके निकट ही पुरातन बापिकाके खण्डहर है। ऐसा ही एक और शैव मन्दिर पाया जाता है।

यहाँके भूतपूर्व जमीदार लोधीवंशके थे। किसी समय कामठा, अपनी विस्तृत जमीदारीका मुख्य केन्द्र था। **भण्डारा गैजिटियर**से ज्ञात होता है कि यहाँपर भी सन् ५७के विद्रोहकी चिनगारियाँ आ गई थी। कामठाका दुर्ग यद्यपि दो सौ वर्षोसे अधिक पुराना है, पर ऐसा लगता है कि उसका निर्माण प्राचीन खण्डहरोके ऊपर हुआ है। जमीदारीके वर्तमान

---

[1] दो धड़ोंके बीच एक पशुकी आकृति बनानेकी प्रथा कलचुरियोंके बादकी जान पड़ती है, कारण कि इस प्रकारकी दो-एक आकृतियाँ धन्सौर (म० प्र०)में पाई गई हैं और एक सिवनी (म० प्र०)के वलसागरके घाटमें लगी हुई है। ये अवशेष १४वीं शताब्दीके बादके जान पड़ते हैं, क्योंकि इनमें न तो गोंड प्रभाव है और न कलचुरियोंके शिल्प वैभवके लक्षण ही।

व्यवस्थापक **बाबू तारासिंहजी** बता रहे थे कि एक समय किसी कार्यवश दुर्गके एक भागको तुडवाना पडा था। उस समय इसकी नीवमे मन्दिरके अवशेष निकले। जब इन अवशेषोको हटानेकी चेष्टा की गई, तो ज्ञात हुआ कि इनके नीचे एक और ध्वस्तगृह अवस्थित है। इसमे कुछ मुद्राएँ भी थीं। कुछेक मूर्तियाँ भी निकली थी। उनमेसे नमूनेके बतौर कुछ अपने क़िलेके बडे फाटकके दाहिनी ओर दीवालसे सटाकर रखी हुई है। एक प्रतिमा दशावतारी विष्णुकी है। कलाकी दृष्टिसे यह मूर्ति बहुत ही सुन्दर है। कटनीकी विष्णुमूर्तिसे इसकी तुलना की जा सकती है।

भडारा जिलेमे **नागरा पद्मपुर** और **लंजिका**—(लाँजी) आदि स्थानोपर हिन्दूधर्म मान्य कलावशेषोकी उपलब्धि होती है। कुछेक स्थान पुरातत्त्व विभाग द्वारा सुरक्षित भी है।

छत्तीसगढ़

इस भू-भागमें रायपुर, बिलासपुर, रायगढ़ जगदलपुर और द्रुग आदि जिले सम्मिलित है। स्वतत्र जो राज्य थे, उनका इन जिलोमे अन्तर्भाव कर दिया गया है। आजका यह उपेक्षित छत्तीसगढ़, किसी समय सस्कृति और सभ्यताका पुनीत केन्द्र था। स्पष्ट कहा जाय तो आदि-कालीन मानव सभ्यता इस वन्य भू-भागमे पनपी थी। अरण्यमे निवास करनेवाली ४५से अधिक जातियोको आजतक, इस प्रदेशने, सुरक्षित रखा है। उनके सामाजिक आचार व व्यवहारमें, भारतीय सस्कृतिके वे तत्त्व परिलक्षित होते है, जिनका उल्लेख **गृह्यसूत्रोंमे** आया है। इनके संगीत विषयक उपकरण, आभूषण व नृत्य परम्परामे आर्य सस्कृतिकी आत्मा चमकती है। यहाँपर सुसस्कृत कलाका विकास भले ही बादमे हुआ हो, पर आदि मानव सभ्यता व लोक शिल्प एव ग्रामीण रुचिके प्राकृतिक-प्रतीक बहुतसे मिलते है। इनमे पुरातत्त्वका इतिहास और मूर्तिकालके बीज खोजे जा सकते है। इनके रहन-सहन और त्योहारोमे जो सांस्कृतिक तत्त्व पाये

जाते है उनका वैज्ञानिक अध्ययन अपेक्षित है। **फादर एल्विन,** व स्व० डा० **इन्द्रजीतसिंहने** इस दिशामे कुछ प्रयत्न किया है। नृतत्त्व शास्त्रीय दृष्टिसे भी इनकी उपयोगिता कम नही।

छत्तीसगढ नाम सापेक्षत: अर्वाचीन जान पडता है। शिलालेख या ग्रन्थस्थ वाङ्मयमें इसका नामोल्लेख नही है। कुछ लोग **चेदीशगढ़का** रूपान्तर छत्तीसगढ मानने लगे थे, पर इस मान्यताके पीछे समुचित व पुष्ट प्रमाण नही है। **छत्तीसगढ़ोंके** आधारपर भी इस नाममें सार्थकता खोजे, तो भी निराश होगे। गढ़-सख्या ज्यादा-कम मिलती है। इस भू-भागका प्राचीन नाम **कोसल** था। इसका इतिहास ईस्वी पूर्व ७०० तक जाता है। महा-वैयाकरण **पाणिनिने** अपने व्याकरणमें कोसलका निर्देश किया है। भाष्य-कारोंने यह उल्लेख दक्षिण कोसलके लिए माना है। आगे चलकर कोसल दो भागोमे विभक्त हो गया। उत्तरकोसलकी राजधानी **अयोध्या** और दक्षिण कोसल, जिसे आज महाकोसलकी सज्ञा दी जाती है, वह मध्य-प्रदेशका एक भाग था। रामायण-कालमे दक्षिण कोसलका व्यवहार छत्तीसगढके भू-भागको लक्षित कर, किया गया जान पड़ता है। गुप्त-कालमे दक्षिण कोसल, जो पूर्व सूचित भाग ही गिना जाता था, पर उत्तर-कोसल सापेक्षित रूपसे त्रिपुरीका निकटवर्ती प्रदेश माना जाने लगा था। समुद्र-गुप्तकी प्रयागस्थित प्रशस्तिमे **कोसलकमहेन्द्रराज महाकान्तारक व्याघ्रराज** ये शब्द अकित है। इनसे ज्ञात होता है कि उन दिनों दक्षिण कोसल महाकान्तार नामसे विख्यात था और वहाँ व्याघ्रराज शासन करता था। यह कौन था ? एक समस्या है। गुप्तलेखसे ज्ञात होता है कि यह वाकाटक **पृथ्वीषेण** प्रथमका पादानुध्यात **व्याघ्रदेव**[1] था। **डाक्टर भाण्डारकर** इसके विपरीत **उच्चकल्पके** राजा **जयन्त** (ईस्वी सन्

---

[1] **वाकाटकानां महाराज श्रीपृथ्वीषेण पादानुध्यातो व्याघ्रदेवमाता पित्रोः पुण्यार्थम्—**गु० ले० नं० ५४,

४२३)का पिता था और वह वाकाटकोकी अधीनतामें मध्यप्रदेशमें शासन[1] करता था।

गुप्त-लेख वर्णित अष्टादश अटवीवाला प्रदेश भी मध्यप्रदेशके ही निकट पडता था। मुसलमान-तवारीखोमे, इस ओर गोड़ोकी सख्या अधिक होनेके कारण, इसे **गोड़वाना** नामसे सम्बोधित किया गया है। **लक्ष्मीवल्लभने** अपने **देशान्तरीछन्दमे** छत्तीसगढके सामाजिक व धार्मिक वन्य प्रथाओकी चर्चा की है, पर उसमे भी छत्तीसगढका उल्लेख न होकर **गोड़वाना** उल्लिखित है। ये कवि १८वी शताब्दीके जैनमुनि है। कुछ लोग **छत्तीसगढ़को** अग्रेज़ी शासनकी देन मानते है, पर मै नही मानता, कारण कि एक जैनविज्ञप्ति पत्र सवत् १८१६का उपलब्ध हुआ है जो रायपुरसे लिखा गया है, उसमे छत्तीसगढ़ नाम पाया जाता है। तात्कालिक जैन व्यक्तियोके पत्रव्यवहारमे भी यही नाम व्यवहृत हुआ है, जब कि अग्रज़ोने प्रान्तवार विभाजन तो सन् ५७की गदरके बाद किया है।

डोंगरगढ़की बिलाई

डोंगरगढ़ गोंदियासे कलकत्ते जानेवाले रेलवे मार्गपर लगभग ४० मील है। स्टेशनके समीप ही छोटी-सी पहाडी दृष्टिगोचर होती है जिसपर बमलाई-बिमलाईका स्थान बना हुआ है। यद्यपि शक्तिके ५२ पीठोमे इसकी परिगणना नही की गई, है, पर छत्तीसगढकी जनता इसे अपने प्रान्तका सिद्धपीठ मानती है। पहाडीके ऊपर जो स्थान विद्यमान हैं व मूर्ति विराजमान है, उसपर से न तो उसकी प्राचीनताका बोध होता है, एव न उसकी मूलस्थितिका या देवीके स्वरूपका ही पूर्ण पता चलता है, कारण कि किसी भक्त द्वारा देवीकी मढिया जीर्णोद्धृत हो चुकी है।

[1] इं० हि० क्वा० भा० १, पृ० २५१,

वस्तुतः यह बमलाई, बिलाईका सस्कृत रूप जान पड़ता है। यह **मैना** जाति-की कुलदेवी है[1]। इसपर मैं अन्यत्र विस्तारसे विचार कर चुका हूँ[2]। अतः यहाँ पिष्टपेषण व्यर्थ है।

तपसीताल

उपर्युक्त पहाड़ीके ठीक पीछेके भागमे **तपसीताल** नामक लघु, पर सुन्दर व स्वच्छ सरोवर है। इसीको लोग तपसीताल कहते है। इसीके तटपर एक पक्का वैष्णव-मन्दिर बना हुआ है। इसे तपस्वीआश्रम कहते है। पुरातत्त्वसे इस स्थानका सम्बन्ध न होते हुए भी सकारण ही, मैं इसका उल्लेख कर रहा हूँ, वैष्णव परम्पराका किसी समय यह केन्द्र था। छत्तीसगढ़ प्रान्तमें आजसे दो सौ वर्ष पूर्व सापेक्षत. शाक्त परम्परा पर्याप्त रूपमे विकसित थी, उसे रोकनेके लिए वैष्णव परम्पराने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये है, वे छत्तीसगढके सास्कृतिक इतिहासमें उल्लेखनीय समझे जावेगे। यहाँ किस व्यक्ति द्वारा उपर्युक्त परम्पराका सूत्रपात हुआ, यह तो कहना कठिन है; पर इतना निश्चित है कि धर्मदासके इस ओर आनेके पूर्व वैष्णवोकी स्थिति पर्याप्त दृढ़ हो चुकी थी, बल्कि उनके स्वतन्त्र राज्य भी इस ओर कायम हो चुके थे।

'तपसी आश्रम'की जो वशावलि मुझे प्राप्त हुई है वह इस प्रकार है—

बाबा हनुमानदासजी
|
बाबा निर्मलदासजी
|

---

[1]धमतरी (जि० रायपुर) में भी बिलाई माताका स्थान है। किसी समय यहाँ नरबलि होती थी, बकरे तो अभी भी कटते हैं। माघमें मेला लगता है। छत्तीसगढ़में बिलाईगढ़ नामक एक दुर्ग भी है,

[2]मुनि कान्ति सागर—"मेरी डोंगरगढ़ यात्रा",

बाबा लालदासजी
|
बाबा द्वारिकादासजी
|
बाबा गोदावरीदासजी
|
बाबा जयकृष्णदासजी
|
महन्त श्री मथुरादासजी (वर्तमान)

'बाबा हनुमानदासजी'ने आश्रमकी नीव डाली। बाबा लालदासजीने समयकी गतिको देखते हुए, आश्रमके व्यय चलानेके लिए कुछ भूमि खरीदकर, आश्रमके नामपर कर दी, इसीसे यहाँ आनेवाले प्रत्येक अतिथिका बिना भेदके उचित स्वागत होता है। वर्तमान महन्त **श्री मथुरादासजी** बड़े योग्य और गुणग्राही सन्त हैं। आश्रमका प्राकृतिक सौन्दर्य प्रेक्षणीय है। तीनों ओर पहाडी लगी हुई है। आध्यात्मिक साधकोंके लिए यह स्थान अनुपम है। तपसी तालाबमे जल इसलिए स्वच्छ रह सका कि न तो यहाँ, साधुओं को छोड़कर कोई स्नान कर सकता है, न मछलियाँ ही पकड़ी जाती हैं। छत्तीसगढमे यह एक ही ऐसा जलाशय देखा, जहाँ मछलियोको पूर्णतया अभयदान मिलता है। किसी कविने तपसी आश्रमकी महिमा इन शब्दोंमे गाई है--

शार्दूलविक्रीडित

मध्यप्रान्तविचित्ररम्यभवनं, षटत्रिंशद्दुर्गाख्यया
डोंगरदुर्ग प्रसिद्ध नामनगरे, सान्निध्य शुभ मन्दिरम्।
याम्ये कूलविनिर्मितेनरम्यम्, तपसीश्रमे माश्रायं
प्रख्यातं बहुभिर्जनैश्च हृदयं रामाय तस्मै नमः ॥

इन्द्रवज्रा

तपसीश्रमेनिर्मितेऽरण्यमध्ये, चतुर्दिकंशोभितपुष्पवृक्षैः
नाना मृगाकीर्णलताप्रसूनैः पुरातनो मानसरोवरः स्यात् ॥१॥

प्राची दिशा सुन्दरभृंगशैलं, तस्योपरिस्थित्यच आद्य शक्ते,
हिमालयो पूर्व गुहा च निर्मित्ता, तपस्विना श्रेष्ठ वसन्ति तत्र वै ॥२॥
सर्वेषु वर्णाऽधिपचार शालिनः, प्रपूज्यते रामसशक्ति सानुजैः,
धर्मव्रती धीर च ब्रह्मचारिणः, अधीत्य मस्तोत्र च धीवाग्वरैः ॥३॥

अनुष्टुप

निवसन्ति सदाचारो युक्तस्य सच् वैष्णवा ।
महन्त मथुरादासस्य श्रीमंतः शक्ति शालिनः ॥

रायपुर

छत्तीसगढका मुख्य नगर है। इसके प्राचीन इतिहासपर प्रकाश डाल सके, वैसी सामग्री अन्धकारके गर्भमे है। पर ऐसा ज्ञात होता है कि रतनपुरके कलचुरियोकी एक शाखा 'खलारी'मे स्थापित थी। उसी शाखाका नायक 'सिहा'ने खलारीसे, अपनी राजधानी रायपुर परिवर्तित कर दी। खलारीमें ब्रह्मदेवका एक शिलोत्कीर्ण लेख भी प्राप्त हुआ था, जो अभी नागपुर म्यूजियममे सुरक्षित है। लेखकी तिथि १४०१ ईस्वी पडती है। **ब्रह्मदेव, सिहाका** पौत्र था। अत. निस्सन्देह रायपुरकी स्थापना चौदहवी सदीके अन्तिम चरणमे हुई होगी। यहाँ एक किला भी पाया जाता है जिसमे कई मन्दिर है। किलेके दोनो ओर **बूढ़ा** और **महाराजबंध** नामक दो सरोवर है। 'महामाया'का मन्दिर यही है। किसी समय किलेमें रहा होगा

यहाँ यो तो कई हिन्दू मन्दिर है, पर सबमे **दूधाधारी महाराज**का मन्दिर व मठ अति विख्यात व सापेक्षतः प्राचीन है। अनजानको तो ऐसा लगेगा कि यह मन्दिर रायपुर बसनेके पूर्वका है, पर वैसी बात नही है, कारण कि पुरातन जितने भी अवशेष मन्दिरमे लगे है, वे श्रीपुर—सिरपुरसे लाकर, यहाँ जमा दिये है। कुछ स्तम्भ जिन दिनो पत्थरोमे संस्कृति और सभ्यता देखनेकी दृष्टिका विकास नही हुआ था, उन दिनो

इनका कुछ भी मूल्य न था। शिल्पकलाकी दृष्टिसे अनुपम है, जिनपर अत्यन्त सूक्ष्म कारीगरीके साथ गणेश, वराहावतारादि की विशाल मूर्तियाँ उत्कीर्णित हैं। सौभाग्यसे यह स्तभ अखण्डित और कलाका ज्वलन्त उदाहरण है। आवश्यकतासे अधिक सिन्दूरका लेप कर देनेसे कलाकी एक प्रकारसे हत्या हो गई है। शिखरके निम्न भागमे रामायणसे सम्बन्धित शिल्प उत्कीर्णित है, जो प्राचीन न होते हुए भी सुन्दर है। प्रदक्षिणामे नृसिहावतार आदि तीन प्रतिमाए गवाक्षमे प्रतिष्ठित है, जो कलाकी साक्षात प्रतिमा-सी विदित होती है। ये सिरपुरसे लाई गई थी। यहाँ एक वस्तु सर्वथा नवीन और सम्भवत अन्यत्र दुर्लभ है। वह है रामचन्द्रजीके मन्दिरके एक स्तम्भपर एक महन्त और **चिमनाजी** भोसलेका चित्र, जो इतिहासकी दृष्टिसे अमूल्य है, परन्तु वर्तमान महन्तजीकी अव्यवस्थाके कारण वर्षा-ऋतुमे यों ही नष्टभ्रष्ट हो रहा है। सुरक्षा वाञ्छनीय है।

मठकी स्थापनाका इतिहास तो अज्ञात है, पर ऐसा समझा जाता है कि भोंसलोके समयमे **दूधाधारी** महाराजने, प्रान्तमे वैष्णव परम्पराके प्रचारार्थ इसकी स्थापना की थी, राज्याश्रय भी इसे प्राप्त था। १२ गाँव माफी थे। दूधाधारी आयुर्वेदके भी विद्वान् व सेवाभावी सत थे। तात्कालिक रायपुरकी सास्कृतिक चेतनामे इनका प्रमुख भाग था। यहाँपर पुरातन ग्रन्थोका अच्छा सग्रह है। इस मठका इतिहास भी स्फुट हस्तलिखित पत्रोमे है, पर महन्तजीकी सुस्तीसे दबा हुआ है। **राजीम**के निकट **धमनी** ग्राम है, जहाँपर इस मठके पुरोहित रहते थे। इनके परिवारवालोंके पास पुरानी सनदे बहुत ही उपयोगी है। किन्तु न तो वे किसीको बताते हैं न स्वय पढनेकी योग्यता ही रखते हैं। दूधाधारी मठके वर्तमान महन्त **वैष्णवदासजी** सरल स्वभावके है। **श्री नन्दकुमार** दानीके घरमे १८वी शतीका एक लेख दीवारमे लगा हुआ है। सुना जाता है कि प्रस्तुत लेख महामायासे सम्बन्धित है। बूढेश्वर महादेव-मन्दिरके वटवृक्षके निम्न भागमें एव एक मन्दिरमे बहुत-से देव-देवियोके आकार-सूचक शिल्प है, जिनमें

कतिपय **कामसूत्रके** विषयको स्पष्ट करनेवाले भी है। यहाँपर पुरानी बस्तीमे एक और मठ है जिसके व्यवस्थापक **महन्त लक्ष्मीनारायणदास जो एम० एल० ए०** है। इनकी पटुतासे मठकी व्यवस्था ठीक चलती है। यहाँके अद्भुतालय'मे सिरपुर व खलारीके कुछ लेख और प्रतिमाएँ है। दो मूर्तियाँ शुद्ध गौड-राजपुरुषकी प्रतीत होती हैं। हाथी-दाँतपर कृष्ण-लीला मराठा क़लमसे अकित है। ये चित्र बड़े सजीव मालूम होते है। पुरातन लेखोंकी छापे व पुरातत्त्व विषयक, अन्यत्र दुष्प्राप्य ग्रन्थ भी है। सन् १९४५मे जब मै रायपुरमे था तब वहाँ के उत्साही जिलाधीश रा. ब. श्रीयुत **गजाधरप्रसादजी तिवारीने** इसके विस्तारपर कुछ कदम उठाये थे, कुछ नवीन ताम्रपत्रोका सकलन भी आपने करवाया था, मुझे भी आपने अपनी शोधमे खूब मदद दी थी। रायपुरमे **रामरत्नजी** पाडेयके पास पुरातन ताम्रपत्रोका सामान्य सग्रह है। धमतरीमे भी १८वी शतीका एक राम-मन्दिर है, जिसके स्तम्भ बड़े सुन्दर और कलापूर्ण है।

आरंग

रायपुरसे सम्बलपुर जानेवाले मार्गपर २२वे मीलपर है। आरगकी व्युत्पत्ति **मयूरध्वजसे** मानी जाती है। वस्तुतः आरग नामक वृक्षसे ही इसका नामकरण उचित जान पड़ता है। क्योकि इस ओर वृक्ष-परक ग्रामके नाम उचित परिमाणमे पाये जाते है। यहाँ पुरातन शिल्पकलाका भव्य प्रतीकसम जैन मन्दिर तो है ही। साथ ही हिन्दू धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरातन मन्दिर व अवशेष यत्र-तत्र सर्वत्र बिखरे पाये जाते हैं और आवश्यकता पडनेपर, जनता द्वारा गृहनिर्माणमे भी इन पत्थरोंका खुलकर उपयोग हो जाता है—हुआ है। पुरातन मन्दिरोमें महामाया-का मन्दिर उल्लेखनीय है। यद्यपि इसकी स्थिति बहुत अच्छी तो नहीं

'यह आश्चर्यगृह राजनांदगांवके राजा घासीदासने बनवाया था,

है, पर प्राचीनताके कारण अध्ययनकी वस्तु अवश्य है। मन्दिर सामान्य जगलमे पडता है। सभामण्डप पूर्णत खण्डित हो चुका है। गर्भगृहमे बहुतसे अवशेष पडे हुए है। महामायाके नामसे पूजी जानेवाली प्रतिमा बहुत प्राचीन नही जान पडती। मन्दिर चपटी छतका है। इसकी शिल्प-कला व निर्माणपद्धतिको देखनेसे ज्ञात होता है कि, ग्यारहवीसे बारहवी शतीके बीच इसका निर्माण हुआ होगा, क्योकि उन दिनो शैव तान्त्रिकोका प्रभाव, रायपुर जिलेमे अत्यधिक था। शकरके विभिन्न तन्त्रमान्य स्वरूपोका मूर्तरूप आरगके अवशेषोमे विद्यमान है। आज भी नवरात्रमें कुछ साधक, साधना करते है। मन्दिरके सम्मुख ही सैकडो वर्ष पुराना वृक्ष है, जिसकी खोहम धन गडा हुआ है, ऐसी किवदन्ती प्रसिद्ध है। अर्थ-लोलुपोने खनन भी किया, पर असफल रहे।

नारायण तालपर बहुतसी मूर्तिया पडी हुई है, जिनमे दो विष्णु मूर्तियाँ उल्लेखनीय है।

यहाँ दो ताम्रशासन भी प्राप्त हुए है, इनमे एक **राजर्षितुल्यकुल**[1]का है जिसकी तिथि ६०१ ईस्वी पडती है। इस ताम्रपत्रको बारह दिसम्बर १९४५को मै स्वय देख चुका हूँ। सभव है इस कुलकी राजधानी आरगमें ही रही होगी।

श्रीपुर—सिरपुर

मध्य-प्रान्तमे पुरातत्त्वके लिए यह नगर पर्याप्त प्रसिद्ध है। १६ दिसम्बर, १९४५को यहाँका इतिहास-प्रसिद्ध विशाल लक्ष्मण-देवालय देखनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। यह मन्दिर प्रान्तीय **पुरातत्त्वकी अनुपम सम्पत्ति है।** अपने ढगका ऐसा अनोखा और प्राचीन वास्तु-कलाका प्रतिनिधित्व करनेवाला मन्दिर, प्रान्तमे अन्यत्र शायद ही कही हो। मन्दिरका तोरण ६×६ फुटका है। तोरणका

---

[1] **मध्यप्रदेशका इतिहास पृ० २२**

एक-एक भाग तीन-तीन विभागोंमें विभाजित है। बाईं ओर नृसिंह, वाराह, वामन, राम, लक्ष्मण (धनुर्धारी) आदि अवतारों एव तीनों लाइने सुन्दर शिल्पोसे अलंकृत है, जिनमे एक गृहस्थ-युगलकी मूर्ति स्थूल उदर, लघुचरण, गलेमे यज्ञोपवीत और आभूषणोमे भक्ति-सूचक माला धारण किये हुए है। विदित होता है कि यह कोई भक्त ब्राह्मणकी प्रतिकृति होगी। मूर्तिके परिभागमे भामण्डल-प्रभावली स्पष्ट है। तन्निम्न-भागमें लघुवयस्क बालक खडा है। एक वृक्षके नीचे स्त्री-पुरुष सुन्दर भावोको व्यक्त करते खडे है। दाहिनी ओर गन्धर्वोंकी प्रतिमाएँ विविध वाद्यो सहित उत्कीर्णित है। कही-कही कामसूत्र-विषयक प्रतिमाएँ खुदी है। तोरणपर विविध प्रकारके बेल-बूटे है, जो गुप्तकालीन कलागत प्रभावके सूचक है। तोरणके ऊपर अतीव सुन्दर और चित्ताकर्षक भगवान् विष्णुकी शेषशायी प्रतिमा दृष्टिगोचर होती है। नाभिगत कमलपर ब्रह्माजी और चरणोके निकट लक्ष्मी अवस्थित है। पासमे वाद्य लिये गन्धर्व खडे है। मूर्ति कलापूर्ण होते हुए भी एक आश्चर्य अवश्य उत्पन्न करती है कि लक्ष्मणके प्रधान मन्दिरके गर्भगृहोपरि ऐसी प्रतिमा क्यों खुदाई गई ? तोरणका पाषाण लाल है, और सरक्षणाभावसे नष्ट हो रहा है। प्रतिमाओके केश-विन्यासपर गुप्तोंका प्रभाव स्पष्ट है। कामसूत्रके आसन भी तोरणमे उत्कीर्णित है। मन्दिरके मुख्यगृहमे जो मूर्ति विराजमान है, वह पँचफने साँपपर अधिष्ठित है। कटिमे मेखला, गलेमे यज्ञोपवीत, कर्णोंमे कुण्डल, बाजूबन्द और मस्तकपर लपेटी हुई जटा, उत्फुल्ल वदनवाली प्रतिमा २६×१६ इच आकारकी है। यह प्रतिमा किसकी होनी चाहिए, यह एक प्रश्न है। कहा तो जाता है कि यह लक्ष्मणकी है, परन्तु मैं इससे सहमत नही। वास्तुशास्त्रानुसार मन्दिरके इतने विशाल गर्भगृह और मूलद्वारको देखते हुए, सहजमे ही अनुमान किया जा सकता है कि उक्त प्रतिमा कम-से-कम इस मन्दिरकी तो अवश्य ही नही है। सम्भव है कि मूल प्रतिमा ग़ायब हो जानेसे किसीने स्थानपूर्तिके

लिए यह नवीन प्रतिमा लाकर रख दी हो। गर्भगृह १६।। और मूलद्वार ७७।।×३१ इचका है। इस प्रकार प्रतिमाकी दृष्टि ४३वें इचपर आती है, जो अशुभ है। मन्दिरका शिखर व सम्पूर्ण भाग ईंटोंका बना हुआ है, फिर भी कला-कौशल इतने सुन्दर ढगसे व्यक्त किया गया है कि सम्भवतः पाषाणपर भी इतना सुन्दर नही हो पाता। शिखर चौखूंटा है। एक-एक भाग पाँच-पाँच विभागोमे विभक्त है। सबपर लघु गुम्बज है। अग्रभाग बडा ही आकर्षक और कलाका साक्षात् अवतार-सा प्रतीत होता है। शिखरका मूलभाग पाषाणके ऊपर स्थित है। स्तम्भोपर जो कारीगरीका काम किया गया है, वह कला-प्रेमियोको आश्चर्यान्वित किये बिना नही रहता। प्राचीन कालमे दीवारोकी शोभाके लिए गवाक्ष बनाना आवश्यक था। यहाँपर भी कलापूर्ण चौखट सहित त्रिकोण जालीदार गवाक्ष वर्तमान है। गुप्तकालमे इसका विशेष प्रचार था। सक्षेपमे कहा जाय तो सम्पूर्ण शिखरमे जैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म कलात्मक काम किया गया है, वह भारतीय तक्षण-कलाके मुखको उज्ज्वल किये बिना नही रहता। ईंटोंपर भी बारीक काम किस प्रकार किया जा सकता है, इसका सारे भारतमें सम्भवतः यही एक ज्वलन्त उदाहरण है। ईंटे १८×८ इंचकी है। इस तरहके कामका प्रचार गुप्तकालमे व्यापक रूपसे था। मन्दिरके बरामदेमे सूर्य, शकर, पार्वती, सरस्वती एवं कामसूत्रसे सम्बन्धित कुछ मूर्तियाँ अवस्थित है। इस देवालयके समीप ही **रामदेवालय** भी बहुत ही दुरवस्थामें विद्यमान है। यद्यपि यह भी सम्पूर्ण ईंटोका ही बना हुआ था, पर वर्तमान कालमे शिखरके कुछ भागको छोड़कर केवल ईंटोंका ढेर-भर अवशिष्ट है। प्रेक्षकोका ध्यान इस ओर शायद ही कभी जाता हो।

सिरपुरसे कउवाँझर जानेवाली सड़कपर किवाँचके भीषण अरण्यमें एक विशाल स्तम्भपर एक भव्य पुरुष-प्रतिमा हाथमे खड्ग लिये हुए अवस्थित है। उसका चेहरा भव्य, आकर्षक तथा विविध प्रकारके कलचुरि-शिल्प-स्थापत्यमे पाये जानेवाले आभूषणोसे इसमें कुछ भिन्नत्व है। मालूम होता

है कि किसी समय यहाँ प्राचीन मन्दिर भी अवश्य रहा होगा, क्योंकि मृत्तिकामे दबे कुछ अवशेष मैने निकलवाये थे। महानदीके तटपर अवस्थित **गन्धेश्वर महादेव** सिरपुरका प्रधान मन्दिर है। आभ्यन्तरिक दो स्तम्भोपर बिना सवत्के दो विशाल लेख नवी शतीकी लिपिमे उत्कीर्णित है। मन्दिर-की अवस्थाको देखते हुए पुरातनताका अनुभव नही होता। कहा जाता है कि **चिमनाजी** भोसलेने इसका जीर्णोद्धार करवाया था, एव इसकी व्यवस्थाके लिए कुछ ग्राम भी दिये थे'। शिखरके दोनो ओर बाह्य भागमे गणयुक्त शकर-पार्वतीकी सयुक्त प्रतिमा तथा विष्णुकी मूर्तियाँ श्याम पाषाणपर खुदवाई गई है। विदित होता है कि ये अवशेष लक्ष्मण-देवालयसे लाकर यहाँ लगवा दिये गये है। पासमे १५ पक्तिवाला एक विशाल शिलालेख बैठनेके स्थानमे एव एक लेख मन्दिरकी पैडीमे लगा दिया गया है। इसीके सामनेवाले हनूमानके मन्दिरमे भी कार्त्तिकेय आदिकी प्रतिमाएँ है। पश्चात् भागमे महिषासुर, गगा, गणेश आदि देवोकी प्रतिमाएँ स्निग्ध श्याम पाषाणपर बहुत ही उत्तम ढगसे उत्कीर्णित है। इनमे अष्टभुजी देवीकी प्रतिमा कला एव भाव-गाभीर्यकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण ही नही, वरन् सिरपुरसे प्राप्त सभी अवशेषोमे सर्वश्रेष्ठ है। सूक्ष्मताके लिए हम इतना ही कहना पर्याप्त समझेगे कि पाषाणपर केश-विन्यास-कलाका विकास, पलकके केशोकी स्पष्टता, ललाट एव उदरकी आवलियाँ बहुत ही स्पष्ट रूपसे व्यक्त हुई है। इस मूर्तिका महत्त्व तत्कालीन युद्धमे काम आनेवाले शस्त्रोके इतिहासकी अपेक्षासे भी सर्वोपरि है। इसी प्रकारके शस्त्रवाले कुछ जुझार भी हमने सिरपुरमे देखे है, जिनपर सवत् ११०६ फागुन और सवत् १४०३के लेख खुदे हुए है। देवी जिसपर अधिष्ठित है, उसका मस्तक वराह-तुल्य है एव शेष शरीर मानव-तुल्य है। **सिरपुर,**

'**बात यह है कि पुराने अवशेषोंको लेकर ही इस मंदिरका निर्माण हुआ है।**

तुरतुरिया, खैंतराई आदि तन्निकटवर्ती लघु ग्रामोंमें हिन्दू-संस्कृतिसे सम्बन्धित विपुल अवशेष विद्यमान है। यहांपर माघ पूर्णिमाको बड़ा मेला लगता है। महन्त **मंगलगिरिजी** बहुत सज्जन व **विनम्र** पुरुष हैं।

राजिम

राजिममे राजिमलोचनका मन्दिर भी प्राचीन है, जिसमे ७वी और ८वी शतीके दो लेख लगे हुए है। प्रथम लेखका सम्बन्ध राजा **वसन्तराजसे** है। यहांके स्तम्भोपर दशावतार बहुत ही उत्तम रीतिसे उत्कीर्णित है। कहा जाता है कि राजा **जगतपालने** इसे बनवाया था। मन्दिर चपटी छतवाला होते हुए भी उतनी प्राचीनताका द्योतक नही। यहां महाराज **तीवरदेवकी** मुद्रासे युक्त विशाल ताम्रपत्र विद्यमान है। मन्दिरके एक स्तम्भपर चालुक्यकालीन नृवराहकी अत्यन्त सुन्दर कलापूर्ण चार हाथवाली मूर्ति उत्कीर्णित है। उसकी बाये हांथकी कोहनीपर भूदेवी दीख पड़ती है। मूर्ति-निर्माण-शास्त्रोमे वर्णित वराह-लक्षणोसे इस प्रतिमामे केवल इतना ही पार्थक्य है कि यहाँ आलीढासनमे अधिष्ठित आदि-शेष भगवान् अपने फनके स्थानमे दोनो हाथोसे थामे हुए है। निकटवर्त्ती शिलापर नागकुल देख पडता है, जिसमे नाग अजलिबद्ध होकर नृवराहका सम्मान कर रहे है। इतनी प्राचीन और इस प्रकारकी वराहकी प्रतिमा प्रान्तमे अन्यत्र दुर्लभ है।

लक्ष्मण-देवालयसे, स्वर्गीय **डाक्टर हीरालालजीको** एक लेख प्राप्त हुआ था जो अभी रायपुर म्यूजियममे सुरक्षित है। इससे ज्ञात होता है कि उपर्युक्त मन्दिर **शिवगुप्तकी** माता **'वासटा'** द्वारा निर्मित हुआ जो **मगधके सूर्यवर्माकी** पुत्री थी। सूर्यवर्माका समय ८वी शती पडता है। अत. इस मन्दिरकी रचनाका काल भी ८वी ९वी शतीमे होना चाहिए। इस मन्दिरकी अधिकाशत बृहत्तर मूर्तियाँ, सिरपुरसे लाई गई है। **राजिम,** राजीवका अपभ्रश रूप जान पड़ता है। **इस स्थानको पद्मक्षेत्र भी** कहा

गया है। पर यहाँ एक किंवदन्ती प्रचलित है जिसका सारांश यह है कि इसका सम्बन्ध राजिव नामकी तेलिनसे है। राजीवलोचन मन्दिरमें छोटासा मन्दिर बना है। उसमे सतीचौरा है। इसपर सूर्य, चन्द्र और कुम्भवत् दृश्य उत्कीर्ण है। नीचे स्त्री-पुरुष व बगलमे दासियाँ तथा बैल भी खुदे है। यदि तेलिनकी दन्तकथाका सम्बन्ध राजीवलोचनसे हो, तो जानना चाहिए कि वह अपने इष्टदेवके सम्मुख सती हुई[1] थी। यहाँ पुजारी क्षत्रिय है। इसमें रायपुर-रश्मिके लेखकको विचित्रता मालूम हुई। मेरे खयालसे इसमें कोई आश्चर्य की बात नही है। बिहारके मुँगेर जिलेमें, महादेव-सिमरिया ग्राममें पुरातन शिवमन्दिर के पुजारी व पण्डे कुम्हार है।

राजिममे **महानदी और पैरी**के ठीक संगमपर कुलेश्वर-महादेवका मन्दिर है। इसकी रचना आश्चर्यजनक है। महानदीके प्रवाहके सैकड़ों वर्षोंसे थपेड़े खानेके बाद भी मन्दिरकी स्थिति ज्योंकी त्यों है।

बनजारोंके चौतरे--

महाकोसलमें ग्रामसे बाहर या कही-कही घनघोर वनमें एक प्रकारके **चौतरे** पाये जाते है। जो सती-चौतरोंसे सर्वथा भिन्न होते हैं। इन्हे किसीका समाधिस्थान भी नही मान सकते, तो फिर इन चौतरोका संबध किनसे होना चाहिए? यह एक कठिन प्रश्न है, पर उपेक्षणीय नहीं। इन चौतरोंका निर्माण सामान्य कोटिके अनगढ़ पत्थरोसे हुआ करता था। उनपर सिन्दूरसे विलेपित अनगढ पत्थर या ऐसा कोई देव-चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। **हीरापुर** निवासी वयोवृद्ध अध्यापक श्रीयुत **नन्हेंलालजी** चौधरी द्वारा ज्ञात हुआ कि इस प्रकारके चौतरोंका संबंध, भारतके बहुत पुराने पर्यटक बनजारोंसे होना चाहिए। यांत्रिक साधनोंके अभाव-युगमें अन्तर्प्रान्तीय वाणिज्य अधिकतर

---

[1] रायपुर रश्मि पृष्ठ ८०-८१,

बनजारोंके द्वारा ही सपन्न होता था। वे केवल वर्षा काल हीमें, जहाँ मुख्यतः जल तथा चारेकी सुविधा हो, (उन दिनों माल परिवहनका माध्यम बैल ही था) चाहे वह स्थान भले ही घनघोर अटवीमे ही क्यो न हो, आवास बना लेते थे। अब प्रश्न रहा सचित सपत्तिका, उसे वे अपने अस्थिर निवासस्थानके समीप ही चौतरा बनाकर, उसके मध्यमें रक्तशोषक श्रमसे अर्जित संपत्तिको रखकर, पलस्तर कर, ऊपर ऐसा चिह्न बना देते थे जैसे कोई देवस्थान ही हो। ऐसा करनेका एकमात्र कारण यही था कि लोग इसे सम्मानकी दृष्टिसे देखे और धार्मिक मानसके कारण कभी खोदे नही। बनजारोंकी परम्पराका सपत्ति-संरक्षणका यह अच्छा ढंग था। जब वे चलते, तब अर्थकी आवश्यकता हुई तो निकालते, वर्ना स्मृति पटलपर ही उनका अस्तित्व बनाये रहते थे। इस धन-रक्षण पद्धतिके पीछे न केवल काल्पनिक व किवदन्तियोका ही बल है, अपितु कुछ ऐसे भी तथ्य हैं, जिनसे उपर्युक्त पंक्तियोकी सत्यता सिद्ध होती है। उपर्युक्त चौधरीजी ने अपने ही गाँव की एक घटना आँखों देखी, इस प्रकार सुनाई थी––

'हीरापुर' (जि०सागर) की पश्चिम सीमापर वनके निकट जलाशयके तीरपर लगभग १० वर्गफीट पत्थरोका एक चौतरा था। जनताने इसे धर्मका स्थान मान रखा था। एक दिन बनजारोंका समूह सायंकाल आकर वहाँ ठहर गया। प्रातःकाल लोग विस्फारित नेत्रोंसे चौतरेकी स्थिति देखकर आश्चर्यान्वित हुए, क्योकि वह बुरी तरह क्षत-विक्षत हो चुका था। बनजारे भी प्रयाण कर चुके थे, तब लोगोको इस चौतरेका रहस्य ज्ञात हुआ।

लालबर्रासे सिवनी (C.P.) आनेवाले मार्गमे सातवें मीलपर भयंकर वनमें एक ऐसा ही चौतरा बना हुआ है। चौतरोंका उल्लेख मैंने इसलिए करना उचित समझा कि अवशेषोंके साथ जिन किंवदन्तियोंका संबंध हो, उनकी उपेक्षा भी, पर्याप्त अन्वेषणके बाद की जानी चाहिए। कबीर साहबके चौतरे भी इस ओर पाये जाते हैं। इसका

कारण यह है कि छत्तीसगढमें इनके अनुयायियोकी सख्या काफी है। कवर्धा, कबीरधामका रूपान्तर माना जाता है। इस ओर कबीर साहबका साहित्य प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होता है। गवेषकोके अभावमे इतनी विराट् सामग्रीका अभीतक समुचित प्रबध नही हो सका है, न निकट भविष्यमे सभावना ही दृष्टिगत होती है।

सती व शक्ति चौतरे---

सती-चौतरोकी सख्या सापेक्षत महाकोसलमे अधिक पाई जाती है। निकटवर्ती प्रदेश, विन्ध्य प्रान्त तो एक प्रकारसे सती-चौतरोका केन्द्र-स्थान ही है। सागर, दमोह, जबलपुर आदि जिलोमे सैकडो ऐसे सती स्थान व उनकी मूर्तियाँ उपलब्ध होती है, जिनमेसे कुछ एकपर लेख भी खुदे पाये जाते है। ऐसे साधन भले ही पुरातन-कलाकी दृष्टिसे महत्त्व न रखते हो, पर ऐतिहासिक दृष्टिसे इनकी उपयोगिता है।

महाकोसलमे सर्व प्राचीन जो सती-स्मारक उपलब्ध हुआ है वह 'बालौद' (जिला दुर्ग) मे विद्यमान है। इनपर लेख भी है। एक लेख, जो स्व० डाक्टर हीरालालजी द्वारा पढा गया था, वह सवत् १००५ का है। दूसरा लेख जिसका वाचन प्रिन्सेप साहब द्वारा सपन्न हुआ था, उसका काल आपने ईसाकी दूसरी शताब्दी स्थिर किया है। यदि उपर्युक्त वाचन ठीक है, तो कहना पडेगा कि भारतमे पुरातन सती-चौतरोमे इसकी गणना प्रथम पक्तिमे की जायगी[1]।

पुरातन साहित्य व शिला तथा ताम्रपत्रोत्कीर्णित लिपियोसे सिद्ध है कि महाकोसलमे शक्तिपूजाका प्रचार बहुत प्राचीन कालसे रहा है। यहाँके आदिवासी प्रत्येक कार्यकी सफलताके लिए शक्तिके किसी भी रूपकी मनौती करते है। सुसस्कृत कालमे भी शक्ति-पूजार्थ बडे-बडे मन्दिर व

---

[1] श्री स्व० गोकुलप्रसाद---दुग-दर्पण, पृष्ठ ८२,

मठोंकी स्थापना की गई। राजाओं द्वारा तान्त्रिक परम्पराका समादर किया जाता था। **भवभूतिकृत मालती-माधव, राजशेखरकृत कर्पूर-मंजरी** तथा कलचुरि-कालीन ताम्र व शिलालेखोंसे महाकोसलीय तान्त्रिक समूहको समुचित रीत्या समझ सकते हैं। पुरातन मूर्तियाँ भी उपर्युक्त विचार परम्पराका समर्थन करती हैं। ग्रामीण जनता भी अपनी शक्ति व मतिके अनुसार देवी-पूजाकर कृत-कृत्य होती है। महाकोसलमें बहुतसे स्थान मैंने देखे हैं, जहाँ जनताने, किसी भी धर्ममान्य मूर्ति, उसका खण्डित अंश, या कोई भी गढे गढाये पत्थर या समूहको एक स्थानपर स्थापित कर, सिन्दूरसे पोतकर उसे या उन्हें **'खैरमाई', 'खैरदैया'** आदि नामोसे पुकारा है। अवान्तर रूपसे इस प्रकारकी मान्यताके पृष्ठभागमें शक्ति-पूजाके बीज ही प्रतीत होते हैं। ऐसे स्थानोंका अध्ययन भी, पुरातत्त्व-शास्त्रियों व विद्यार्थियोंके लिए नितान्त वाँछनीय है, क्योकि ऐसे समूहमें कभी-कभी अत्यंत महत्त्वपूर्ण कलाकृति उपलब्ध हो जाती है। **पनागर, त्रिपुरी, बिलहरी, कौहरगढ़, लाँजी, किरनापुर, कारीतलाई, आरंग, रायपुर, लखनादौन, घंसौर, रत्नपुर** और **नागरा** आदि अनेक स्थानोंपर पुरातन अवशेषोंका समूह शक्तिके विभिन्न रूपान्तरके रूपमें पूजा जाता है।

स्थानाभावसे मैं जानबूझकर मध्यप्रदेशके दुर्गोंका उल्लेख नहीं कर रहा हूँ, परन्तु ये भी हिन्दू-पुरातत्त्वके खास अंग माने जाते हैं। पुरातन वापिकाओंकी भी गिनती इसमें होनी चाहिये थी। भविष्यमें दुर्गपर स्वतंत्र विचार करनेकी भावना है। क्योंकि यहाँकी दुर्ग-निर्माण-पद्धति स्वतंत्र ढंगकी रही है।

इस प्रकार हिन्दू धर्माश्रित, शिल्पस्थापत्य कलाके अति उत्कृष्ट व मनोहर प्रतीक पुरातन खंडहरमें प्राप्त होते हैं। अगणित भू-गर्भमें डटे पडे हैं। जो बाहिर हैं वे भी दैनंदिन नाशकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। पूर्व पुरुषों द्वारा इनपर अगणित सम्पत्ति व्यय हुई। कलाकारोंने आत्मिक सौंदर्यको कुशलतापूर्वक मूर्त रूप दिया, पर आज समय ऐसा आया है कि

हम सभी प्रकारसे अपने आपको समुन्नत मानते हुए भी, अतीतकी आत्मीय विभूतियोकी उपेक्षा करते जा रहे है। उनकी कीर्तिपर ठोकर मारते जा रहे है। क्या स्वाधीन भारतके सास्कृतिक नवनिर्माणमे इनकी कुछ भी उपयोगिता नही है ! इनकी मौन-वाणीको सुननेवाला कोई सहृदय कलाकार नही है ?

सिवनी
२० मई १९५२
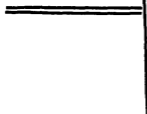
महाकोसल

की

कतिपय हिन्दू-मूर्तियाँ

"मध्यप्रांतका हिंदू-पुरातत्त्व" शीर्षक निबन्धमे महाकोसलके पुरातत्त्वका निर्देश सक्षेपसे किया है। उसमे अधिकतर भागका सम्बन्ध मेरे प्रथम भ्रमणसे है। १९५० फरवरीमे पुन. मुझे महाकोसलके त्रिपुरी, बिलहरी, पनागर और गढा आदि नगर स्थित कलावशेषो का, न केवल अध्ययन करनेका ही सौभाग्य प्राप्त हुआ, अपितु उन उपेक्षित अरक्षित कलात्मक प्रतीकोका सग्रह भी करना पड़ा जिनसे एक सुन्दर कलात्मक सग्रहालय बन सकता है। इन अवशेषोमे जैन एव वैदिक संस्कृतिसे सबन्धित प्रतीक ही अधिक है। दो एक बौद्धावशेष भी सूचनात्मक है। प्रस्तुत निबन्धमे मै अपने सग्रहके कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रतीकोका परिचय देना चाहता हूँ। शीर्षकसे भ्रम हो सकता है कि मै सपूर्ण महाकोसलके शिल्प-स्थापत्य कलाकी गभीर आलोचना करते हुए, शिल्प-कलाके क्रमिक विकासकी ओर सकेत करूँगा, परतु यहाँ मैने अपना क्षेत्र सीमित रखा है। उन महत्त्वपूर्ण कलावशेषोका इसमे समावेश न होगा जिनको मैने स्वय नही देखा है।

भारतीय शिल्प-स्थापत्य कलाके विकास और सरक्षणमे महाकोसलने कितना योग दिया है, इसका अनुभव वही कर सकता है, जो इस भू-भागके निर्जन-अरण्य एव खडहरोमे बिखरी हुई तक्षण कलाकी खण्डित कृतियोंके परिदर्शनार्थ स्वय घूमा हो। जैन मुनि होनेके नाते पैदल चलनेका अनिवार्य नियम होनेके कारण महाकोसलके कलातीर्थोमे भ्रमण करनेका अवसर मिला है। मै दृढता पूर्वक कह सकता हूँ कि इतिहास पुरातत्त्वज्ञोंकी इस ओर घोर उपेक्षित मनोवृत्तिके कारण, यहाँकी बहुमूल्य कला-कृतियाँ सडको और पुलोमे लग गई। कुछ लेख तो आज भी जबलपुर जिलेकी कबरोमे फासके रूपमे लगे हुए है। अभी भी जो सामग्री शेष है, वह न केवल तक्षण-कलाकी दृष्टिसे ही महत्त्वपूर्ण है, अपितु महाकोसलके सास्कृतिक एवं

मूर्ति कलाकी दृष्टिसे तो निश्चित विचार तब ही प्रकट किये जा सकते हैं, जब इस भू-भागकी समस्त प्राचीन प्रतिमाओंका शास्त्रीय अध्ययन किया जाय। उचित अन्वेषणके अभावमे निकट भविष्यमें तो कोई आशा नहीं की जा सकती, परन्तु प्राप्त बहुसख्यक अवशेष कलाकारको इस विचारतक तो पहुँचा ही देते है कि मूर्तिकलाके आन्तरिक एवं बाह्य उपकरणोंमें यहाँ तक्षकोंने काफी स्वतन्त्रतासे काम लिया और मूर्ति-निर्माणमें तत्कालीन जन-जीवनको न भूले। वे न केवल अपने आराध्य देवकी प्रतिमा तक ही छैनीको सीमित रख सके, अपितु पौराणिक एव तान्त्रिक देव-देवियोका भी सफल अकन कर सके थे। कतिपय मूर्तियाँ ऐसी भी है, जिनकी मुखाकृतियाँ महाकोसलकी जनतासे आज भी मिलती जुलती हैं। मूर्त्ति रूप-शिल्पका एक अग है। मूर्ति स्थित शील कलाका प्रतीक है। १० वी से १२ वी शताब्दीतकके तांत्रिक साहित्यमें देव-देवियोके रूप भिन्न-भिन्न प्रकारसे व्यक्त हुए है, उनमेसे **गणेश, दुर्गा, तारा,** और **योगिनियोंके** रूप महाकोसलमे प्राप्त हुए हैं। तादृश चित्र मूर्तिकलामे किस तरहसे प्रतिबिम्बित करना, इस कार्यमें यहाँके शिल्पी बड़े पटु थे। शरीरके अंगोपाग एवं वस्त्र विन्यास, नासिका, चक्षु एव ओठोके अंकनमें जैसी योग्यता परिलक्षित होती है, वैसी समसामयिक अन्य प्रान्त स्थित प्रदेशोमें शायद कम मिलेगी। तात्पर्य कि मूर्तिकला-विशारदोकी धारणा है कि ११ वी या १२ वी शतीके बाद मूर्तिकला ह्रासोन्मुखी हो चली थी, परन्तु यहाँकी कुछ मूर्तियाँ इस पंक्तिका अपवाद हैं। तक्षकोंके सम्मुख निःसदेह शिल्प विषयक साहित्य अवश्य ही रहा होगा, परन्तु इस विषयपर प्रकाश डालनेवाले न तो साहित्यिक उल्लेख मिले है एवं न कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ ही। हाँ, **त्रिपुरीमें** आज भी 'लढ़िया' जाति है, जिनका व्यवसाय मूर्त्ति-निर्माण था और आज भी है। त्रिपुरीमे ही एक समय सैकडोकी सख्यामे उनके घर थे। दर्जनों आज भी है। एक वृद्धासे मैने मूर्ति-निर्माण-विद्या विषयक जानकारी प्राप्त करनी चाही तब उसने अपने

सामाजिक विकास की दृष्टिसे भी उतनी ही उपादेय है। यदि सरकार अब भी इस ओर ध्यान न देगी तो बची खुची कीर्तिसे भी हाथ धोना पड़ेगा। जो शासन अतीतके सर्मार्चीन तत्त्वोकी रक्षा नही कर सकता वह अधिक समय टिक भी नहीं सकता।

मूर्तिकला:

भारतीय साधनाके इतिहासपर दृष्टिपात करनेसे विदित होता है कि प्राचीन कालसे ही सगुण रूपको बहुत महत्त्व दिया गया है। यही कारण है कि मूर्ति कलाका विकास भारतमे काफ़ी हुआ। महाकोसल भी इसका अपवाद नही हो सकता था। हजारो वर्षोसे निवास करनेवाली आर्यभिन्न जातियाँ भी, प्रतीकात्मक पूजन किया करती थी, जैसा कि प्रान्तस्थ प्राचीन गुफाके भित्तिचित्रो, व ग्राम-गृहोपर खीची गई रेखाओंसे एव मूर्तिकलासे विदित होता है। इतिहासके प्रकाशमे यदि देखा जाय तो वर्तमानमे केवल एक ही कृति इस प्रान्तमें विद्यमान है—वह है गुप्तकालीन **तिगवाँ** के अवशेष। विशेष सामग्रीके अभावमे भी यह बात समझमें आ सकने योग्य है कि गुप्त कालमे महाकोसल तक्षण एव मूर्ति कलामे पश्चात्पाद न था। **एरण**के अवशेष साक्षी स्वरूप विद्यमान है। दूसरा कारण यह भी है कि गुप्त कालमें विन्ध्यप्रदेशान्तर्गत **नचना**के मन्दिरोंकी सृष्टि हुई जो महाकोसलके निकट है। गुप्तकालीन कुछ प्रथायें एव शिल्प स्थापत्यकी कुछ विशेषताकी परम्परा नवी शताब्दीतक महाकोसल-के विचारशील कलाकारो द्वारा सुरक्षित रह सकी। गुप्तकालीन मूर्त्ति-कलाके प्रमुख तत्त्वोके प्रकाशमे यदि महाकोसलकी नवी शतीतककी मूर्ति-कलाको सूक्ष्म दृष्टया देखे तो उपर्युक्त पक्तियोका मर्म समझमे आ सकता है। स्थानीय कलाकारोने मूर्ति-कलाकी प्राचीन परम्पराका भलीभाति निर्वाह करते हुए, परिस्थितिजन्य तत्त्वोकी उपेक्षा नहीं की।

गृहसे बहुतसे पुराने औजार मेरे सम्मुख पटक दिये । इनमे कई प्रकारकी छैनियाँ एव हथोड़े थे। बारीकसे बारीक छैनी, सुच्यग्र भाग प्रमाण एव ६" लबी थी। बडीसे बड़ी छैनी ९" तक चौड़ी थी। प्रत्येक प्रकार की छोटी बड़ी छैनीके अनुसार ही हथोडे प्रयुक्त किये जाते थे। ऐसा उनसे ज्ञात हुआ। वृद्धाके पास कुछ पुराने कागजात भी थे, इनमे मदिरके अग-उपाग एव विभिन्न मूर्तियोकी कच्ची रेखाएँ खिची हुई थी। वृद्धा एकाकी होनेके वावजूद भी सामग्री देनेको प्रस्तुत न हुई। सभव है अन्वेषण करनेपर इस प्रकारके और भी साधन प्राप्त हो, जिनसे महाकोसलकी शिल्प-कलापर प्रकाश पडे। और यह भी ज्ञात हो कि यहाँके कलाकारोने प्रेरणा कहाँसे ली ?

हिन्दू धर्मकी मूर्त्तियाँ—

महाकोसलके अवशेषोमे हिन्दू धर्मकी सभी शाखाओकी मूर्तियाँ सम्मिलित है। शैव और वैष्णवके अतिरिक्त अन्य पौराणिक देव-देवियाँ, गगा, **गजलक्ष्मी, पार्वती, कल्याणदेवी, अर्धनारीश्वर, नवग्रह, गरुड़, गणेश, कुबेर** आदिका समावेश होता है। प्राप्त समस्त मूर्तियोका सामूहिक परिचय देना लघुतम प्रबन्धमे सभव नही अत प्रत्येक शाखाकी प्रधान एक एक मूर्तियोंका परिचय ही पर्याप्त होगा।

इतिहाससे स्पष्ट है कि महाकोसलमे गुप्तोका शासन रहा है। गुप्त **परम भागवत** थे। उस समय भागवत-धर्मका प्रचार व्यापक रूपसे था। **एरणका** गरुड़ स्तम्भ विख्यात है, जो गुप्तकालीन कृति है। इसकी ऊचाई ४७ फीटकी है। लोग इसे भीमकी गदा कहते है। इसपर जो लेखोत्कीर्णित है, उससे ज्ञात होता है कि **बुधगुप्त** के समय खड़ा किया है। निकट ही एक विष्णु मदिर है, उसमे सम्राट् **समुद्रगुप्त** [सन् ३३५–३८०] का खडित लेख है। विष्णुके दशावतारोमे वराह भी सम्मिलित है। इसकी दोनो प्रकारकी—आदि वराह और भू-वराह—की बहुसख्यक मूर्तियाँ आज भी **सागर, जबलपुर**

एवं रायपुर जिलोंमें उपलब्ध होती हैं। आदिवराहकी मूर्तियाँ जितनी विशाल महाकोसलमे उपलब्ध होती है वैसी अन्यत्र कम। इन मूर्तियोपर पौराणिक देवताओंकी सहस्रों छोटी-बड़ी मूर्तियाँ उत्कीर्णित मिलती है। पनागरका आदिवराह मैने स्वयं देखा है। भू-वराहकी अत्यत सुन्दर एवं कलापूर्ण प्रतिमा राजीवलोचनके[1] मंदिरमें सुरक्षित है। छोटी मूर्तियाँ तेवर और बिलहरीमे दर्जनो पाई जाती है, जिनमे वराह पृथ्वीको उठाये हुए मुंह ऊँचे किये बताये गये है। इस आकृतिकी १२वीं शतीतककी प्रतिमाएँ छोटे रूपमें काफ़ी मिलती है। इसी प्रकार विष्णुके अन्य अवतार भी महाकोसलमें पाये जाते हैं। बिलहरीमें (कटनीसे १० मील पश्चिम) विष्णुवराहका स्वतन्त्र मंदिर ही पाया जाता है, जिसकी चौखटपर गंगाकी खड़ी मूर्तियाँ पाई गई हैं। कलचुरि यशःकर्णदेवके समयकी तीन वैष्णव मूर्ति मुझे पनागरमे देखनेको मिली थी। ये तीनों बेजोड है। यों तो दो स्वतंत्र शिलाओंपर खुदी है। इनमें गोवर्द्धनधारी विष्णु है, पासमे कुछ गोप व गायोका झुंड, विस्फारित नेत्रोसे खड़ा है। गोपके वस्त्र प्रेक्षणीय है। पट्टशिलापर लेख खुदा है। तीसरी प्रतिमा विष्णुजन्मके भावोंको स्पष्ट करती है। ये तीनो अवशेष इस बातके परिचायक है कि कलचुरि-कालमें भी वैष्णव परम्परा यहाँ जीवित थी। दशावतारयुक्त विष्णुकी एक अतीव सुन्दर और कलापूर्ण प्रतिमा मेरे संग्रहमें है। परिचय इस प्रकार है—

दशावतारी विष्णु

कटनी नदीके मसुरहा घाटपर पाई गई वह संपूर्ण प्रतिमा ५०½"×२६½" है। भगवान् विष्णु बीचमें खड़े हुए है, जिनका विस्तार ३६"×२०" है। प्रतिमाकी खूबी यह है कि यह एकदम खुदी खड़ी है। पीछे कोई आधार भूमि नही रखी गई। सामान्य रूपसे परिकरमें खुदे हुए

[1] राजिम, जिला रायपुर। चित्रके लिए देखें "भारतीय अनुशीलन"।

डिजाइन साचीके स्तूपके डिजाइनोका स्मरण दिलाते है। सबसे पहले हम खड़े हुए विष्णुको ही ले :—

भगवान् विष्णुके अग-प्रत्यगकी गठनमे विशेष सुघड़ता तो है ही, पर साथ ही अधोवस्त्र एव अन्य आभरणोकी रचनामे सुरुचिका प्रदर्शन स्पष्ट है। इन आभरणोमे कटिप्रदेशसे किंचित् उपरि भागमे आवेष्ठित आभरण, विशेष **बुन्देलखण्ड** अथवा **महाकोसलकी** अपनी विशेष साज-सज्जा जान पडती है। वहाँकी अन्यान्य प्रतिमाओमे भी यह दिख पडा है। भगवान् विष्णुके पाँवोंमे पैजन मूर्तिकी सुकुमारताका परिचय देते हे। दोनों टाँगोमें सुघढ़ता है। वस्त्र घुटनोके नीचेतक आया है और वहीतक कठस्थित माला लटक रही है। इस मालाके फूलोकी रचना बहुत स्वाभाविक है, अधोवस्त्र कटिप्रदेशसे बँधा हुआ है, परन्तु उसकी शले और, उन शलोकी बहुमुखी दिशाएँ अभीतक वहाँ किसी भी प्रतिमामे नही आई। कटिप्रदेशमे मेखला स्पष्ट दिख रही है। मेखलाका फूल गुदीके बिल्कुल नीचे सरल रेखामे चित्रित है। कटिवक्ष और स्कन्धोका अनुपात तथा उनके पीछे किसी भी आधार-भूमिका अभाव, प्रतिमाके शारीरिक सुगठन सौन्दर्यको द्विगुणित करता है। विशाल वक्षस्थलपर बुन्देलखण्डका अपना आभूषण अर्थात् हँसुली और माला बदस्तूर पड़े हुए है। चतुर्भुजी प्रतिमाकी कोहनीके नीचेके अग खडित हैं। बाहु भागमे अलबत्ता बाजूबन्दका design अभी बना हुआ है। गलेकी त्रिवली स्पष्ट है। चेहरेमें नाक और आँखे अस्पष्ट है, किन्तु नीचेका ओठ और कान बड़े ही सुन्दर बन पडे हैं। इतने सुन्दर कान अभी इस तरफ़ देखनेमे कम आते है। पश्चात् भागमे पड़ा हुआ केशकुज बडा स्वाभाविक है। कर्णफूल उस केशकुजके ऊपर रखे हुए है सिरका किरीट मुकुट ऊँचा है,—पिरेमिडके आकारका है। उसमे कढ़े हुए बेल-बूटे ब्राह्मण धर्मके अन्य बेलबूटो जैसे ही है।

वैजयन्तीमाला मूर्ति-सौन्दर्यमें और भी वृद्धि करती है। मालामें

फलोके अतिरिक्त उसकी शले भी ध्यान आकृष्ट करती है जो पुन कला-कारके सूक्ष्म सयोजन शैलीकी परिचायक है।

विष्णुकी प्रतिमाके पीछे जो प्रभावली है वह भी अनेक बौद्ध प्रभा-वलियोकी नाई सुन्दर और सफाईसे काढी हुई है। विष्णु भगवान् कमलके पुष्पके ऊपर खडे हुए है। ये कमल भी दो भक्तोके हाथोपर आधृत हैं। जो ऊर्ध्वमुखी है। कमलकी पँखुडियाँ स्पष्ट तो है, पर उनमे कोई बारीकीकी रचना नही है।

परिकर

प्रधान प्रतिमाके बाद हमारा ध्यान पहले पार्श्वद युग्मोकी ओर जाता है, जो कि बहुत सौम्य और सुरुचिपूर्ण है। चरणोके लगभग दायें बाये सबसे नीचे दो-दो भक्तोकी जघाओके बलपर बैठकर अजलिबद्ध हो, आराधनाम व्यस्त है, उनकी मुखमुद्राके भाव तन्मयता, मुख व अगोकी परिपक्व रचनाके बावजूद भी उनकी अगाध भक्तिका परिचायक है। ये दोनो जोडिय पुरुषोकी ही जान पडती है। दोनो जोडियोके हाथमें पुष्प एव नारियलकी भट सुशोभित है।

इस युग्मके बिल्कुल ऊपर दोनो ओर दो दम्पति पार्श्वद है। समस्त पार्श्वदोमे इन दम्पतियोका आकार भी सापेक्षत बडा है। शिल्पकी दृष्टिसे तो इन दम्पतियोम सुरुचिकी पूर्ण आभा है, किन्तु तत्कालीन महाकोसलीय एव भारतीय समाज व्यवस्था और सस्कृतिका भी उसमें परिचय हम मिलता है। वैष्णव धर्म सामान्य रूपसे गृहस्थ जीवनका अग बन गया था जिसम सहधार्मिक स्त्रीको उदार पद प्राप्त था। इनमें चँवर डुलानेका श्रेय पत्नीको ही दिया गया है। भक्ति-समर्पणमें पत्नी ही आगे अपने सम्पूर्ण शृगारके साथ भगवान्की सेवामें रत है। इन पत्नियोकी केशराशि सुन्दर अवश्य है, पर बुन्देल-खण्डमे सामान्यत पाये जानेवाले केशविन्यासके किंचित् भिन्न है। नारीका

शृंगार सचमुच वैभवपूर्ण है। पत्नीके पीछे जो पुरुष पार्श्वद है, उनके बाये हाथोमें फूल भी रखे हुए हैं। पुरुष भी अपने सामान्य शृंगारसे सुसज्जित होकर अपनी पत्नीके पीछे खडे हुए हैं। स्त्रीकी तत्कालीन सभ्रान्तिका परिचय इन पार्श्वदोकी विशिष्ट पोजीशनके जरिये हमे मिलता ही है। उस युगमें स्त्री अवश्य ही उस असम्माननीय स्थितिमे नही थी, धर्म कार्यमे पत्नीका प्राधान्य अथवा समान स्थान रामायण युगकी विशेष दशा है। जिसका ह्रास बादमे नारी-परतत्रताकी बेडियोके घृणित रूपमे हुआ। वैष्णव धर्ममे स्त्रियोका सम्माननीय स्थान नही था। यह प्रभाव प्रमादपूर्ण जान पडता है।

इन दम्पति युग्मोंके ऊपर अर्थात् विष्णु वक्षस्थलके चारो ओर साँचीके द्वारके अनुरूप डिजाइनदार स्तभ बने हुए है। दो स्तभों (Vertical Pillars) के ऊपर (across) तीसरा (Horizontal) स्तभ साँचीके स्तूपकी अपनी विशेषता है। ध्यान देनेकी बात यह है कि ऐसे स्तभ बौद्धधर्मकी स्थापत्य कलामें ही प्रथमत. व्यवहृत हुए है, किन्तु महाकोसल एव बुन्देलखण्डमे जो उत्तरकालीन जैन और वैदिक कलाकृतियाँ प्राप्त हुई है, उनमे साँचीका यह डिजाइन सामान्य रूपसे प्रयुक्त हुआ है। सिरपुरमे जो धातुकी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है, उनमे भी यह स्तम्भ रचना कमसे कम १२वी शतीतक अवश्य व्यवहृत होती आई है। इसके उपरान्त साँचीमे प्रयुक्त जो बारीक खुदाई और पच्चीकारी इन खम्भोमें की जाती थी, वह बन्द हो गई होगी और उनके स्थानपर केवल तीन खम्भ मात्र शेष रहे होंगे।

दोनो स्तम्भोके बाहर भागोंमें हस्तिशुण्डा एवं तदुपरि सिंहाकृति बनी हुई है। आगेके दोनों पाँव ऊपर हवामें सिंहाकृति उठाये हुए है, और उसके ऊपर सिंहके मुखमे लगाम थामे हुए एक-एक आरोही-सवार है। हाथीके गण्डस्थल और उसके शुण्डाकी सिकुड़नें देखनेपर हाथीकी विशालता और आभिजात्यका आभास मिलता है।

Horizontal स्तम्भके ऊपर अर्थात् प्रभावलीके उभय ओर इतनी प्रतिमाएँ है—

१—मगलमुख २—दो चँवरधारी पार्श्वद ३—गगनविहारी दम्पति।

गगनविहारी दम्पति हाथमे दो पुष्पमाला लिये हुए इस प्रकार उत्कीर्णित है मानो गगनसे ही वे भगवान् विष्णुको पहुँचाने जा रहे है।

परिकरके पर्यवेक्षणके उपरान्त मै हिन्दू धर्म मान्य विष्णुके दशावतारोंका उल्लेख प्रधान प्रतिमाकी प्रभावलीके दायी ओरसे आरम्भ करूँगा। सर्वप्रथम मत्स्यावतार है, बाईं ओर उसी क्रममे कच्छपावतार, मुखमे माला लिये उत्कीर्णित है। तीसरी प्रतिमा दाई ओर वराहावतारकी है। चौथी बाई ओर नृसिहावतार। पाँचवी दाई ओर वामन। छठी बाईं परशुरामकी। सातवी प्रतिमा विष्णुमूर्तिके दाईं ओरके स्तम्भके ऊपर रामावतारकी है। उसी स्तम्भपर आठवी बलरामकी दाई ओर नवी प्रधान पार्श्वद दम्पतिके नीचे बुद्धावतारकी होनी चाहिए, इसलिए कि इस मूर्तिका मस्तक खडित हो गया है। केवल अधोभाग एव वस्त्र ही शेष है तथा दाये हाथकी अभय मुद्राको सामान्यतः बौद्धधर्मका प्रतीक मानकर ही बौद्धावतारकी कल्पना की है। जिस क्रममे अन्य अवतारोकी रचना इस मूर्तिमें की गई है, उससे युगकी अनुकूलताको ध्यानमे रखते हुए भी, इस खंडित प्रतिमाको 'बुद्ध' मानना अनुचित नही। अस्तु, बाई ओर पुरुष पार्श्वदके नीचे कल्कि अवतारकी प्रतिमा है, जो अश्वारोही है। इस प्रकार दशावतारोका सफल अकन किया गया है।

इस तरह वैष्णव धर्मकी इस प्रतिमामे साँची-स्तूपके बौद्धशिल्पके आधारपर ही रचनाकाल निर्धारित करना होगा। कहा जा चुका है, इस प्रकारके स्तम्भोका व्यवहार महाकोसलके १२वी शतीतकके अवशेषोंमें हुआ है। यह अन्तिम सीमा है। पूर्व सीमा गुप्तकाल तक जाती है और प्रत्येक शताब्दीके अवशेषोंमे आशिक परिवर्तनके साथ परिलक्षित होती है।

दशावतारी विष्णुकी अन्य प्रतिमाएँ भी विभिन्न मुद्राओंमें मिलती

हैं। कोई गरुडपर बैठी हुई, कोई अकेले विष्णु मात्रकी। मेरे संग्रहमे ३ विभिन्न मुद्रावाली मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। इसी आकार-प्रकार की एक विष्णुमूर्ति कामठा-दुर्गके द्वारपर लगी है। गढा और त्रिपुरीमे ध्यानी विष्णुकी अतीव सुन्दर प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं। ऐसी मूर्तियोंके साथ मूर्तिकलासे अनभिज्ञो द्वारा अन्याय भी हुआ है। इसका उदाहरण मैं इसी ग्रन्थमे अन्यत्र दे चुका हूँ।

महाकोसलमे चतुर्भुज विष्णुकी एक ऐसी विशिष्ट शैलीकी मूर्ति मेरे संग्रहमे सुरक्षित है, वैसी मैने अन्यत्र नही देखी। खडी और बैठी विष्णु मूर्तियाँ तो सर्वत्र उपलब्ध होती है—सपरिकर भी। इसमे विशिष्टता यह है कि इसमे शिलाके दोनो ओर ललित प्रभावली युक्त गन्धर्व दम्पत्ति-युगल गगनविचरण कर रहे हैं। हाथमे अतीव सुन्दर स्वाभाविक दण्ड-युक्त कमल थामे हुए है। दण्डाकृति ८″ से कम न होगी। ऊपरके भागमे विकसित कमलपर भगवान् विष्णु विराजमान है। प्रभावलीके विशिष्ट अंकनसे विष्णु गौण है और गन्धर्व प्रधान हैं।

शिव—महाकोसलमे शैवसंस्कृतिकी जड शताब्दियोंसे जमी हुई है। यहाँके अधिकतर शासकोका कौलिकधर्म भी शैव ही रहा है। वाकाटक शैव थे। जैसे सोमवशी पाडव प्रथम बौद्ध थे पर श्रीपुर-सिरपुर आकर वे भी शैवमतानुयायी हो गये। कलचुरि तो परम शैव थे ही। त्रिपुरी इनकी राजधानी थी। पद्मपुराण (अ० ७)मे कहा गया है कि **महादेवने यहाँपर त्रिपुरासुर**का वध किया था। **कीर्तिवीर्य सहस्रार्जुन** शैवोपासक था। पौराणिक साहित्यसे भी यही ज्ञात होता है कि यहाँ बहुत कालसे शैवोका प्राबल्य रहा है। प्रान्तमे प्राचीन स्थापत्योंके जितने भी खडहर है, उनमे शैव ही अधिक हैं। मूर्तिकलामे शैव संस्कृतिका स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। सुन्दरसे सुन्दर और विविध भावपूर्ण प्रतिमाएँ उमा-महादेवकी ही मिलती है। उनकी आयु कलचुरियोंकी आयुसे ऊपर नही जाती। शैव मूर्तियोंके अतिरिक्त शिवचरित्रके पट्ट भी इस ओर उपलब्ध होते हैं।

शैवोंके पाशुपत और अघोरी सम्प्रदाय भी इस ओर थे। जैसा कि तात्कालिक व कुछ पूर्ववर्ती सस्कृत साहित्यसे सिद्ध होता है। शक्तिमान्यता तन्निकटवर्ती प्रदेशोमे भी बहुत व्यापक रूपमें थी। गुप्तकालीन एक लेख भी उदयगिरि[1]की गुफामे पाया गया है।

भगवान् शकरकी तीन प्रकारकी मूर्तियाँ इस ओर मिली हे। १-शिव-पार्वतीकी सयुक्त बैठी प्रतिमा। २ दोनोकी खडी मूर्ति जैसी विन्ध्य-भूभागमे पाई जाती है। ३ बैलपर दोनोकी सवारी सहित (भेडाघाट) शिवलिग तो सहस्रोकी सख्यामे उपलब्ध हे। त्रिपुरी जगलमे एक जलहरी ९ फीटकी पडी है। शैव सस्कृतिकी एक शाखा वामाचारकी मूर्तियाँ भी काफी मिल जाती हैं। कलाकौशलकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण प्रतिमाएँ प्रथम कोटि-की ही अधिक मिलती हे। मै ऐसी सपरिकर एक प्रतिमाका परिचय देनेका लोभ सवरण नही कर सकता—

सपरिकर उमा-महादेव–(२५″ × १५″) प्रस्तुत प्रतिमा हल्के रगकी प्रस्तर शिलापर खुदी हुई है। इसमे उमा और महादेवके चार-चार हाथ हे। भगवान् शकरके दाये दोनो हाथ खडित हैं। बायाँ हाथ पार्वतीकी कमरसे निकलकर दाहिने स्तनको स्पर्श कर रहा है। पार्वतीका दाहिना एक हाथ भगवान्के दाये स्कन्धपर एव एक ऊपरकी ओर धतूरेके पुष्पको पकडे हुए हे। भगवान्के मस्तकका मुकुट खडित है। कानमे कुण्डल गलेमे हँसुली एव माला, हाथोमे बाजूबन्द, कटिभागमे कटिमेखला एव चरणमे पेंजन हे। दाहिना पैर टूट गया है। केवल कमलपत्रपर पडा हुआ कुछ भाग ही बच पाया है। पार्वतीके आभूषण महादेवके समान ही हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि हाथोकी चूडियाँ एव माला विशेष है। दोनो गिरिशृगपर अधिष्ठित बतलाये

---

[1]गुप्तगुप्त लेख स० २२,

हैं। नन्दी निम्न भागमे अपना बायाँ अगला पैर जमीनपर टिकाये एवं दूसरा मोडे हुए बैठा है। मुख शिवकी ओर किये हुए है। थुथनीका प्रदेश आवश्यकतासे अधिक फूला हुआ है। इसमे उनका आवेश परिलक्षित होता है। तने हुए कान इसकी पुष्टि करते है। पार्वतीके मस्तकपर मुकुट है। केशोका जूडा ऊपरकी ओर अर्ध-गोलाकार बचा है।

मूर्तिका परिकर कलाकी दृष्टिसे अत्यन्त सुन्दर एव नवीन कलात्मक उपकरणोसे विभूषित है। सगीतकी आन्तरिक भावनाओका प्रभाव भी स्पष्ट है, क्योकि निम्न भागमे पाँच आकृतियाँ खीची गई है। मुखमुद्रा भक्ति-सिक्त हृदयकी भावनाको साकार किये हुए है। मध्यवर्ती आकृति विशिष्ट व्यक्तित्वका बोध कराती है। इनके मस्तकपर किरीट—मुकुट शोभायमान हो रहा है। चरण इतस्तत फैलाये, हाथमे वीणा लिये हुए है। दाहिना हाथ वीणाके निम्न भाग एव बाये हाथकी अँगुलियाँ तन्तुओपर फिरती हुई चाञ्चल्य प्रदर्शन कर रही है। वादकके मुखपर तल्लीनता जनित एक-रसताका भाव व्यक्त हो रहा है। मालूम पडता है भावविभोर व्यक्तिने अपने आपको क्षणभरके लिए खो दिया हो। अतिरिक्त आकृतियाँ शख और झाँझ बजा रही हैं। परिकरकी ये विशिष्ट आकृतियाँ न केवल कलाकी एव भावोकी दृष्टिसे ही महत्त्वपूर्ण है, अपितु तत्कालीन जनजीवनमे विकसित सगीतकलाका भी प्रदर्शन कराती है। यो तो शिवजीकी विभिन्न नृत्य-मुद्राओपर प्रकाश डालनेवाली शिल्प सामग्री महाकोसलमे उपलब्ध हुई है। परिकरान्तर्गत सगीतके उपकरणयुक्त आकृतियाँ इस प्रथम ही प्रतिमामे दृष्टिगोचर हुई है और एक शिल्प मुझे बिलहरीसे प्राप्त हुआ था, जो इसी निबधमे आगे दिया जा रहा है। भारतीय सगीतकी अविच्छिन्न धारामे १३वी शताब्दी ही परिवर्तन काल माना जाता है। इस युगमे सगीतके उपकरणोका विकास तो हुआ ही, साथ ही साथ उपकरणोकी ध्वनिको भी लिपिबद्ध करनेका प्रयास किया

गया[1]। परिकरके बायें भागकी मनुष्याकृतिके एक हाथमें हड्डीके सहारे ककाल एवं दूसरेमें खप्पर है। सम्भव है शिवगणका सदस्य हो। बायाँ भाग खडित है। हाँ, कटिप्रदेश तक जो आकृति दिखलाई पडती है उसके दाहिने हाथमे अकुश है। प्रभावलीका अकन एवं नागकन्याएँ आदि आकृतियाँ परिकरके महत्त्वको द्विगुणित कर रही है। इसी आकृतिसे मिलती-जुलती दर्जनों शिवमूर्तियाँ उपलब्ध है। समान भावनाओंका प्रतीक होते हुए भी कलाकारोने सामयिक उपकरणोका जो उपयोग किया है, इससे इन एक भाववाली मूर्तियोमे न केवल वैविध्यका ही विकास हुआ, अपितु पार्थिव सौन्दर्यका परिपोषण भी हुआ।

१३वी शतीके बाद भी उपर्युक्त शैवमूर्तियोको अनुकरण करनेकी चेष्टा की गई है, परन्तु कलाकार सफल नही हो सका।

अर्धनारीश्वर एव पार्वतीकी स्वतत्र मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। मेरे सग्रहमे सुरक्षित है। इस प्रकारकी एक शैव मूर्ति मुझे बिलहरीके चमारकी नालीमेंसे निकलवानी पड़ी थी। कुछ शैव मस्तक भी प्राप्त हुए थे। एकका चित्र भी दिया जा रहा है।

गणेश

गणेशकी पचासों कलापूर्ण मूर्तियाँ बिलहरी और त्रिपुरीमे ही, अत्यन्त दयनीय दशामे विद्यमान है। इस ओर पाई जानेवाली गणेशकी सभी मूर्तियाँ परिकरयुक्त ही हैं। इसमें सन्देह नहीं कि धार्मिक महत्त्वसे भी इनका कलात्मक महत्त्व अधिक है। बड़ीसे बड़ी ६ फुटतककी मूर्ति मिली है। त्रिपुरीमे गणेशकी नृत्यप्रधान मुद्राका विशेष प्रचार रहा है। शक्ति सहित गणेशकी एक अत्यन्त सुन्दर और कलापूर्ण प्रतिमा मेरे निजी

---

[1] यह प्रयास जैनमुनियोने शुरू किया था, आचार्य श्री जिनकुशलसूरि प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने ध्वनिको बाँधकर पार्श्वनाथ-स्तुतिकी रचना की,

संग्रहमे[1] है। ऐसी प्रतिमा रीवाँके राजमहलमे भी है। प्रसगत एक बातको स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पडता है कि पार्श्व यक्षका मुख्य स्वरूप गणेशसे मिलता-जुलता है। मूल रहस्यको बिना समझे आलोचक पार्श्व यक्षको भी गणेशकी कोटिमे बैठा देता है। ऐसी भद्दी भूले हुई है[2]।

कुबेर

भारतवर्षमें कुबेर धनका अधिष्ठाता माना जाता है और उनकी पत्नी **हारीती** प्रसवकी अधिष्ठात्री। महाकोसलमे भी कुबेरकी मान्यता प्रचलित थी। अद्यावधि कुबेरकी ३ प्रतिमाएँ मुझे प्राप्त हुई है। एक आसव-पायी कुबेर भी है, जो मद्यपानकी मस्ती सहित उत्कीर्णित है। दोनो ओर नारियाँ खडी है। अन्य दो प्रतिमाएँ सामान्य है। तीनों मूर्तियाँ श्याम वर्णके पाषाणपर खुदी हुई है।

नवग्रह—नवग्रहके पट्टक पनागर एव त्रिपुरीमे प्राप्त हुए है। पट्टकमे नवग्रहकी खडी मूर्तियाँ अकित है। सभीका दाहिना हाथ अभयमुद्रामे एव

---

[1]इसका शास्त्रीय रूप इस प्रकार है।

श्यामवर्णं तथा शक्ति धारयन्तं दिगम्बरम्।
उत्सङ्गे विहितां देवीं सर्वाभरणभूषिताम्॥
दिगम्बरां ‖ सुवदनां भुजद्वयसमन्विताम्।
विघ्नेश्वरीतिविख्यातां सर्वावयवसुन्दरीम्॥
पाशहस्तां तथा गुह्यं दक्षिणेन करेण तु।
स्पृशन्तीं देवमप्येवं चिन्तयेन्मन्त्रनायकम्॥
(उत्तरकामिकागमे पञ्चचत्वारिंशत्तम पटल)

यह अवतरण मुझे श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार, (गोरखपुर)से प्राप्त हुआ है,

[2]देखिये पृ० १०८-९,

बायें हाथमें कलश ग्रहण किये हुए है। उचित आभूषणोके साथ तूर्णालिकार आवश्यक माना गया है। मूर्तिकलाका एव भावोकी दृष्टिसे इन ग्रहोकी मूर्तिया अध्ययनकी नई दिशाका सूत्रपात करती है।

सूर्य—सूर्यकी प्रतिमा इस भूखण्डपर प्रचुर परिमाणमे उपलब्ध होती हैं। कुछ मूर्तियाँ १२ फुटसे भी अधिक ऊँची पाई गई है। इनकी तुलना **गढवाकी** विशाल सूर्य प्रतिमासे की जा सकती है। ये मूर्तियाँ प्राय मपरिकर ही हैं। इनकी कलाको देखनेसे ज्ञात होता है कि आठवी शताब्दीके पूर्व भी इस ओर निश्चित रूपसे सूर्यपूजाका प्रचार रहा होगा, जिसके फलस्वरूप विशाल मदिरोका भी निर्माण होता रहा होगा। मदिरकी परम्परा १२वी शतीतक प्रचलित थी। यद्यपि महाकोसलमे अद्यावधि स्वतन्त्रसूय मदिर उपलब्ध नही हुआ, परन्तु १२वी शताब्दीका एक चौखटका उपरिखड प्राप्त हुआ है, जिसम सूर्यकी मूर्ति ही प्रधान है। स्वतत्र भी छोटी-बडी दर्जनो सूर्य-मूर्तियाँ पाई गई है। इनपर आभूषणोका इतना बाहुल्य है, कि मूर्तिका स्वतत्र व्यक्तित्व दब जाता है।

नारीमूर्तियाँ—महाकोसलके कलाकार सापेक्षत नारीमूर्ति सृजनमे अधिक सफल हुए है। नारीमूर्तियोकी सख्या भी बहुत बडी है। **सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, गगा, कल्याणदेवी, स्तभपरिचारिकाएँ, नृत्य प्रधान मुद्राएँ** आदि प्रमुख है। इन प्रतिमाओके निर्माणमे कलाकारने जिस सजगतासे काम लिया है, वह देखते ही बनता है। जहातक स्त्रीमूर्तियोके निर्माणका प्रश्न है, उनमे महाकोसलकी अपनी अमिट छाप परिलक्षित होती है। तात्पर्य कि कुछ विशेषताएँ ऐसी है, जिनसे दूरसे ही मूर्तिको पहचाना जा सकता है। सबसे बडी विशेषता है नारियोके मुखमण्डलकी रेखाएँ। कलाकारोने देवीमूर्तियोमे भी दो भेदोसे काम लिया है। प्रथम पक्तिमे वे मूर्तियाँ आ सकती हैं, जिनका निर्माण भावना प्रधान है अर्थात् प्राचीन सभ्रात परिवारोचित भाव लानेकी चेष्टा की है। ऐसी मूर्तियाँ इस ओर कम पाई जाती है। दूसरी कोटिकी वे मूर्तियाँ है, जिनके निर्माणके लिए

कलाकारोंने किसी प्राचीन कृतिका अनुकरण न करते हुए, महाकोसलके वायुमण्डलमे पली हुई नारियोको ही आदर्श मानकर अपनी साधना द्वारा उनके सौन्दर्यको मूर्त रूप दिया है। ये मूर्तियाँ विशुद्ध महाकोसलीय कलाकी ज्योति है। **कल्याणदेवीकी** प्रतिमामे महाकोसलीय नारीका रूप भलीभाँति प्रतिबिम्बित हुआ है। आभूषण एव केशविन्यास भी विशुद्ध महाकोसलीय ही व्यवहृत हैं। कुछ प्रधान नारीमूर्तियोका परिचय देना अनुचित न होगा।

सरस्वती—सरस्वतीकी स्वतत्र मूर्तियाँ इस ओर कम मिली है। मेरे सग्रहमे केवल एक ही प्रतिमा है, जो चतुर्भुजी और खड़ी है। मुखमुद्रापर आभ्यन्तरिक चिन्तनकी रेखाएँ स्पष्ट है, फिर भी सौन्दर्यका एकदम अभाव नही। माला, पुस्तक एव कमण्डलु क्रमशः धारण किये हुए है। यह प्रतिमा मुझे बिलहरीसे प्राप्त हुई थी। इस ओरकी मूर्तियोमे वीणा नही पाई जाती। स्वतत्र मूर्ति न मिलनेका एक यह भी कारण है कि महाकोसलके मदिरोके शिखरके गवाक्षमे ही सरस्वतीका समावेश कर दिया जाता था[1]।

गजलक्ष्मी—भारतीय शिल्पकलामें गजलक्ष्मीका प्रतीक बहुत व्यापक रहा है। मथुरा आदिमें लक्ष्मीकी सुन्दर प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई है। महाकोसलके ऐतिहासिक उपादानोमें गजलक्ष्मीका व्यवहार विशेष रूपसे परिलक्षित होता है। छठवीं एव सातवी शताब्दीके ताम्रपत्रोकी राजमुद्रामें गजलक्ष्मीकी प्रधानता रहती थी। कलचुरि शासकोंके समयतक राजमुद्रामें गजलक्ष्मीकी ही प्रधानता रही। ऐसी स्थितिमे इस भू-भागमे

---

[1] **महाकोसलके निकट ही मैहरमें स्वतंत्र शारदापीठ है। यदि कलचुरि कालमें ख्यातिप्राप्त तीर्थ होता तो इनकी भी स्वतंत्र मूर्तियाँ अवश्य बनतीं। विशेषके लिए देखें, इन पंक्तियोंके लेखकका निबन्ध— "कलातीर्थ-मैहर",**

गजलक्ष्मीकी स्वतंत्र मूर्तिकी उपलब्धि स्वाभाविक है। धार्मिक आर्थिक एव ऐतिहासिक तीनो दृष्टियोसे इसका महत्त्व है। जिस गजलक्ष्मीका शब्दचित्र प्रस्तुत किया जा रहा है वह हल्के रक्त प्रस्तरपर उत्कीर्णित है। दुर्भाग्यसे खडित भी है। परन्तु वाम भाग पूर्ण होनेसे, त्रुटित दक्षिण भागकी कल्पना सहजमें की जा सकती है। दोनो हाथियोके बीच चतुर्भुजी लक्ष्मी विराजमान है। ऊपरके दाये बाये हाथोमे नालयुक्त कमल दृष्टिगोचर होते है। निम्न दक्षिण हाथकी वस्तु खडित है। बायें हाथमें कुम्भकलश है। लक्ष्मीके मस्तकपर साधारण मुकुट है। कर्णकुण्डल आवश्यकतासे अधिक बडे है। कलाकी दृष्टिसे यही कहना पडेगा कि यह अपरिपक्व शिल्पीकी कृति है। परिकरमें दीर्घकालीन अनुभवका आभास न होते हुए पर भी साधारण आकर्षक अवश्य है। लक्ष्मीके दोनो ओर हस्ती आलेखित है। दोनोकी कलशयुक्त शुडि ठीक महालक्ष्मीके मस्तकपर है। कलशोसे महालक्ष्मीका अभिषेक हो रहा है। दक्षिण हाथीका धड़ *सर्वथा खडित हो गया है। वाम भागके समान इस ओर भी* एक चँवरधारिणी रही होगी। वाम हाथी पूर्ण है। तदुपरि अकुश लिये महावत अवस्थित है। किनारेपर चँवरधारिणी खडी हुई है। ऊपरका भाग दो आकृतियोसे विभूषित है। दक्षिण भाग ऐसा ही रहा होगा। सूचित आकृतियोके मध्यमे अर्थात् दोनो हाथियोके ठीक ऊपर दो सिह उत्कीर्णित है। पीठपर बालक भी है। सिंहोका खुदाव सामान्यतः अच्छा ही है। सिंहोंके मुखमें कलाकारने दो ऐसी चीजें दी हैं जो एक दूसरेसे लिपट गई है।

गंगा[1]—प्राचीन मदिरोंके तोरणद्वारमें गगायमुनाकी खड़ी मूर्तियाँ **तिगवाँ, सिरपुर** और **बिलहरीमें** उपलब्ध होती है। बैठी मूर्ति यह एक ही मुझे

---

[1]**गंगाकी मूर्तियोंका उल्लेख "स्कंदपुराण"के काशीखंडके पूर्वार्द्ध अ० १८२के २७ श्लोकमें आता है,**

बिलहरीसे एक जैन सज्जन द्वारा प्राप्त हुई है। यह दशम शती बादकी कृति होनी चाहिए—इतः पूर्व यह रूप नही मिलता। इस मूर्तिका खुदाव बड़ा और कलापूर्ण है। कलाकारने मूर्तिके आसनके निम्न भागमे नदीका भाव सफलताके साथ अकित किया है। कमल-नाल और दो मकरोंका खुदाव भी सजीव-सा है। आगे एक कुम्भ है। गगा अष्टभुजी है, साड़ी पहने हुए है। इसका परिकर भी सामान्यत. अच्छा ही है, परन्तु खडित है। केशविन्यास विशुद्ध महाकोसलीय है। **मथुरा** और **लखनऊके** सग्रहाध्यक्षोसे ज्ञात हुआ कि ऐसी मूर्ति उनके पुरातत्त्व संग्रहमे नही है।

कल्याण-देवी—जिस प्रकार रोमन शिल्प स्थापत्यकी अपनी विशिष्ट मुखाकृति मान ली गई है और जिसने अब नृतत्त्व शास्त्रमे अपना स्थान पा लिया है, उसी प्रकार इस मूर्तिकी मुखाकृति उपर्युक्त शास्त्रकी दृष्टिसे विशुद्ध भारतीय बल्कि विशुद्ध महाकोसलीय दिख पड़ेगी। कहना चाहिए इस मूर्तिमे महाकोसलीय नारीसौन्दर्य कूट-कूटकर भरा है। क्या मुखमुद्रा, क्या आँखोका तनाव और अग-उपागोकी सुघडता। इन सभीमें मानो जीवन फूँक दिया है। ओठो और ठुड्डीकी रचनामें कलाकारने जीवन साधनाका जो परिचय दिया है वह अन्यत्र कम प्रतिमाओमे देखनेको मिलेगा। यह भी सपरिकर है। परिकरके निम्नभागमे सिह बना हुआ है। देवी चार भुजावाली है। हाथमें धनुषकी प्रत्यञ्चा है। निम्न भागमे बारहवी शतीकी लिपिमे **श्री कल्याणदेवी** खुदा है। प्रान्तीय नृतत्त्व शास्त्र एव उत्कृष्ट मूर्तिविधानकी दृष्टिसे मै इसे प्रथम मानता हूँ।

उपर्युक्त देवीमूर्तियोके अतिरिक्त योगिनियोकी मूर्तियाँ भेड़ाघाटके **गोलकीमठ**मे अवस्थित है। ये भी उत्कृष्ट मूर्तिकलाकी साक्षात मूर्ति है। महाकोसलके कलाकारोका गभीर चिन्तन एव सुललित अकनका परिचय एक-एक अगमे परिलक्षित होता है। **गढ़ामे** भी एक अत्यन्त सुन्दर सुकुमार मूर्तिकलाकी तारिका सम नारी मूर्ति (चतुर्भुजी) विद्यमान

है। इसे भी मै महाकोसलकी नारीमूर्तियोमे सर्वोत्कृष्ट मानता हूँ। बडे ही परितापपूर्वक सूचित करना पड रहा है कि इस मूर्तिकी सुरक्षाका कुछ भी समुचित प्रबन्ध नही है। मूर्ति है तो **तारादेवीकी** परन्तु विस्तृत तूर्णालकारके कारण जनता इसे **मालादेवी** कहकर पुकारती है। इस प्रकार **नरसिंहपुर, सागर, बिलहरी** तथा **पनागरमे** अत्यन्त उत्कृष्ट नारी-मूर्तियाँ, अपनेसे भिन्न स्वरूपमे मानी जाती है, इनमे जैनोकी **अम्बिका** तथा **चक्रेश्वरी** भी सम्मिलित है।

परिचारिकाएँ—यो तो परिचारिकाएँ वास्तुकलासे सम्बन्धित है। परिचारक एव परिचारिकाओकी मूर्तियाँ प्रधानत परिकरमे ही पाई जाती है, स्वतत्र बहुत कम, यदि स्वतत्र मिलती भी है तो उनका सम्बन्ध मदिरके मुख्य द्वारसे ही रहता है। मुझे कुछ परिचारिकाओकी स्वतत्र मूर्तिया प्राप्त हुई है, इसलिए मैंने इनका समावेश मूर्तिकलामे कर लिया, सम्भव है ये मदिरोके स्तम्भोसे ही, पूर्व कालमे सम्बद्ध रही होगी। कारण कि एक दूसरे पत्थरको जोडनेवाले चिह्न एव स्तम्भाकृतियाँ बनी हुई है। यो तो अन्वेषण करनेपर ऐसी दर्जनो कृतियाँ मिल सकती है। मुख्यत द्विभुजी परिचारिकाओके हाथोमे चॅवर या पुष्प-मालाय रहती है। कही-कही अजलिबद्ध मुद्राएँ भी देखी गई है किन्तु यह अपवाद है। स्तम्भोपर खुदी हुई नारीमूर्तियाँ कुछ ऐसी भी पाई गई है जिनमे भारतीय नारी-जीवनकी सासारिक वृत्तियाँ सफलतापूर्वक दृष्टिगोचर होती है। इनमेसे कुछेक तो इतनी सुन्दर एव भावपूर्ण है मानो वह स्थितिशील कविता ही हो। नारीजीवनमे भावोका क्या स्थान है, इसका उत्तर इस प्रकारकी मूर्तियाँ ही दे सकती है।

मेरे द्वारा सग्रहीत सामग्रीमे अधिकतर भाग खडित प्रतिमाओका है। परन्तु इन खडित नारी-मूर्तियोमे महाकोसलके नारी-जीवनके बहुतसे नारी-सुलभ व्यापक भावनाओका ज्वलन्त चित्रण पाया जाता है। तत्कालीन सामाजिक जीवन एव पारम्परिक लोकसस्कृति, नैतिकता आदि अनेक

सासारिक विषयोंका सम्यक् परिज्ञान इन्हीके तलस्पर्शी अनुशीलनपर निर्भर है। महाकोसलका सामाजिक इतिहास ऐसे ही टुकडोमे बिखरा हुआ है। सामाजिक चेतनाके परम प्रतीक सम इन अवशेषोमें कुछ प्रतिमाएँ नर्तकीकी भी हैं, जिनमे आंखोका तिरछापन एव अग-उपागोका मोड बडा ही सजीव बन पडा है। लोचन कटाक्षका एव Prospective Photographic Art के नमूने चित्तरजनके साथ उन शिल्पियोंके बहुमुखी ज्ञानकी ओर मन आकृष्ट कर लेते है। भारतीय केशविन्यासके विभिन्न रूपोका अनुभव महाकोसलकी कृतियोंसे ही हो सकता है।

लोकजीवन—शिल्पस्थापत्य कलाके प्रतीक तत्कालीन लोकजीवन-की उपेक्षा नही कर सके है—कर भी नही सकते, यहाँ तक कि लोकोत्तर साधनाके केन्द्रस्थान देवगृहोतकमे जो भाव उत्कीर्णित करवाये जाते थे, उनमें लौकिक जीवनका भी निर्देश अपेक्षित था। इसी कारण महाकोसलके प्राचीन स्थापत्यावशेषोके जो प्रतीक उपलब्ध हुए है, उनमे तत्कालीन जनताका आमोद-प्रमोद भी भलीभाँति व्यक्त हुआ है। मानव जीवनमे त्यौहारका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। पुरातन कालमे ऐसे अवसरोपर नरनारी एकत्र होकर समान भावसे नाच-गान द्वारा त्यौहार मनाते थे। ऐसे शिल्प मेरे सग्रहमे है। जो मुझे बिलहरीके जैनमदिरके निकटसे प्राप्त हुए थे। इनमें मृदग, बाँसुरी, भेरी और झाँझ आदि वाद्योका अकन है। कुछ-एकमें बाल-सुलभ चेष्टाएँ एव किसीमें विवाहोपरान्तके दृश्य उकेरे हुए पाये जाते हैं। इस प्रकार की शिल्प कृतियोको भाव शिल्प कह सकते है। कारण कि इनमे परिस्थिति जन्य सभी रसोका बहाव देखा जाता है। पुरुष और नारीके शृगारका उत्कृष्ट रूप मदिरकी चौखटोमें परिलक्षित होता है।

नारीके समान महाकोसलके पुरुष भी केश रचनाके बडे प्रेमी मालूम पडते हैं, क्योंकि कुछ ऐसे अवशेष मिले हैं, जिनमे पुरुषोका केश विन्यास

बहुत ही सुन्दर रूपसे गुथा हुआ पाया गया है, साथमें नारी-सुलभ आभूषण भी। यदि मूछें और स्मश्रुके चिह्न न होते तो पुरुष एवं नारीका भेद करना कठिन हो जाता। यों तो शंकरका जटाजूट विख्यात है। परन्तु यहाँकी कुछ शैव मूर्तियोंमें शंकरजीका केश-विन्यास भी नारीके समान दृष्टिगोचर होता है। स्त्री और पुरुषोंकी सामूहिक नृत्य पद्धतिके कारण ही महाकोशलके कतिपय पुरुषोने इस प्रकारका रूप अपनाया हो तो असंभव नही, कारण कि आदिम छत्तिसगढ़ी एवं बिहारके जगलोमे बसनेवाले कोल, मुण्डा एवं सन्थाल जातिके पुरुषोंको मैने स्वयं नारीवत् केशविन्यासके एवं आभूषण पहने देखा है, ये नचैये कहे जाते हैं।

मूर्तिकलामें व्यवहृत आभूषण एव वस्त्र तथा परिकर सामयिक अलंकरण सामाजिक इतिहासकी अच्छी सामग्री प्रस्तुत करते है। सम-सामयिक साहित्यके प्रकाशमे यदि इन कलात्मक अवशेषोंको देखा जाय तो उपर्युक्त पंक्तियोंकी सार्थकताका अनुभव हो सकता है।

उपसंहार--

उपर्युक्त पक्तियोसे सिद्ध होता है कि हिन्दू धर्माश्रित मूर्तिकलाके विकासमे महाकोसलका उल्लेखनीय योग रहा है। वर्णित समस्त अवशेष कलचुरिकालीन ही है, क्योंकि सभीपर कलिचुरियुगीन मूर्ति-कला एव तदाश्रित उपकरणोंकी स्पष्ट छाप परिलक्षित होती है। वे शैव होनेके बावजूद भी परमत-सहिष्णु थे। कलचुरिकालीन प्रतिभासपन्न कलाकारोंकी इन वृत्तियोके अध्ययनकी ओर न जाने आजतक विद्वानोंने क्यों ध्यान नहीं दिया। भारतीय शिल्पकला एवं मूर्तिकलासे स्नेह रखनेवाले गवेषक विद्वानोंसे मेरा विनम्र निवेदन है कि वे एक बार इस प्रान्तमें आकर अनुभव करें। निःसंदेह उनको अपने विषयकी प्रचुर सामग्री प्राप्त होगी। वे प्रसन्न होंगे। जो छात्र एम० ए० करनेके बाद आचार्यत्व—डाक्टरेट—के लिए विषय खोजते फिरते हैं उनसे भी मेरा अनुरोध है कि यदि वे खडहरोंपर अपना

अन्वेषण प्रारम्भ करें तो उन्हें कई महानिबंधकी सामग्री प्राप्त हो जायगी, और इस उपाधि-लोभके बहाने देशकी सांस्कृतिक सम्पत्तिका भी संरक्षण हो जायगा। दुर्भाग्यकी बात है कि स्वतन्त्र भारतकी प्रान्तीय सरकारका ध्यान इन कलात्मक प्रतीकोंकी ओर बिल्कुल आकर्षित न हो सका।

जबलपुर,
२६ सितंबर १९५१

महाकोसल

की

कला-कृतियाँ

चार पगड़ियाँ

महाकोसलका प्रतिभासंपन्न कलाकार जितनी सजगतासे धर्ममूलक कृतियों-का सृजन करता था उतनी ही दक्षतासे तत्कालीन जन-जीवनको भी अपने कुशल करो द्वारा प्रस्तरोंपर उत्कीर्णित करनेकी क्षमता रखता था। ऐसे सैकडो अवशेष महाकोसलके खडहर और जगलोंमे गिरी हुई दशामे पडे है। उनकी ओर आज देखनेवाला कोई नही है। जिस समय इनका निर्माण हुआ था, उस कालमे ये ही जनजीवन-उन्नयनके प्रतीक रहे होंगे। भारतीय समाज व्यवस्था और लौकिक जीवनके भौतिक, क्रमिक विकासपर ऐसे ही अवशेष पर्याप्त प्रकाश डाल सकते है। वेशभूषा और आभूषणोसे हमारी कालमूलक समस्याएँ सुलझ जाती है। पारस्परिक कलात्मक प्रभावका परिज्ञान वेशभूषाके तलस्पर्शी अध्ययनपर निर्भर है। हम यहाँपर इस विषयपर अधिक विवेचन न कर इन पक्तियोका प्रभाव, महाकोसलीय शिल्पमे पायी गयी पगड़ियोपर कहाँतक पड़ा है, एव इनके क्रमिक विकासकी रेखाएँ शिल्प कृतियोमे कहाँतक पायी जाती हे, उनपर सस्कृति विशेषका असर कहाँतक है आदि कुछ मौलिक प्रश्नोपर ही विचार करना अभीष्ट हे। मूल विषयपर आनेके पूर्व हम इन पगडियोको समझ लें तो अधिक अच्छा होगा।

पहली पगड़ी

हम सर्वप्रथम उस **'बस्ट'**को लेगे जो सापेक्षतः व्यक्तिके पूर्ण व्यक्तित्व का आभास दे सकता है। यह बस्ट अनुभवमे पके हुए वयोवृद्ध योद्धाका ही होना चाहिए। गर्दन तथा मस्तकके पास झुर्रियाँ एवं चक्षुकी मुद्रा योद्धाकी वृद्धावस्थाकी परिचायक है। वक्षस्थल तथा शिरोभागपर, शत्रुकी तलवार से अपनी रक्षा करनेके लिए सुदृढ़ देहत्राण एवं शिरस्त्राण लगाये गये है।

लौह पिंजरकी रेखायें स्पष्ट है। दाढ़ीका जमाव शुद्ध हिन्दू शैलीका है—जैसा बुन्देले वीरोंकी जुझार-मूर्तियोंमे मिलता है। मूछोंकी तरेरमें भी शौर्यकी झाकी मिलती है। संपूर्ण मुखमुद्रामें अकड और अटेंशनके भाव परिलक्षित है। प्रश्न है कि यह सामान्य योद्धा है या सेनाका कोई अधिकारी। इसका निर्णय तो एकाएक करना कठिन है। इसमें तत्कालीन विचारधारा ही हमारी साक्षी हो सकती है। उन दिनों साधारण सैनिकका स्मारक या प्रतिमा बनती हो, ऐसे मतकी कल्पना नही की जा सकती। अत. संभवतः कोई उच्च पदाधिकारी होना चाहिए। इसे शासक भी माननेको मन करता है, परन्तु उसमें प्रमुख आपत्ति यह आती है कि उपयुक्त पद-सूचक उदाहरणोंका अभाव है।

प्राचीन कालमे प्रमुख वीरोंके स्मारक कही कही पाये जाते है। यह 'बस्ट' भी उसीका परिणाम है। रही होगी तो कोई मूर्ति ही, पर खण्डित होते-होते 'बस्ट'के रूपमे शेष रह गयी है। न जाने पूर्वकालमे इसने कहाँकी समाधिको सुशोभित किया होगा। इस भू-भागपर भी वीरोंकी समाधियाँ काफ़ी प्राप्त होती हैं। सर्व साधारण जनता नगरके बाहर भागमे पाये जानेवाले वीरोंके स्मारकोंकी अर्चना आज बड़े भक्ति-भावसे करती है। यह भी विस्तृत वीर पूजाका एक प्रतीक ही है। 'बस्ट'मे ध्यान आकर्षित करनेवाली वस्तु 'पगड़ी' है। मालूम पडता है कि विशुद्ध बुन्देलखडी पगडी है, परन्तु नागकी सीधमे ब्रह्मनागके दो समान भागोंमे विभक्त होती है। विभाजनकी रेखापर ५॥ सले लबे रूपमे पडी हुई हैं। इन सलोंके दक्षिण वाम पगड़ीकी ओर आठ आठ सले है, जो सब आधा-आधा इच मोटी है। सले गोल है। सैंड-स्टोन का यह बस्ट है। प्रस्तरको घिसते देर नही लगती, इसपर कार्य करना भी बड़ा कठिन कार्य है। दीर्घकालीन साधनाके बाद ही सभव है। इसे देखनेके बाद ये शब्द मुहसे निकलते है—"अफ़सोस, यह पूर्ण नही है। अकेला 'बस्ट' महाकोसलीय शिरस्त्राण और देहत्राणके परिचयके साथ योद्धाके वीरत्वका ज्ञान कराता है।

दूसरी पगड़ी

अवशिष्ट तीन पगडियाँ 'बस्ट' मे नही है केवल गर्दनमात्र है। उपर्युक्त 'बस्ट'से भिन्न इस गर्दनमे शौर्यका अभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, दाढी ठीक ऊपर जैसी ही रही होगी, जैसा कि खण्डित भागोंसे ज्ञात होता है। जुल्फ़ें विद्यमान हैं। मूछोंकी तरेर अवश्य प्रभावोत्पादक है, पर उनमें वीरोचित गुणोकी छाया नही है, केवल औपचारिक शृगार है। व्यक्ति अभिजात वर्गका प्रतीत होता है। इसकी पगडी यद्यपि बैठी हुई है, परन्तु पगड़ियोंके क्रमिक विकासकी दृष्टिसे अध्ययनकी वस्तु उपस्थित करती है। मुकुट और पगडीके बीचकी शृंखलाका उत्तम प्रतीक है। यह पगडी मस्तकसे तीन इच ऊची गयी है। पगडीकी लपेटनोमे कानोंके ऊपरसे प्रारभ होकर एक गोरखधधासा बन गया है जैसा कि चित्र सख्या २ से स्पष्ट है। इसमें लपेटनोकी टेढ़ी-मेढ़ी रेखाये ऐसी है कि छोरका पता ही नही चलता। पगडीके नीचे कुल्सा भी पहना जान पडता है, मस्तकके बीचो-बीचसे पगडी दो खडोमे विभक्त है—विभाजन स्थलपर स्त्रियोके स्वर्ण बिन्देके आभरण जैसी एक तीन फलवाली शिरा लटक रही है —जो कमसे कम राजपूत तो नही रख सकता, क्योंकि उसकी विशेषता तो कलंगीको ऊची रखनेमें ही है। पगड़ी दो भागोमे विभक्त है तथापि तीन लपेटे बाये और तीन दायें घूमकर लुप्त हो गये हैं। लपेटोंकी मुटाई ३।४ इंच है। काल-परिचायिका पगड़ीका विशेष महत्त्व है।

तीसरी पगड़ी

तीसरी गर्दनमें भी केवल पगड़ी ही विद्यमान है जो बुन्देलखंडी ढंगकी है। यद्यपि इसका विधान दोनोंसे कुछ भिन्न है तथापि मौलिक अतर नहीं है। दाढ़ी इसमे भी है। दोनो ओठ बन्द हैं जिससे व्यक्तिका गाभीर्य परिलक्षित होता है। ठोड़ीमें स्वाभाविक कोमलता है। नासिका मूछोंके ऊपरवाले भागको स्पर्श करती है जिससे उसकी चिन्तनावस्थाका बोध

होता है। साथ ही साथ अधिकार और उत्तरदायित्व सफल-अभिव्यक्त होता है। मुखमुद्रा शालीनताका आभास कराती है। इतने व्यक्तित्वमें पगड़ी तो बेचारी गौण हो जाती है। विशाल ललाटपर कुण्ण लगा है। जिस-पर लगभग पाँच इंच ऊँची पगड़ी है। यह उपर्युक्त दोनों पगड़ियोंसे कुछ भिन्न है। मस्तकके मध्य भागसे कुछ विभिन्न होती है, जिसके फलस्वरूप २॥ इच मस्तकका भाग खाली ही पड़ा रहता है। दो भागोंमे दो लपेटे ही दृष्टिगोचर होती है और इस तरह चारो लपेटोपरसे उपर्युक्त २॥ इच रिक्त मस्तकके ऊपरी कोनेसे एक लपेट सारे सिरके चारो ओर जाती है। इस एक लपेटमे ही मुगल प्रभाव परिलक्षित होता है यद्यपि मुगलोंमे तीन-से भी अधिक लपेटे दृष्टिगोचर होती है। रूपान्तरसे यह एक समर्थक पा सकता है।

चौथी पगड़ी

चौथी पगड़ीकी गर्दन भी दुर्भाग्यसे पूर्ण प्राप्त नहीं हुई। इसमें चक्षु और पगड़ी ही आकर्षणकी वस्तु है। आँखे इस प्रकार निकली हुई है मानों कोई अतीव वृद्ध पुरुष हो। मस्तकपर त्रिपुण्डका चिह्न भी उत्कीर्णित है जो हिन्दुत्वका परिचायक है। मस्तकपर जो पगड़ी है, उसके तीन खड है। यह तीन इच ऊची है। लपेटनमे सुघड़ाई चतुराई और 'फैशन' है। तीनों भागोकी लपेटनोका जमाव कलात्मक नज़र आता है। मध्यभागमें मस्तकके बिलकुल ऊपर चार कगूरे से है, इन सब बारीकियोको देखकर ऐसा लगता है कि जिस युगमें इस प्रस्तरका निर्माण हुआ होगा उस समय पगड़ी धारण करनेकी शैली पर्याप्त विकसित और कलात्मकताके कई रूप पा चुकी होगी। पगड़ीका ढाचा शुद्ध बुन्देलखडी है पर महाराष्ट्रीय प्रभावसे प्रभावित है।

इस तरह हम देखेगे कि इन पगड़ियोके ढगमें ऐतिहासिक एवं सामाजिक बनाव सिंगार तथा सास्कृतिक रहन-सहनकी सामग्री विद्यमान है।

प्रासगिक रूपसे कह देना उचित जान पड़ता है कि इन पगड़ियोका निर्माण काल क्रमश. सोलहवी, सत्रहवी और अठारहवी शती है। सख्या १—२ सोलहवी, ३ सत्रहवी और ४ अठारहवी है। ये सभी पगड़ियाँ हमे त्रिपुरी (तेवर) के उन स्थानोसे प्राप्त हुई है जहाँ लोग शौच जाया करते है।

अब हम पगड़ियोकी शैलीके पूर्व रूपोपर भी साधारण दृष्टिपात कर ले।

पगड़ियोंका मूल स्रोत

भारतीय देव-देवियोके मस्तकपर मुकुट आवश्यक माना गया है। प्रत्युत वह पूजनका एक अग भी है। राजाके मस्तकपर राज्य-चिह्नके रूपमे मुकुटको प्राधान्य मिला है। यह प्रथा प्राचीन है। कुछ परिवर्तनके साथ विदेशमे भी इसका समादर है। परिवर्तन प्रियता मानवको एक रूपमे नही रहने देती। समयका प्रभाव सभी पर पड़ता है और वह साहित्य एव कलाके विभिन्न उपकरणो द्वारा जाना जा सकता है। कलावशेष ही तत्कालीन समाज और संस्कृतिके ज्वलन्त प्रतीक है। उनमें इनका प्रति-बिम्ब परिलक्षित होता है। उपर्युक्त पंक्तियोका प्रभाव हमारी उन पग-डियोपर कहाँतक पड़ा है? उनका मूल रूप कैसा था या किस पूर्व रूपका विकास पगड़ियाँ है? आदि बातोपर लिखना भी अनिवार्य है।

यद्यपि भारतवर्षकी पगडियोपर पर्याप्त लिखा जा चुका है, अत. यहाँपर विशेष विवेचन अपेक्षित नही है, परन्तु बुन्देलखड एवं महाकोसलके कला-वशेषोमे व्यवहृत पगडियाँ यहीके पुरातन शिल्प-स्थापत्य एव मूर्तियोमें उत्कीर्णित मुकुटोका विकसित परिवर्तित रूप जान पड़ती है और उसपर शैव सस्कृत्याश्रित शिल्पकलाका प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित है। क्योकि जनजीवनमे शैव प्रभाव था, अत. कलात्मक प्रतीकोपर भी वही प्रभाव है, चाहे अवशेष जैन हो या बौद्ध।

शिवजीके जटाजूटका अकन दोनो प्रदेशोके प्राय सभी कलोपकरणोमे हुआ है। हमें तो केवल मुकुटका ही उल्लेख उचित जान पडता है। जिसका सबध पगडियोसे है।

इसी ग्रन्थमे अन्यत्र अवलोकितेश्वरका चित्र प्रकाशित है, उसके मुकुटकी रचना-शैलीपर शिवजीके जटाजूटका खूब प्रभाव है। दोनो ओर अर्ध गोलाकार ३-३ रेखाओवाली ३-३ लडे है। इसीको मुकुटका रूप दे दिया है। मालूम पडता है जटापर गगाकी धारा प्रवाहित हो रही है। इस शैलीके एकमुखी या चौमुखी शिवलिंग भी बहुतायतसे पाये गये है। ऐसी कृतिया १२ वी शतीतककी मिली है। इस प्रकारकी रेखाओमे १२ वी शतीके बाद परिवर्तन होने लगा अर्थात् दोनो ओर की रेखाओके ऊपर भी एक गोलाकार रेखा मडने लगी जो आजू-बाजूकी अर्ध-गोलाकार रेखाओको कडीके समान पकडे हुए था। ऐसे तीनसे अधिक मस्तक हमारे सग्रहमे है। कुछ ऐसे भी मुकुट है, जिनकी रेखाओमस जलबूदे टपकती रहती है ये गगावतरणका आभास देती है। इसी समयका एक मस्तक ऐसा भी है, जिसपर रेखाये बहुत ही टेढी मेढी है। छोरका पता नही। यह सब शैव प्रभाव है। इसी प्रकार क्रमश मुकुटोकी सृजन शैलीमे परिवर्तन होने लगा। वह परिवर्तन १४ वी शतीके अवशेषोमे पगडियोके रूपमें बदल गया, जैसा कि सख्या २ वाले चित्रसे स्पष्ट है। यद्यपि इनमे सामयिक मौलिकता है, परन्तु प्राचीन शिल्प-कृतियोका अनुसरण स्पष्ट है। मुकुटमे मध्य भाग साधारण रहता था और दोनो ओरकी रेखाये सुन्दर रहा करती थी, पर बादमे जब पगडियोके रूपमे परिवर्तन हुआ तब मध्य भाग काफी ऊँचा उठा दिया गया और उसे कसनेके लिए २–२ रेखाये दोनो ओर उडने लगी जैसा कि 'बस्ट' सख्या १ मे देख सकते है। अत मुकुटोके मूलमे ही पगडियोका आदि स्रोत है। मुगलोंके बाद पगडियोमे काफी परिवर्तन हुआ। परन्तु बुन्देलखण्ड और महाकोसलकी पगडियाँ हिन्दू शैलीका रूप है। बल्कि वह सस्कृतिजन्य धार्मिक परम्पराका विस्तृत प्रतीक है। यद्यपि यह हमारी कल्पना है, पर

इसके समर्थनमें हमारे पास काफ़ी प्रमाण है। महाकोसल और बुन्देलखंड भले ही आजकी विभाजित सीमाके कारण पृथक् प्रान्त हों पर जिन दिनों कलात्मक आदान-प्रदान किया जा रहा था उन दिनों सीमा-रेखायें कलात्मक दृष्टिसे उतनी विभक्त न थी।

जबलपुर
३ जुलाई १९५१

श्रमण-संस्कृति

और

सौन्दर्य

श्रमण-संस्कृतिका साध्य मोक्ष रहा है, अतः उसकी बाह्य प्रवृत्तियाँ भी निवृत्तिमूलक ही होती हैं। श्रमण संस्कृतिकी आयु बड़ी है, इतिहासकी सीमासे परे है। मानवताका इतिहास ही इसका इतिहास है। यह संस्कृति वर्ग विशेषकी न होकर प्राणिमात्रके प्रति समान भाव रखती है। यही उसका परम धर्म है। मानवकी स्वार्थ-प्रसूत भावनाओंको इसमें स्थान नहीं है, स्वयं व्यक्ति ही अपने लिए उत्तरदायी है। उनके उत्थान-पतनमें कोई साधक-बाधक नहीं है। श्रमण-संस्कृतिका क्षेत्र मानव जगत् तक ही सीमित नहीं है, प्राणिमात्रकी भलाई इसमें सन्निहित है। सत्य और सुन्दर द्वारा शिवत्वकी ओर प्रेरित करती है। तात्पर्य कि अन्तर्मुखी चित्तवृत्तिकी ओर ही इसका झुकाव है। वह चिरस्थायी जगत्की ओर ही आकृष्ट हो सकती है। उसका दृष्टि बिन्दु अन्तर जगत् है, बाह्य प्रवृत्तियाँ भी अन्तर्मुखी ही होती हैं। श्रमण, विशुद्ध आध्यात्मिक संस्कृतिके प्रोत्साहक होते हुए भी, समाज-मूलक प्रवृत्तियोंकी उपेक्षा नहीं करते थे, हाँ, व्यक्तित्वके विकासका जहाँतक प्रश्न है वह अवश्य कहता है—सर्वथा एकांगी जीवन ही श्रेयस्कर हो सकता है। आत्माकी शक्ति जब पूर्ण विकसित होगी, तब वह स्वकल्याणके साथ-साथ समाजका भी व्यवस्थित गठन कर कर्तव्य मार्गकी ओर उत्प्रेरित करेगा।

श्रमण-संस्कृति अपनी स्थिति बनाये रखनेके लिए आचारको महत्त्व देती हुई सक्रिय सम्यक् ज्ञानको उद्देश्य सिद्धिका मुख्य कारण मानती है। व्यक्तिका अन्तर्मुखी एवं व्यवस्थित जीवन ही सामाजिक शान्तिका कारण है, कृत्रिम उपाय चिरशान्ति स्थापित नहीं कर सकते। अहिंसा और अपरिग्रह ही विश्वशान्तिके जनक हैं। इसीके अभावके कारण विश्वमें अशान्ति-का खुलेआम नग्न नृत्य हो रहा है। अशान्तिकी ज्वालामें वे राष्ट्र जल रहे हैं, जो सभ्यताको अपनी बपौती सम्पत्ति माने हुए हैं। अप्राकृतिक शान्ति स्वरूप राष्ट्रसंघ-जैसी संस्थाओंका जन्म हुआ, जो लिप्सा और स्वार्थ परा-

यणताके कारण भौतिक शान्ति स्थापनमें भी असफल साबित हो रही है। राजनीति अस्थायी तत्त्व है। इसके द्वारा स्थायी शान्तिकी कल्पना करनेमें तनिक भी बुद्धिमानी नही है। बाह्य साधन आंशिक रूपमें परिस्थितिवश, भले ही शान्ति स्थापित कर सकें, पर वह टिकाऊ न होगी। श्रमण-संस्कृतिके मौलिक तत्त्व ही विश्व-अशान्तिकी ज्वालाको नष्टकर मानव-मानवमे ही नही अपितु प्राणिमात्रके प्रति समभावकी भावना बढा सकते है। श्रमण-संस्कृति क्रान्तिकारी परिवर्त्तनोमे शुरूसे विश्वास करती आई है—बशर्ते कि वह अहिंसामूलक हो।

श्रमण-सस्कृति आध्यात्मिक सौन्दर्यमे निष्ठा रखती है। तदुन्मुखी आन्तरिक सौन्दर्यको बाहय उपादानों द्वारा मूर्त्तरूप देनेमें भी सचेष्ट रही है। भौतिक जीवनको ही अतिम साध्य माननेवाले एकांगी कलाकारोने इस आन्तरिक सौन्दर्यके तत्त्वको आत्मसात् किये बिना ही घोषित कर डाला कि "श्रमण-सस्कृतिका एकान्त पारलौकिक चिन्तन ऐहलौकिक जीवनका सबंध-विच्छेद कर देता है, अर्थात् कला द्वारा सौन्दर्य-बोधकी ओर वह उदासीन है। वह मानती है—सभी द्रव्य स्वतन्त्र है। एक दूसरेको प्रभावित नही कर सकता तो फिर पार्थिव आवश्यकतामे जन्म लेनेवाली कला और उसके द्वारा प्राप्य सौन्दर्य बोधकी परम्परा इसमें कैसे पनप सकती है?" इस प्रकारकी विचारधारा भिन्न-भिन्न शब्दोंमे प्रायः व्यक्त होती रहती है; परन्तु मैं सोचता हूँ तो ऐसा लगता है कि उपर्युक्त विचारोंकी पृष्ठ-भूमि ज्ञानशून्य व अचिन्तनात्मक है। न मूल वस्तुके विविध स्वरूपोंको समझनेकी चेष्टा ही नजर आती है, न ऐसे विचारवालोंके पास कलाका माप-दण्ड ही है। ये केवल दूषित और साम्प्रदायिक प्रकाशमें ही श्रमण-संस्कृतिके अन्तः एवं बाहय रूपको देखते हैं। उपर्युक्त विचारोंको लक्ष्यमें रखते हुए श्रमण-संस्कृतिके बाहय रूपमें जो कलातत्त्व एवं सौंदर्य बोध परिलक्षित होते हैं उनपर विचार करना अभीष्ट है एवं श्रमण-संस्कृति द्वारा गृहीत कलात्मक उपादानोंकी ओर भी संकेत करना है। यद्यपि मेरा लक्ष्य केवल भौतिक

प्रकाशमें ही आध्यात्मिकताको देखनेका नही है, पर जहाँतक सौन्दर्य एवं रसबोधका प्रश्न है, इसे उपेक्षित भी नही रखा जा सकता।

श्रमण-संस्कृतिके इतिहास और साहित्यानुशीलनसे ज्ञात होता है कि इसके कलाकार अदृश्य जगत्की साधनामे अनुरक्त रहनेके बावजूद भी दृश्य जगत्के प्रति पूर्णत उदासीन नही है। उनका प्रकृतिप्रेम विख्यात है अत: द्रव्यान्तर्गत प्राकृतिक सौन्दर्यकी ओर औदासीन्य भाव रह ही कैसे सकते हैं। सफल कलाकारोने केवल आन्तरिक चेतनाको उद्बुद्ध करनेवाले विचारोंकी सृष्टि की, न केवल अन्त सौंदर्यको मूर्तिरूप ही दिया अपितु एतद्विषयक तत्कालीन सौदर्य-परम्पराके सिद्धातोंका गुम्फनकर मानव समाजको ऐसी सुलझी हुई दृष्टि दी कि किसी भी पार्थिव वस्तुमे वह सौदर्य बोध कर सके और उन्होने सौंदर्यके बाह्य उपादानोसे प्रेरणा लेनेकी अपेक्षा अन्त सौदर्यको उद्दीपित कर तदनुकूल दृष्टिविकासपर अधिक जोर दिया। बाह्य सौदर्याश्रित जीवन स्वावलम्बी न होकर पूर्णत· परावलम्बी होता है, जब अन्त सौदर्याश्रित जीवन न केवल स्वावलम्बी ही होता है बल्कि भावी चिन्तकोंके लिए अन्तर्मुखी सौन्दर्यदर्शनकी सुदृढ परम्पराका सूत्रपात भी करता है। सौदर्य आत्मामे है, जो शाश्वत है। यही सौदर्य शिवत्वका उद्बोधक है। कहना न होगा कि कला ही आत्माका प्रकाश है। इसकी ज्योतिसे चाचल्यभाव स्वत नष्ट होकर शिवत्वकी प्राप्ति होती है।

भारतीय कलाके इतिहाससे स्पष्ट है कि कलाने धर्मकी प्रतिष्ठामे महत्त्वपूर्ण योग दिया है। कला मानवोन्नायिका है, जिसमे मानवता है, अपूर्णता मानवको पूर्णताकी ओर सकेत करती है। वर्गसॉने ठीक ही कहा है कि हमारे पुरुषकी कर्मचचल शक्तियोको सुला देना ही कलाका लक्ष्य है (To put to sleep the active powers of our personality) यह स्थिति आत्मानन्दकी है। यथा—

विश्रांतिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

कला क्या है ?

कला शब्दका व्यवहार आजकल इतना व्यापक हो गया है कि असुन्दर वस्तु एवं अकृत्योके साथ भी जुड गया है। कविताकी भांति कलाको भी व्याख्याके द्वारा सीमित नही किया जा सकता, क्योंकि सौन्दर्य और कलाका क्षेत्र असीम है। ऐसी कोई वस्तु नही जिसमे कला और सौन्दर्यका बोध न होता हो। कोई भी वस्तु न सुन्दर है और न असुन्दर ही। दोनों भाव-निरीक्षककी रसानुभूतिपर अवलम्बित हैं। प्रत्येक व्यक्तिका दृष्टि-कोण अपना होता है। जो वस्तु एककी दृष्टिसे सुन्दर है वही दूसरेकी दृष्टिमें निन्द्य हो सकती है। श्रमण-सस्कृतिने कला और सौन्दर्यके दार्शनिक सिद्धातोंको अनेकान्तवादके प्रकाशमे देखा है, जो वस्तुमात्रको विभिन्न दृष्टिकोणोसे देखनेकी शक्ति और शिक्षा देता है। कलाके जितने भेद-प्रभेद है, उन सभीका समन्वय अनेकान्तवादमे सन्निहित है।

उपकरणाश्रित सौदर्य क्षणिक है, आत्मस्थ स्थायी। ऐसी स्थितिमें सहज ही प्रश्न उठता है कि आखिरमे कला कहते किसे है? निश्चित परिभाषाके अभावमे भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि अन्तरके रस-पूर्ण अमूर्त्त भावोको बाह्य उपादान द्वारा मूर्त्त रूप देना ही कला है, मानव हृदयकी सूक्ष्म रसानुभूतिकी सतान ही कला है, सत्यकी अभिव्यक्ति ही कला है। इससे भी अधिक व्यापक अर्थमे कहा जाय तो जिसके द्वारा सौदर्य-का अनुभव तथा प्रकाश किया जा सके, वही कला है, जो हमारे हृदयकी कोमल तन्त्रियोको झकृत कर सके वही कला है। इन शब्दावलियोसे सिद्ध है कि पार्थिव-आवश्यकताओके भीतर ही कलाका जन्म होता है अर्थात् पुद्-गल द्रव्यमे ही कलाका बोध हो सकता है क्योंकि वही मूर्त्त है। कला सौन्दर्यकी अपेक्षा करती है। **औस्कर वाइल्ड**ने कहा है कि **जिसके साथ हमारे प्रयोजन-गत कोई संबंध नहीं है वही सुन्दर है**। कला सौन्दर्य-रसका कन्द है।

सौंदर्य और कला भिन्न होते हुए भी दोनोमे परस्पर इतनी निकटता

है कि उसे भिन्न नही किया जा सकता, कलामे ही सौंदर्य बोध होता है और सौदर्य कलामें व्याप्त रहता है । किसी भी वस्तुको कला और सौंदर्यसे सँजोकर नयन-प्रिय बनाया जा सकता है, परन्तु यहाँ यह न भूलना चाहिए कि आनन्दसे सौदर्यका सबध है । सौदर्यबोध यद्यपि इन्द्रियजन्य होता है परन्तु इद्रिय द्वारा ग्राहृय सौदर्य क्षणिक होता है । सौंदर्य वस्तुतः हृदयमें रहता है । रसानुभूति द्वारा ही वस्तुको देखा जाता है । श्रमण संस्कृति इद्रिय-संभूत आनन्दको सौदर्यका कारण नही मानती । इद्रियाँ नाशवान् है और सौदर्य अतीन्द्रिय । अतः शिवत्वकी प्राप्तिके लिए सौंदर्य ही पर्याप्त नही, कारण कि सौदर्यसे ज्ञान नही मिलता, केवल सतोष ही मिलता है । सौदर्यकी यह स्थिति तो इद्रियजन्य ही रही । 'सत्य' से ही ज्ञानप्राप्ति होती है । 'सुन्दर' से सन्तोष । श्रमण-सस्कृतिका सतोष निवृत्तिमूलक है । इसका यह अर्थ नही कि बाहृय सौदर्य द्वारा शिवत्वकी प्राप्ति सभव है जैसा कि पहले लिख चुका हूँ कि सत्यके द्वारा ही शिवत्वका मार्ग पकड़ा जाता है । जहाँतक तथ्योका प्रश्न है सौदर्य भी उपेक्षणीय नही ।

जिस मनुष्यके हृदयमे जितनी भी रसानुभूतिकी पूर्णता होगी, उसे उतना ही सौदर्य-बोध होगा, क्योकि अभिनवगुप्तने काव्यशक्तिकी तरह रसज्ञताको भी एक दैवी वरदान माना है । इससे स्पष्ट है कि कलामे सबको समान भावसे सौदर्य बोध नही होता । जिसमे अनुभूति होगी वही इसका मर्मज्ञान कर सकेगा । इसीलिए कला सर्वसाधारणकी वस्तु नही बन सकती, कलामे स्वभावत. कल्पना-बाहुल्य है । कलाका सबध मनसे न होकर हृदयसे है । वही सौदर्यानुभूतिका शाश्वत स्थान है । कला हृदयकी वस्तु होनेके बावजूद भी उसके चिन्त्य अनेक हैं । यही चित्य वस्तु तत्त्वके सत्य और मिथ्याके भेदोका रहस्योद्घाटन करते है । कल तथ्यतक पहुँचा सकती है; सत्य तक नहीं । श्रमणोंने कलामे सत्यकी प्रतिष्ठा की । वे कलामें तथ्य नही खोजते । सत्यकी गवेषणा करते है । तथ्य वस्तुमें होता है, सत्य प्राणमें ।

आनन्द

विश्वकवि **रवीन्द्रनाथ ठाकुरने** ठीक ही कहा है—

"जहाँ हमें सत्यकी उपलब्धि होती है, वहाँ हमें आनन्दकी प्राप्ति होती है। जहाँ हमें सत्यकी संपूर्णतया प्राप्ति नहीं होती वहाँ आनन्दका अनुभव नहीं होता।"

"साहित्य" पृष्ठ ५३।

सत्याश्रित आनन्द ही स्वाभाविक होता है। पार्थिव आनन्द क्षणिक होता है। आत्मानन्द अमर है। इसी ओर श्रमण-सस्कृतिका सकेत है। इसकी प्राप्तिके लिए दीर्घकालीन साधना अपेक्षित है। श्रमण-जैन-मूर्तियोका जीवन इस साधनाका प्रतीक है। इतिहास और परम्परासे भी यही प्रतीत होता है। आत्मस्थ सौदर्य और आनन्दकी प्राप्ति सर्व साधारणके लिए सुगम नही। नि.सकोचभावसे मुझे स्वीकार करना चाहिए कि सत्य और सच्चे सौदर्यकी अखड परम्परा ही श्रमण सस्कृतिकी आधारशिला है। इसीलिए तदाश्रित कलामे निरपेक्ष आनन्दकी अनुभूति होती है। वह आनन्द न तो कल्पनामूलक है और न वैयक्तिक ही। **अरस्तूने** कहा है **"जिस आनन्दसे समाजको उपकार न पहुँचे वह उच्चादर्शका आनन्द नहीं।" काण्ट, हेगेल** आदि जर्मन दार्शनिकोने कलासम्भूत आनन्दको निरपेक्ष आनन्द कहा है। इन पक्तियोसे ध्वनित होता है कि कलात्मक उपकरणोसे उच्चकोटिका आनन्द उसी अवस्थामे प्राप्त किया जा सकता है, जब जीवन सत्यके सिद्धातोसे ओतप्रोत हो, वाणी और वर्तनमे सामजस्य हो। अतर्मुखी चित्तवृत्तिके समुचित विकासपर ही अत्युच्च आनन्दकी प्राप्ति अवलबित है। भारतीय दर्शन भी इसीका समर्थन करते है। भारतीय चित्र, शिल्प और काव्य भी ऐसे ही सत्याश्रित आनन्दसे भरे पड़े है। मानव समाजके सम्मुख भारतीय मुनियोने सामयिक परिस्थित्यनुसार उपयुक्त विचारोको रखा है। नैतिकताकी परम्पराका और सामाजिक परिवर्तनोका इतिहास इन पक्तियोकी सार्थकता सिद्ध कर रहा है।

जहाँ आनन्दका प्रश्न है वहाँ रस भी उपेक्षणीय नहीं। मानव जातिके उत्थान-पतनमें रसका स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। परिस्थितिका सृजन बहुत कुछ अंशोंमे रसपर ही अवलंबित है। इसके द्वारा अनुभूति होती है। यह सुखात्मिका है या दुःखात्मिका, यह जटिल प्रश्न है। प्राचीन और सापेक्षत. अर्वाचीन समालोचकोंमें एतद्विषयक मतद्वैध है। उनकी चर्चा यहाँ प्रासंगिक नही जान पडती।

श्रमण-सस्कृति मानती है कि ससारकी कोई भी वस्तु एकान्त नित्य नही है न अनित्य। इसी प्रकार यहाँ कहना पडेगा कि विश्वकी कोई भी वस्तु न तो सुरूप है और न कुरूप ही। प्रत्येक वस्तुमे रस है, सौदर्य है और आनन्द देनेकी शक्ति है। तात्पर्य, जगत्के प्रत्येक पदार्थमे रस उत्पन्न करनेकी क्षमता है। भिन्न पदार्थोंमे आनन्ददायक योग्यता भी है। परन्तु सर्वसाधारण जनताके लिए सभव नही कि वह लाभान्वित हो सके। एतदर्थ तदनुकूल रसवृत्ति आवश्यक है। प्रकृति और सौदर्यके महत्त्वपूर्ण सिद्धातोसे अपरिचित हृदयहीन सामान्य वस्तुमें आनन्दानुभव कैसे कर सकता है? वह किसी सुन्दर कृतिको या वस्तुको देखकर क्षण भर प्रसन्न हो सकता है, पर मार्मिकतासे वंचित रह जाता है, वस्तुके अन्तस्तल तक पहुँचनेके लिए एक विशेष दृष्टिकी अपेक्षा है। बहुतोने अपने जीवनमे अनुभव किया होगा कि कभी-कभी कलाकारकी दृष्टि जनताकी दृष्टिमे सुन्दर जँचनेवाली चीजपर बिलकुल नही ठहरती और तद्द्वारा उपेक्षित कलाकृतिपर आकृष्ट हो जाती है—वह तल्लीन हो जाता है अपने आपको खो बैठता है। इससे स्पष्ट है, सुन्दर असुन्दर व्यक्तिके दृष्टिकोण-रसवृत्तिपर निर्भर है। बहुतसे कलाकारोमें मैंने स्वयम् देखा है कि वे घटोतक आकाशमे बिखरनेवाले बादलोंकी ओर झाँकते रहते हैं। सरोवर और समुद्रमे उठनेवाली लहरोके अवलोकनमें ही अपने आपको विस्मृत कर देते हैं, वनमे प्रकृतिकी गोदमे अपूर्व आनन्दका अनुभव करते है। मै स्वय किसी प्राचीन खडहरमें जाता हूँ तो मुझे वहांके एक-एक कणमें आनन्दरसकी धारा बहती दीखती है और उस समय मेरी

मानसिक विचार-धाराका वेग इतना बढ जाता है कि उसे लिपि द्वारा नहीं बाँधा जा सकता। खडित प्रतिमाका अग घटोंतक दृष्टिको हटने ही नही देता। उत्तर स्पष्ट है।

सौदर्य और आनन्दकी अनुभूति वैयक्तिक ताटस्थ्यपर अवलबित है। किसी संग्रहालयमे जानेपर, सुन्दर कृति देखते ही नेत्र उसपर चिपक-से जाते है, तब स्वाभाविक आनन्द आता है। यदि द्रष्टाके मनमे उस समय उसपर अधिकार करनेकी भावना जग उठे तो वह आनन्द तुरन्त विषादके रूपमें बदल जायगा। भौतिक दृष्टिसे देखा जाय तो स्वभिन्न वस्तुमे ही आनन्द आता है। अधिकारकी भावना, न केवल अनधिकार चेष्टा ही है, पर उससे रस भी भग हो जाता है। श्रमण-सस्कृतिने पार्थिव आनन्दको विशेष महत्त्व नही दिया। वह तो निमित्त मात्र है, वह भी आत्मिक विकासकी अमुक सीमातक। सच्चा आनन्द तो आत्मा मे है। उसपर लगे हुए परदे ज्यो-ज्यो हटते जायगे त्यो-त्यो अपूर्व आनन्दका बोध होता जायगा। यह आनन्द निर्विकल्प है। योगी लोग इसका अनुभव करते है। सविकल्प द्रव्याश्रित-आनन्द रस-वृत्तिका निर्माण अवश्य करता है, परन्तु साधनको साध्य मानकर उलझ जाना उचित नही। वर्तमान श्रमण-सस्कृतिके अनुयायी साध्यकी ओर पूर्णत उदासीन है, साधनोंकी प्रभामे ही चौधिया गये हैं। अवास्तविकतासे बचनेमे सपूर्ण शक्तिका व्यय करना तो उचित ही है, पर इससे वास्तविकताको भूलनेमे औचित्य नही है।

विश्वमे जितने प्रकारके आनन्द दृष्टिगत हुए, उनको समालोचकोने आत्मानन्द, रसानन्द और विषयानन्दमे समावेश कर लिया। सर्वोच्च स्थान आत्मानन्द-ब्रह्मानन्दका है। इसीके द्वारा अन्य आनन्दोंकी अनुभूति होती है। **एतस्यैव आनन्दस्य अन्य आनन्दा मात्रामुपजीवन्ति।** विषयानन्द लौकिक और रसानन्द अलौकिक है। आत्मानन्द वर्णनातीत है क्योकि इसका माध्यम दूसरा है। अपार्थिव सौदर्यकी अनुभूति इसीके द्वारा ही होती है। इसका पूर्णतया परिपाक इसीमे सन्निहित है। श्रमण-सस्कृतिका आकर्षण इसी ओर रहा है।

संस्कृतके समालोचकोंने पर्याप्त विवादके बाद आनन्दको ही परमरस—**आनन्दः परमो रसः** मान लिया है। पंडितराज **जगन्नाथने** अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **'रसगंगाधर'** में इसका सूक्ष्म गंभीर एवं मार्मिक विवेचन किया है। यहाँ मुझे इतना स्पष्ट कर देना चाहिए कि प्राकृतिक सौंदर्यजनित आनन्द कलाजनित आनन्दसे भिन्न कोटिका होता है। यह भिन्नत्व अनुभवगम्य है, विश्लेषणका विषय नहीं।

ललित कला, शिल्प, चित्र, नृत्य, काव्य और संगीतादि कलाओंका एकमात्र उद्देश्य है रस-सृष्टि। प्राकृतिक वस्तुके गंभीर निरीक्षणसे कलाकारके मनमें अनुभूतिका उदय होता है और भावोत्पत्ति भी। भावनाके साथ कल्पनाका सम्मिश्रण कर कलाकार सौंदर्य सृष्टि करनेको प्रवृत्त होता है, उसके कृतकार्य होनेपर द्रष्टाके हृदयमें आनन्द उत्पन्न होता है। यही रस-सृष्टि है। संपूर्ण भारतवर्षमें इस सृष्टिके बहुसंख्यक प्रतीक उपलब्ध हैं। **विश्वकविने** कहा है **"मनुष्य अपने काव्योंमें, चित्रोंमें, शिल्पमें सौंदर्य प्रकाशित कर रहा है।**[1]**"** इस पंक्तिसे स्पष्ट है कि भाव—जो आनन्दका जनक है—के व्यक्तिकरणके कई माध्यम हैं—भाषा, तूलिका और छैनी। उपादानोंमें भी बाहुल्य है। मौलिक एकतामें पारस्परिक पर्याप्त साम्य है। मैं शिल्पी, कवि और चित्रकारका भिन्न-भिन्न उल्लेख उचित नहीं समझता। कलाकार शब्द इतना व्यापक है कि इसमें सभी भावप्रधान जीवन-यापन करनेवालोंका अन्तर्भाव हो जाता है। भावजगत्के प्राणियोंका मानसिक धरातल कितना उच्च और परिष्कृत होता होगा, यह तो विभिन्न कृतियोंके तलस्पर्शी निरीक्षणसे ही जान सकते हैं। कलाकारका युगके प्रति महान् दायित्व है। पर अद्यतन राजनीतिके युगमें कलाकारोंकी जो उपेक्षा हो रही है, वह श्रेयस्कर नहीं है। राजनीतिज्ञका जीवन अस्थिर है जब कलाकारका जीवन अविचल है, सार्वकालिक है, सत्याश्रित है।

---

[1]**साहित्य, पृष्ठ ५३,**

इस प्रसगपर एक बातको स्पष्ट कर देना उचित जान पड़ता है कि अभीतक हमने भारतीय आदर्श और परम्पराकी सीमाका ध्यान रखते हुए इसका विवेचन किया है, पर आजके प्रगतिशील युगमे सीमोल्लघन अनिवार्य-सा हो गया है। कारण कि जिन दिनो उपर्युक्त मतोकी सृष्टि हुई उन दिनोका सामाजिक वातावरण और राजनैतिक परिस्थितियाँ तथा सोचनेका दृष्टिकोण आजसे भिन्न थे, अत आजके युगानुसार उनका विश्लेषण नितान्त वांछनीय है। आज परिस्थितियाँ बदल चुकी है। समाजका ढाँचा परिवर्तित हो गया है और जनताकी वैचारिक स्थितिमे, सापेक्षत काफी परिवर्त्तन हो गया है; अतः सामयिक समस्यानुसार स्थायी वस्तुका मूल्याकन अपेक्षित है। परिवर्त्तनप्रिय राष्ट्र ही आत्म-सम्मानकी रक्षा कर सकता है। एक समय था जब भारतीय सस्कृतिका आधार साम्राज्यवाद था, पर आज जनताका राज्य है। प्रजातन्त्रका सक्रिय समर्थन करनेवाली संस्कृति ही आजकी उपयोगिताको समझकर, नवजीवनका सचार कर सकती है।

प्रसगत कहना होगा कि कला प्रयोगात्मक है और सौदर्य स्वाभाविक। उपर्युक्त पक्तियोसे स्पष्ट है कलामे कल्पनाबाहुल्य है। कल्पना मानसिक चित्रोकी परम्परा है। कलाकारकी कल्पनामे मानसिक चित्रोको सुव्यवस्थित करनेकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है, कल्पनाका उद्देश्य केवल सौन्दर्य-सृजन ही है। अत. वह सोद्देश्य है। इससे कोई यह मत न बना ले कि जो कल्पना-प्रसूत है वही सुन्दर है। क्योकि शिल्पीकी कल्पनामे यदि दौर्बल्य होगा तो वह विपथगामी भी बन सकता है। ऐसा देखा भी गया है। बहुसख्यक ऐसे कलाकार भी मिल सकते है, जो समाज या किसीके द्वारा समादृत नही हुए। इसमे कलाको दोष नही दिया जा सकता। कलाकारकी कल्पना भी सप्रमाण और पूर्णत्वको लिये हुए होनी चाहिए। इसीलिए तो कलाके समीक्षकोने **सुनियन्त्रित कल्पनाओंकी सन्तानको कला कहा है।**

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कलाकार आत्मस्थ भावोको, आनन्दोन्मत्त होकर पार्थिव उपादानो द्वारा व्यक्त करता है, यहाँपर यह भी

न भूलना चाहिए कि कलाकारका आनन्द सामान्य आनन्दसे सर्वथा भिन्न होता है ? यद्यपि कलाकार प्रफुल्लित सौन्दर्यकी अनुभूतिको व्यक्त करनेका प्रयास करता है, परन्तु कलामे पूर्णतया प्रकृतिका अनुकरण सभव नही, कारण कि दोनोकी कायाओंके उपादानोंमे पर्याप्त भिन्नत्व है। कलाओके रूप रसोद्दीपन कर सकते है, पर प्रकृतिको साकार नही। कलाकारकी प्रकृति व्याप्त-सौदर्यकी रूपदानकी चेष्टा है। वह भाव-जगत्का प्राणी है—जिसका क्षेत्र असीम है। अतएव वह उसे ससीम कैसे कर सकता है ? उसके बूतेके बाहरकी बात है। फिर भी कलाका रूप रसोद्दीपन तो करता ही है। हमे यहाँ इतना भी अभीष्ट है। श्रमण-सस्कृतिने इसीलिए इस रूपदानको भी महत्त्वका स्थान दिया है। रसके द्वारा आत्मस्थ सौदर्यको उद्बुद्ध करनेका इसमे स्पष्ट प्रयास है। पर वह रस आत्मपरक है जैन शिल्पकलाका उद्देश्य यहाँ पर स्पष्ट हो जाता है। परम वीतराग परमात्माकी समुचित आकृतिको तो कलाकार खडी कर ही नही सकता पर फिर भी प्रतीकसे उसकी महानता का बोध तो हो ही जाता है। उनकी मुखमुद्रासे सौम्य भावोकी कल्पना हो आती है। शरीर-विन्यास और भावभगिमापर कौन मुग्ध न होगा। श्रमण-सस्कृत्याश्रित कलाके सभी विभागोपर यह सिद्धात पूर्णतया चरितार्थ हो जाता है। श्रमणोने इसी सिद्धातके द्वारा सौदर्य उपासना दिल खोलकर की, पर इस उपादानाश्रित सौदर्यपरम्पराको उन्होने साधन माना, न कि साध्य। पर समाज इस बातको भूल चुका, फलत इतना सकीर्ण हो गया कि वह कला तककी उपेक्षा करने लगा।

सौंदर्य

पूर्व पक्तियोमे कहा गया है कि कला सौंदर्यकी अपेक्षा रखती है। कलाके सिद्धातको आत्मसात् करनेके पूर्व सौदर्यको समझना नितान्त आवश्यक है। कलाके समान इसे भी वर्णमालाके अक्षरोमें सीमित रखना कठिन ही नही बल्कि असभव है। फिर भी लोगोने इसे बाँधनेकी जितनी

भी चेष्टाएँ की है उनमेसे कुछेक यहाँ दी जाती है—"अध्यात्मकी झाँकी" "परमकी अपार्थिवताका पार्थिव संसारमें अपरम द्वारा विस्तार" "मर्त्य-संसारकी अमर विभूति", "निस्सीमका ससीम रूप" "नाना रूपात्मक जगत्में अन्तरात्माकी जगमगाहट" आदि आदि। जिनके सोचनेका तरीका बिलकुल वैज्ञानिक है वे आगे बढकर कहते है—"बाहरी पदार्थोकी जो छाया आभ्यतरके दर्पणमे पडा करती है उसीके सहारे कालान्तरमे सौदर्य भगवान्की सृष्टि होती है और उसका मापदण्ड बनता है, और उसीसे उनकी रक्षा और निर्वाह होता है"। और भी व्याख्याएँ हो सकती है परन्तु व्याख्याबाहुल्य ही तो उसकी यथार्थतामे चार चाँद नही लगाती। सौन्दर्य शब्दाश्रित न होकर भावाश्रित है। निम्न वाक्योपर ध्यानाकृष्ट करनेका लोभ सवरण नही कर सकता :—

"उक्ति वैचित्र्य अथवा काव्यमय उद्गारके बलपर चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है और भाव-जगत् अस्त-व्यस्त और क्षुब्ध भी हो सकता है पर तथ्यनिरूपण, वैज्ञानिक समीक्षा और सहेतुक व्याख्या, विचारोका ऊहापोह और सिद्धात निरूपण द्वारा सत्य-प्रतिष्ठा नही हो सकती[1]।"

निस्सदेह असीमित सत्यको कोई सीमित कैसे कर सकता है। सौदर्यकी प्रत्यक्ष अनुभूति आनन्द रस और सुखके रूपमे होती है। "सौदर्य ज्ञानेन्द्रियोकी समवेत देन है" क्योकि वे ही तो अनुभूतिका माध्यम है।

गीर्वाणगिराके प्रमुख कवि श्री माघने सौदर्यका उल्लेख यो किया है।

"पदे पदे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" रमणीयताका रूप-सौंदर्य वही है जो क्षण प्रतिक्षण नूतन आकार धारण करता हो। कविके उपर्युक्त कथनका समर्थन आग्ल कवि **कीट्स** इस प्रकार करता है—

"A thing of beauty is a joy for ever. Its loveliness increases it will never pass into nothingness."

हिन्दीकी इन पक्तियोको भी सौदर्य समर्थनके लिए रख सकते हैं—

---

[1] हिमालय १२ पृष्ठ १९,

"ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निखरे सी निकाई।

o o o o

जनम अवधि रूप निहार लूँ
नयन न तिरिपत भेल।
लाख-लाख जुगहियें-हिये राख लूँ,
तबहुँ जुड़न न गेल ॥ —(विद्यापति)

ऊपरवाली पक्तिमे कितनी मार्मिकता है।

असाधारण कलाकृतिको देखकर स्वभावत. हृदयमें भावोदय होता है, वही सौदर्य है। इसका ज्ञान श्रवण और चक्षु इन्द्रियोंसे होता है जो मानसिक उल्लास है वही सौदर्य है। **रवीन्द्रनाथने कहा है—**

"अतएव केवल आँखोंमे द्वारा नहीं—अपितु यदि उसके पीछे मनकी दृष्टि मिली हुई न हो तो सौंदर्यको यथार्थ रूपसे नहीं देखा जा सकता।"[1]

सौन्दर्य सार्वजनिक प्रीति है। एक ही कृतिके सौन्दर्य-दर्शक हजारो हो सकते है, पर उनका नाश-क्षय[2] नही होता। सामूहिक दर्शनके कारण ही इसे सार्वजनिक प्रीति कहा है।

सौदर्योपासकोकी सख्या आज अधिक है पर वे पार्थिव सौदर्यके प्रेमी है, सौदर्यकी गभीरतासे वे दूर है। विषयजनित उपासनासे पतन होता है। सौदर्य प्रीति स्वार्थ रहित होती है। किसी सुन्दरीके सौदर्यपर मुग्ध होकर उसके विषयमे पुन पुनः चिन्तन करते रहना स्वार्थमूलक भावनाका रूप है। वह राग शरीरजन्य सौदर्यमूलक है। पारमार्थिक वृत्ति या गुणका उसमे अभाव है। सौदर्यका उपासक सयम और नियममें आबद्ध होता है।

---

[1] "साहित्य"—पृष्ठ ४२

[2] **सौंदर्य वहाँ दृष्टिगोचर होता है जहाँ हमारी किसी आवश्यकताकी पूर्ति होती है। परन्तु एकमात्र आवश्यकताकी पूर्ति ही सौंदर्य नहीं होता, जब आवश्यकताकी पूर्तिके साथ हमारे हृदयको परम प्रसन्नता होती है तो यह प्रसन्नता आवश्यकतासे अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी द्योतक होती है। आवश्यकताकी समाप्तिके बाद भी जो वस्तु अवशिष्ट रह जाती है वही सौन्दर्य है।**

महाकविने अपने '**सौंदर्यबोध**' नामक अनुभवपूर्ण निबन्धमे बार-बार यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि—

"सौंदर्यका पूर्ण मात्रामें भोग करनेके लिए संयमकी आवश्यकता है।" "अन्ततः सौंदर्य मनुष्यको संयमकी ओर ले जाता है।" "सुखार्थी संयतो भवेत्"—अर्थात् यदि इच्छाकी चरितार्थता चाहते हो तो इच्छाको संयममें रखो। यदि तुम सौंदर्यका उपभोग करना चाहते हो तो भोग लालसाको वमन करके शुद्ध और शान्त हो जाओ।" सौदर्यबोधके लिए चित्तवृत्तिका स्थैर्य अपेक्षित है : साथ-ही-साथ सयम और नियम भी जीवनमे ओत-प्रोत होने चाहिए। यो भी बिना सयम और नियमका मानव पशु-तुल्य है, जब इतने गहन विषयकी उपासना करना है तब तो जीवन विशेषतः विशुद्ध होना चाहिए। सौदर्यसृष्टि असयत कल्पना द्वारा सभव नही। स्वार्थप्रेरित भावना मानवको वास्तवके मार्गसे गिरा देती है।

श्रमण-संस्कृतिमें सयम-नियम अत्यन्त आवश्यक है। इन्हीपर मानव जातिका विकास आधृत है। श्रमणोने अपने जीवनका रूप ही वैसा रखा है इसलिये कि पद-पदपर उन्हे सौदर्य बोध होता है। तद्द्वारा प्राप्त आनन्दको वे जनतामे प्रसारित कर सच्चे सौदर्यके निकट पहुँचाते है। श्रमण-सस्कृति द्वारा किये पिछले सभी प्रयत्न इसके गवाह है। परम वीतराग परमात्माने जीवनकी कठोरतम साधना द्वारा आत्मस्थ सौदर्यका दर्शन किया था। इस अनुभूत परम्पराके सिद्धातोपर चलनेवाली श्रमण-सस्कृतिने आजतक आशिक रूपसे इस अनुभूतिको सँभाल रखा है। परन्तु दुर्भाग्यकी बात है कि आजका अनुयायीवर्ग इस परम्पराको तेजीके साथ विस्मृत कर रहा है। न तो सौदर्य भावनाको जागृत करनेकी चेष्टा रह गई है और न वैसा कोई प्रयत्न ही दृष्टिगत होता है। कलाविहीन जीवन किसी भी अपेक्षा श्रेयस्कर नही। व्यापार-प्रधान जीवन, मानव मानवके प्रति रहनेवाली स्वाभाविक सहानुभूतिको भुला देता है। वह व्यक्ति, व्यक्ति होकर जीवित रहता है। समाज नही बन सकता। स्वार्थकी प्रबलता उसे अन्ततः पशु बनाकर छोडती है।

आयागपट्टक, मथुरा पृ० २०।

भगवान् बुद्ध, पृ० ३०३।

अवलोकितेश्वर। पृ० ३०१

मथुराके कंकाली टीलेका जैन अवशेष ।

लोहानीपुर (पटना) से प्राप्त पुरातन जिन प्रतिमा।

पृ० १३
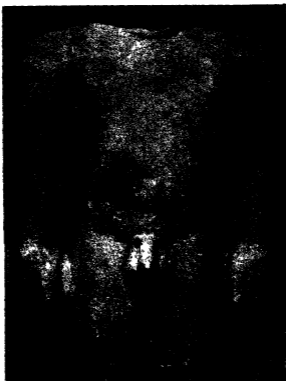
लोहानीपुर (पटना) से प्राप्त प्राचीन जिन-प्रतिमा।

पृ० १३
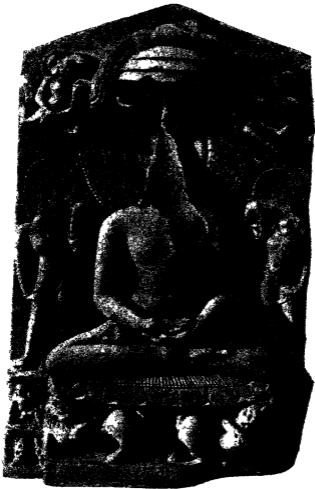
कोशाम्बीसे प्राप्त गुप्तकालीन जैन-प्रतिमा। पृ० २०५

भगवान् ऋषभदेवकी कलापूर्ण प्रतिमा।
मूर्ति-विधान वैविध्यका उत्तम प्रतीक, राजगृह। पृ० २७

भगवान् पार्श्वनाथ

यह मूर्ति राजगृहके तृतीय पर्वत पर प्रतिष्ठित है।
इसकी तुलना गुप्तकालीन मूर्तियोंसे की जा सकती है।

पृ० २७

जसोसे प्राप्त जैमूर्तिका मस्तक, प्रयाग संग्रहालय।

जयपुरीय जैनकलाका प्रतीक।
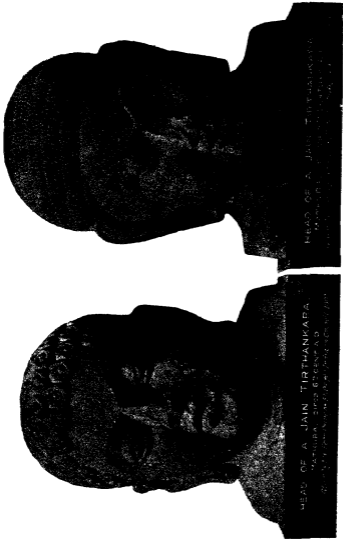
जिन-प्रतिमाओंके दो कलापूर्ण मस्तक !
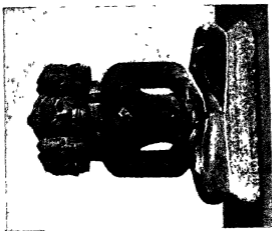
सर्वतोभद्र जिन-प्रतिमा।

योगिनी-प्रतिमा, भेड़ाघाट। पृ० ३२५

राजगृहस्थित अम्बिका। पृ० २२५
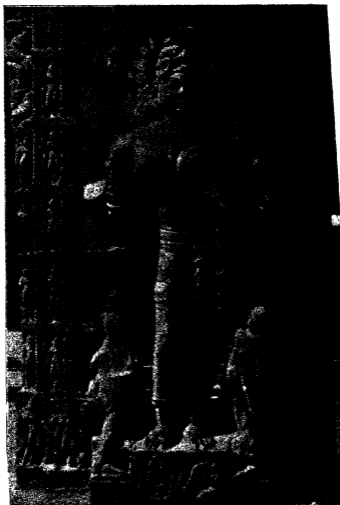
२४ शासनदेवी सहित अम्बिका-प्रतिमा, प्रयाग-संग्रहालय। पृ० २१८

यक्ष-यक्षिणी सहित भगवान नमिनाथ।
प्रयाग-संग्रहालय।

पृ० २२१

१० वीं शताब्दीकी उत्तम कलाकृति
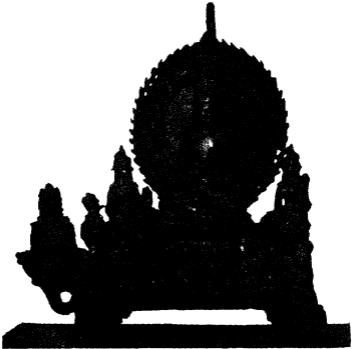
नवग्रह-सहित, भगवान् युगादिदेवकी धातु-प्रतिमा।
यह लेखकको सिरपुरसे प्राप्त हुई थी।

पृ० १५२
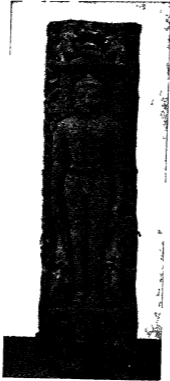
बिलहरीकी एक उपेक्षित वापिकासे
प्राप्त जिन-प्रतिमा।

पृ० १६९

नवग्रहयुक्त अभूतपूर्व जिनप्रतिमा।

पृ० १८०
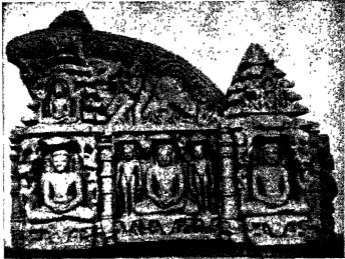
जिन-मन्दिरके तोरण-द्वारका बायाँ अंश त्रिपुरी।
पृ० १७१

बिलहरीसे प्राप्त जैनमन्दिरके-प्रवेश द्वारका ऊपरी भाग।
पृ० १७३
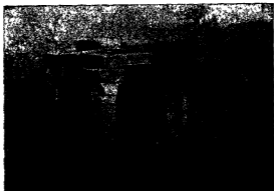
कर्णवेलका भग्नावशेष
पृ० ३२१

बायीं मूर्ति यक्षदम्पति समेत भगवान् नेमिनाथकी है। दाहिनी मूर्ति अपूर्ण है।
पृ० १७७

चतुर्विंशतिका पट्टक, प्रयाग-संग्रहालय ।

पृ० २०६
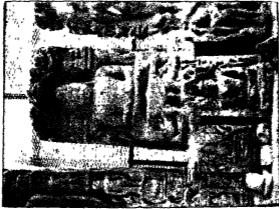
प्रयाग-संग्रहालयमें जिनमूर्ति-समूह ।

पृ० २१२

श्रीपुर-सिरपुर (म० प्र०) से प्राप्त तारादेवीकी धातु-प्रतिमा।
यह महाकोसलकी सर्वश्रेष्ठ मूर्ति है। पृ० २६३

दशावतारी विष्णु । पृ० ३६६

श्री कल्याण देवी । पृ० ३८२

शिव-पार्वती, भेड़ाघाट । पृ० ३२३

छत्रीमें विष्णु त्रिपुरी ।
पृ० ३२०

मदनमहल जबलपुर
पृ० ३२१